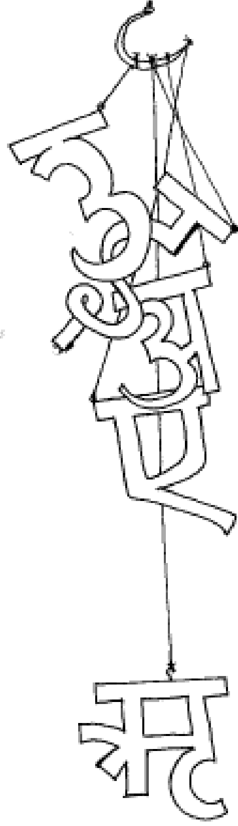


भारतीय ज्ञानपीठ

संस्थापक

श्रीमती रमा जैन

श्री साहू शान्तिप्रसाद जैन



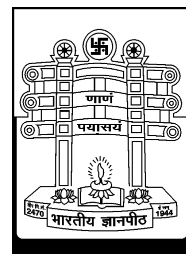
सम्पादक

रवीन्द्र कालिया

नया ज्ञानोदय

भारतीय ज्ञानपीठ की मासिक साहित्यिक पत्रिका

अंक 107, जनवरी 2012



नया ज्ञानोदय

आधुनिक भावबोध, कला संचेतना और नवीनता की प्रतिनिधि मासिक पत्रिका
अंक 107, जनवरी 2012

तरतीब

आवरण चित्र : राधेश्याम अग्रवाल, भीतरी रेखांकन : कुमार अनुपम, कैरिकेचर्स : निर्मिश ठाकर, साज-सज्जा : ज्ञानपीठ कला प्रभाग

नया ज्ञानोदय

साहित्यिक मासिक पत्रिका

अंक 107, जनवरी 2012

प्रबन्ध सम्पादक

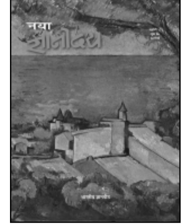
साहू अखिलेश जैन

प्रबन्ध न्यासी, भारतीय ज्ञानपीठ

प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ

18, इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, पोस्ट बॉक्स नं. 3113
नई दिल्ली-110 003
फोन : 011-2462 6467, 2465 4196, 2469 8417, 2465 6201
फैक्स : 011-2465 4197;
ई-मेल : nayagyanoday@gmail.com / jnanpith@satyam.net.in
वेबसाइट : www.jnanpith.net

Nayā Gyānodaya
A Literary Monthly Magazine
Editor : Ravindra Kalia
Language : Hindi
Published by Bharatiya Jnanpith
18, Institutional Area, Lodi Road, New Delhi-110 003



नया ज्ञानोदय अब इंटरनेट पर : www.jnanpith.net

सम्पादक : रवीन्द्र कालिया

मूल्य :
एक अंक 30 रुपये

व्यक्तियों के लिए :
वार्षिक : 300 रुपये / त्रैवार्षिक : 800 रुपये
पंचवार्षिक : 1200 रुपये / आजीवन : 5000 रुपये

संस्थाओं के लिए :
वार्षिक : 350 रुपये / त्रैवार्षिक : 1000 रुपये
पंचवार्षिक : 1650 रुपये / आजीवन : 5000 रुपये

विदेशों के लिए :
हवाई डाक : एक अंक 6 डॉलर / वार्षिक 60 डॉलर
जल मार्ग : एक अंक 4 डॉलर / वार्षिक 30 डॉलर
शुल्क 'नया ज्ञानोदय, भारतीय ज्ञानपीठ'
(Naya Gyanoday, Bharatiya Jnanpith) के नाम से उपर्युक्त पते पर भेजें।
(केवल मनीआर्डर / चेक / बैंक ड्राफ्ट से)
(दिल्ली से बाहर के चेक में 35 रुपये अधिक जोड़ें)

दस्तख़त

ऊपर से देखने पर सज़्पादक का काम बहुत आसान लगता है, परन्तु जब रचनाओं के चुनाव का प्रश्न उठता है तो उसमें कई चीज़ें जुड़ जाती हैं। एक ही समय में एक ही विषय पर कई पत्रिकाएँ प्रकाशित होती हैं, परन्तु प्रत्येक पत्रिका का तेवर अलग होता है। प्रत्येक सज़्पादक की प्राथमिकताएँ भिन्न होती हैं। इस की वजह होती है प्रत्येक पत्रिका के पीछे सज़्पादक का व्यज़्तित्व। वास्तव में यह सज़्पादकीय व्यज़्तित्व ही पत्रिका के स्वरूप का निर्धारण करता है। लोकप्रिय पत्रिकाओं से साहित्यिक पत्रिकाएँ एकदम अलग व्यज़्तित्व रखती हैं। न केवल अपने कलेवर में, बल्कि रचनाओं के चुनाव में भी। पत्रिका लोकप्रिय हो अथवा साहित्यिक, उसे अन्ततः अपने पाठकों की पसन्द-नापसन्द का ध्यान रखना ही पड़ता है। साहित्यिक अभिरुचि की पत्रिकाओं का भी अपना-अपना पाठक वर्ग होता है। उनके पाठक भी सज़्पादक से कुछ अपेक्षाएँ रखते हैं। देखा गया है कि यदि पाठकों को अपनी रुचि के अनुकूल सामग्री नहीं मिलती तो उनमें व्यापक प्रतिक्रिया होती है।

देखा गया है कि कालान्तर में प्रत्येक सज़्पादक अपनी ही लीक पीटने लगता है। कुछ सज़्पादक अपने पाठकों की रुचि को देखते हुए अपने लिए एक रास्ता चुन लेते हैं। अपने समय के सुविज़्यात सज़्पादक भैरव प्रसाद गुप्त कहा करते थे कि उनकी पत्रिका के पाठकों ने ही उन्हें सज़्पादन के गुर सिखाये हैं, जैसे कि 'कहानी' पत्रिका के लिए आदर्श स्थिति यह है कि दो-एक कहानियाँ प्रसिद्ध लेखकों की होनी चाहिए, दो-एक उर्दू की, दो भारतीय भाषाओं के प्रसिद्ध लेखकों की तथा शेष नये रचनाकारों की। साथ में दो एक समसामयिक विषयों पर विचारोज़ेजक लेख। लेकिन कई बार समय का ऐसा तकाज़ा होता है कि सज़्पादक को अपनी राह बदलनी पड़ती है। भैरवजी ने सन् 1956 में 'कहानी' का एक विशेषांक निकाल कर हिन्दी कहानी की दिशा ही बदल दी और हिन्दी कहानी में एक नये युग का सूत्रपात हो गया। उस दौर की लिखी कहानियों के आधार पर ही 'नयी कहानी' आन्दोलन की शुरुआत हुई। कहानी के उस विशेषांक में पहली बार एक सशज़्त कथा पीढ़ी सामने आयी, जिसमें प्रमुख थे: अमरकान्त, कमलेश्वर, मोहन राकेश, मार्कण्डेय, राजेन्द्र यादव, रामकुमार, भीष्म सहानी, कृष्णा सोबती के अलावा और भी उस दौर के अनेक प्रमुख कथाकार। इन कथाकारों की

कहानियों की अनुगूँज पचपन साल बाद आज भी सुनाई देती है।

अब 'नया ज्ञानोदय' की बात। 'नया ज्ञानोदय' ने पिछले वर्षों में जितने भी विशेषांक प्रकाशित किये, वे सब पाठकों में अत्यन्त लोकप्रिय हुए। 'युवा पीढ़ी' विशेषांक में प्रकाशित 'नया ज्ञानोदय' की प्रेम कथा विशेषांक की लोकप्रियता का अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि वर्ष भर के भीतर उसे आठ बार पुनर्मुद्रित करना पड़ा और अभी तक उसकी माँग बनी हुई है। अब आपके हाथों में 'बेस्ट ऑव ज्ञानोदय' का उपहार। जैसा कि शुरू में उल्लेख किया गया है कि एक साधारण अंक का चुनाव करने में भी बहुत-सी कठिनाइयाँ आती हैं, आप अन्दाज़ा लगा सकते हैं, इस वृहद्काय विशेषांक के लिए रचनाओं का चुनाव करने में कितनी मशक़्क़त करनी पड़ी होगी। इन रचनाओं का चुनाव करना किसी एक अकेले के बस की बात नहीं थी, ज्ञानोदय की पूरी सज़्पादकीय टीम ने बहुत श्रम और धैर्य से काम किया। हमारी कोशिश यही थी कि रचनाओं के चुनावों में किसी प्रकार का पूर्वग्रह न आये और वस्तुपरक दृष्टि से रचनाओं का चयन किया जाए। इस विशालकाय पाँच सौ पृष्ठीय विशेषांक में शताधिक रचनाएँ चुनकर संग्रहीत की गयी हैं। प्रमुख लेखकों में निर्मल वर्मा, कुँवर नारायण, अमरकान्त, दूधनाथ सिंह, गुलज़ार, चित्रा मुद्गल, केदारनाथ सिंह, कृष्णबलदेव वैद, ममता कालिया, नरेश सज़्सेना, मंगलेश डबराल, अरुण कमल, स्वदेश दीपक, अखिलेश, ओमप्रकाश वाल्मीकि, कुमार अज़्बुज, बद्रीनारायण, मनोज रूपड़ा, पंकज मित्र, चन्दन पांडेय, कुणाल सिंह, मनोजकुमार पांडेय,राकेश मिश्र, पवन करण, पंकज चतुर्वेदी, सुन्दरचन्द ठाकुर आदि हैं।

'नया ज्ञानोदय' के वार्षिक ग्राहक यदि यह दुर्लभ विशेषांक को प्राप्त करना चाहें तो केवल 150 रुपये सप्ताह भर के भीतर भेजें। पाठकों की भारी माँग को देखते हुए 'उपहार अंक' खत्म हो जाएगा। देश के प्रमुख पत्रिका विक्रेताओं के यहाँ यह अंक उपलज़्ध है।



जगजीत सिंह : एक पोर्टरेट और एक मर्सिया

गुलज़ार

पोर्टरेट

एक बौछार था वो...
एक बौछार था वो शख़्स,
बिना बरसे किसी अब्र की सहमी-सी नमी से
जो भिगो देता था...
एक बौछार ही था वो, जो कभी धूप की अफ़शाँ भर के
दूर तक, सुनते हुए चेहरों पे छिड़क देता था
नीम तारीक़-से हाल में आँखें चमक उठती थीं

सिर हिलाता कभी झूम के टहनी की तरह,
लगता था झोंका हवा का था कोई छेड़ गया है
गुनगुनाता था तो खुलते हुए बादल की तरह
मुस्कराहट में कई तरबों की झनकार छुपी थी

गली क़सिम से चली एक ग़ज़ल की झनकार था वो
एक आवाज़ की बौछार था वो...!

मर्सिया

जाने कैसी सर्दी आके बैठ गयी थी,
जम गयी थी उसके सीने में,
ग़ज़ल की काँगड़ी जला के पहन लेता था

बेटे को जला के लौटा तो...
झील के किनारे बैठ कर,
ठीकरियाँ पानी की सतह पे फेंकता रहा
घोड़े देखता था दौड़ते हुए

सर्दी से ठिठुरने लगता था कभी
छदरी छदरी धूप ओढ़ लेता था

कल सुना है बर्फ़ गिर रही थी जब पहाड़ों पर
खिड़की खोल कर...
वो आग तापने चला गया... चिता की आग पर!

बोस्कियाना, पाली हिल्स
बान्द्रा वेस्ट, मुम्बई-400050
फोन : 022-24461959

मैं ज़िन्दगी का साथ निभाता चला गया...

मनमोहन सरल


देव आनन्द
(सितज़्बर 26, 1923–दिसज़्बर 3, 2011)

मन यह मानने को तैयार ही नहीं हो रहा है कि सदाबहार हीरो देव आनन्द नहीं रहे। एक बार समय की साँसें अवरुद्ध हो सकती हैं, पर देव साहब की नहीं। उन्होंने तो जैसे उम्र को अपनी ऊर्जा से क़ैद कर रखा था। पर हुआ असाधारण ही और लन्दन के एक होटल के कमरे की किसी दरार से मौत उसमें घुस आई और 88 वर्ष के उस चिरयुवा अभिनय के प्रतिमान को हमसे छीन ले गयी।

वह व्यज़्ति जो कभी अतीत को पीछे छोड़ कर हमेशा वर्तमान में जीता था, ख़ुद हमेशा-हमेशा के लिए अतीत बन जाए, यह उसकेस्वभाव में नहीं था।

देव आनन्द का ज़्याल आते ही एक खिलन्दरे रोमांटिक हीरो की छवि आज भी सामने घूम जाती है। दो साल पहले उसके जन्मदिन पर जब मिला था, तब उनके कन्धे थोड़ा और झुक गये थे। चेहरे पर मांसपेशियों का तनाव कम हो गया था और गर्दन की खाल कुछ सिकुड़ गयी थी, जिसे वे ऊँचे गले के स्वेटर और रंगीन स्कार्फ़ से बड़ी होशियारी से ढँके रहते थे, पर उनकी चाल में वही 50 केदशकवाली नौजवान फुर्ती थी। मैंने अपना परिचय देना चाहा तो मुझे बीच में ही रोक दिया और मेरा हाथ अपनी मुट्ठी में जकड़ लिया जिसकी गर्माहट और जकड़न मैं आज भी महसूस कर रहा हूँ।

वह हिन्दी फ़िल्माकाश के सबसे पुराने सुपरस्टार रहे हैं, जिनके पीछे पागल लड़कियों का दीवाना हुजूम रहता था, जो अब भले ही दादी-नानी बन गयी हों, उनकी पोतियाँ-नातिनें अब भी उनके नाम के कसीदे काढ़ती हैं। गर्दन को एक ख़ास कोण से तिरछा करते हुए झटका देकर बेहद रोमानी अन्दाज़ में डॉयलाग बोलने की उनकी अनोखी अदा (जिसे बाद में अगले सुपरस्टार राजेश खन्ना ने थोड़ा बदल कर अपनाया) पर युवा दर्शकजिस तरह फ़िदा थे, उसका अब कोई विकल्प नहीं है, और न होगा। स्कूल-कॉलेज को बंक करके उनकी फ़िल्मों को देखने की दीवानगी ने दोपहर के शो को ही जैसे मैटिनी नाम दे दिया हो, जो आज तक उसी तरह जाना जाता है।

यह थे देव आनन्द, अभिनय के प्रतिमान की त्रिमूर्ति में से एक(बाक़ी दो हैं दिलीप कुमार और स्व. राज कपूर); यानी धर्मदेव पिशोरीलाल आनन्द, जो 20 साल की उम्र में 68 साल पहले गुरदासपुर से हीरो बनने के लिए मुज़्बई (तब बज़्बई) केबॉज़्बे सेंट्रल स्टेशन पर 1943 की एक सुबह उतरे थे। लाहौर में पढ़े नया-नया ग्रेजुएट हुए वकील बाप के बेटे, जेब में महज़ तीस रुपये और दुर्लभ डाक टिकटों का संग्रह (उन्हें बचपन से ही डाक टिकट इकट्ठा करने का शौक़ था), पर आँखों में बड़े-बड़े सपने थे। यह वह ज़माना था जब ऊँचे ख़ानदान केपढ़े-लिखे लोग कम ही

फ़िल्मों में आते थे। वे उनमें से एक थे।

मगर उन्हें तुरन्त ही पता लग गया कि यह मायानगरी इंसान को बड़े-बड़े सपने दिखाती तो ज़रूर है, जो ज़्यादातर सिर्फ़ छलावा ही रहते हैं, पर यह इंसान को ख़ून के आँसू भी रुलाती है। पर देव तो हिज़्मत की भारी-भरकम गठरी भी लेकर आये थे, इसलिए उनके लिए हार मानने का सवाल ही नहीं होता था। फ़िल्म स्टूडियो के चज़्कर लगाने के साथ, बज़्बई में पाँव जमाने के लिए उन्हें मिलिट्री के सेंसर वाले दज़्तर में ज़्लर्की की नौकरी ले ली, जहाँ उन्हें सिपाहियों के नाम आने वाले ख़तों को सेंसर करना होता था। तंज़्वाह थी फ़कत 65 रुपल्ली। वह लड़ाई का ज़माना था, इसलिए यह जाँचना ज़रूरी था कि किसी ख़त में कोई आपज़िजनक बात तो नहीं लिखी है। पर 1945 में डॉक यार्ड में हुए विस्फ़ोट में उनका दज़्तर भी नष्ट हो गया और उनकी नौकरी भी।

पर उनका लक्ष्य तो वह नौकरी नहीं थी, इसलिए फिर से फ़िल्म स्टूडियो के चज़्कर लगाने का सिलसिला शुरू हो गया, बज़्बई के ही नहीं, पूना के स्टूडियो के भी। उन दिनों बज़्बई के अलावा पूना भी फ़िल्मों का केन्द्र था। एक दिन दरवान की नज़र बचा कर छुपते-छपाते आख़िर प्रभात स्टूडियो में दाख़िल हो ही गये।

यहाँ से शुरू होता है एक रोमानी हीरो बनने का सफ़र। हालाँकि पहली बार उन्हें देखकर किसी ने फज़्ती भी कसी थी कि यह ज़्या ख़ाक हीरो बनेगा, इसके तो कन्धे झुके हुए हैं! पर इस झुके कन्धे वाले इंसान की तक़दीर तो विधाता ने सोने की क़लम से लिखी थी। ऐसी फज़्तियों-तानों का उन पर भला ज़्या असर होता!

'प्रभात' का उन दिनों बड़ा रुतबा हुआ करता था। उसे भारतीय सिनेमा का वटवृक्ष माना जाता था। सामाजिक प्रतिबद्धता और यथार्थवादी फ़िल्मों के लिए उसका बड़ा नाम था। वी. शान्ताराम, फज़ेलाल सीताराम कुल्कर्णी जैसे फ़िल्मकार उससे जुड़े थे। 1929 में वहाँ से 'गोपालकृष्ण' बनी थी जो लगती तो धार्मिक फ़िल्म थी, पर उसमें प्रतीकार्थ में ब्रिटिश शासन को कंस के रूप में चित्रित किया गया था। 'दुनिया ना माने', 'पड़ोसी', 'आदमी' जैसी समस्यामूलक फ़िल्मों के लिए आज भी 'प्रभात' को याद किया जाता है।

उसी 'प्रभात' में जब जबरन देव घुस गये तो सीधे व्यवस्थापक से जा भिड़े। क़िस्मत साथ थी, उन्हें नौकरी मिल गयी, तनज़्वाह दी गयी 350 रु. माहवार। उन दिनों चलन था कि एज़्टरों को माहवारी पर रखा जाता था। इस तरह 1946 में देव की पहली फ़िल्म 'हम एक हैं' बनी, जिसकी नायिका थीं कमला कोटनीस। डॉयलाग बोलने के उनके ख़ास अन्दाज़ ने देव को पहली बार में ही प्रतिष्ठित कर दिया। फ़िल्म चल गयी और उसके साथ ही उनका हीरो भी। अगली फ़िल्म 'मोहन' अभिनेता सप्रू की पत्नी हेमावती के साथ की, जो भी औसतन सफल रही। पर उन्हें स्थायित्व दिया 'ज़िद्दी' ने, जिसे बॉज़्बे टाकीज़ ने बनाया और उसमें हीरोइन थी कामिनी कौशल।

यह 1948 की बात है। उस समय दादामुनि अशोक कुमार का बड़ा रुतबा था। वे बॉज़्बे टाकीज़ सँभालते थे। उन्हें सामने पाकर तो देव की बोलती ही बन्द हो गयी। उन्हें भी लगा कि इतना शर्मीला आदमी कैसे हीरो बनेगा! पर वे देव का काम उनकी पहले की फ़िल्मों में देख चुके थे, इसलिए देव को 'ज़िद्दी' ऑफ़र कर दी। इस फ़िल्म ने तो झंडे गाड़ दिये। 'ज़िद्दी' ने देव आनन्द की एक ख़ास इमेज़ बना दी, जो उनके साथ ऐसी चिपकी कि आख़िर तक उनकी पहचान बनी रही।

पर यह एकदम ठीक नहीं है। मेरे विचार से तो देव की जो पेटेंट छवि है, उसका सेहरा 'बाज़ी' को जाता है। यह कहा जा सकता है कि 'ज़िद्दी' ने देव को जो इमेज़ दी थी, उसका ज़्यादा सुधरा हुआ और ज़्यादा पर्सोनीफाइड रूप 'बाज़ी' में आया, जहाँ नायक प्यार में बेवजह तड़पने वाला मजबूर, परेशान इंसान नहीं था, बल्कि बेफ़िक्र, हँसमुख और दुखों या अपमान को ठोकर से उड़ाने वाला हीरो था— 'मैं ज़िन्दगी का साथ निभाता चला गया / हर फ़िक्र को धुएँ में उड़ाता चला गया...!'

इस हीरो ने नवयुवकों को एक नया फ़लसफ़ा दिया, नयी जीवनशैली, लाइफ़ स्टाइल दी। यही वजह थी कि नौजवान पीढ़ी का वह सबसे चहेता हीरो बना। पफ किये हुए बाल और उन पर तिरछी रखी टोपी, जिस स्टाइल की आज तक नक़ल होती है। देव को हिन्दी सिनेमा का ग्रेगरी पैक कहा जाता है (उल्लेखनीय है कि उनकी मृत्यु भी देव की तरह 88 वर्ष की वय में हुई) और उनके स्टाइल की तुलना एल्विस प्रिस्ले से की जाती रही है।

'बाज़ी' से पहले नवकेतन की बात और उससे भी पहले देव के बड़े भाई चेतन आनन्द की बात भी ज़रूरी है, जो देव से पहले ही बज़्बई आ चुके थे। तीसरे, देव के छोटे भाई विजय बाद में आये थे। चेतन 'नीचानगर' जैसी ऑफ़बीट फ़िल्म बना चुके थे, जो स्वतन्त्रता आन्दोलन का एक पक्ष पेश करती थी। फ़िल्म विदेशों में चर्चित रही, पर चली न थी। पर देव को उसमें नहीं लिया गया था, शायद तब चेतन को देव पर भरोसा न था। पर 'ज़िद्दी' की सफलता ने उनका मत देव के बारे में बदल गया। पर देव को लेकर फ़िल्म बनाने से पहले दोनों भाइयों ने क़रार किया और 'नवकेतन' नाम से फ़िल्म प्रोडज़्शन हाउस खोल लिया। इसकी योजना उन दिनों की सुपर हीरोइन और सेज़्स ज़्वीन सुरैया के आलीशान ज़्लैट में 29 अज़्तूबर, 1949 को बनी। यहीं सुरैया को नवकेतन की पहली फ़िल्म 'अफ़सर' के लिए अनुबन्धित भी कर लिया गया, जो रूसी लेखक गोगोल के व्यंग्य नाटक 'इंस्पेज़्टर जनरल' पर आधारित थी। चेतन इप्टा से जुड़े हुए थे और इस नाटक को मंच पर सफलता से पेश भी कर चुके थे, इसलिए 'अफ़सर' के प्रति वे आश्वस्त थे। बिना किसी शोर-शराबे के अँधेरी के एमएंडटी स्टूडियो में 'अफ़सर' की शूटिंग शुरू हुई। पर इस फ़िल्म को भी दर्शकों ने पसन्द नहीं किया। मांसल शरीर वाली शोख़ सुरैया के मदमस्त अभिनय और सचिन देव बर्मन के संगीत के बावजूद 'अफ़सर' चल न पाई, हालाँकि इसके गीत 'मनमोर हुआ मतवाला' और 'नैन दीवाने इक नहीं मानें, करें मनमानी' आज भी संगीत-प्रेमियों की ज़बान पर हैं और देव-सुरैया की रोमानी जोड़ी की चर्चा तो कई फ़िल्मों तक चलती रही।

नवकेतन की इस असफल शुरुआत से चेतन आनन्द को गहरा झटका लगा और उन्होंने निर्देशन से हाथ खींच लिया और नवकेतन की अगली फ़िल्मों का निर्देशन कौन करे, इसका फ़ैसला देव पर छोड़ दिया। संगीतकार सचिन देव बर्मन के साथ देव की ट्यूनिंग 'विद्या' से बन चुकी थी। वे भी नवकेतन से जुड़ गये। इप्टा की वजह से देव के

बलराज साहनी, ख़्वाजा अहमद अब्बास, साहिर लुधियानवी जैसों से रिश्ते बन चुके थे, पर इन सबकी वैचारिक प्रतिबद्धता से देव ने कभी समझौता नहीं किया और वे अपने पर कम्युनिस्ट की छाप लगने से हमेशा बचते रहे। 'प्रभात' के दिनों में गुरुदत्त से भी मित्रता हो गयी थी जो बाद में प्रगाढ़ता में बदल गयी। इस तरह ये सब नवकेतन से किसी-न-किसी रूप में जुड़ गये।

देव के सामने बॉम्बे टाकीज़ का उदाहरण था, जहाँ नायक छोटा अपराधी होता था और नायिका अपराधियों की कठपुतली। अपराध और रोमांस का यह तानाबाना बॉम्बे टाकीज़ की 'क़िस्मत' जैसी फ़िल्मों की सफलता का मन्त्र था, जिसे देव ने गुरुमन्त्र मानकर गुरुदत्त को साथ लेकर नवकेतन से 'बाज़ी' बनाना तय किया। पटकथा-संवाद बलराज साहनी से लिखवाये। कहानी का रुझान ऐसा था, जो उन दिनों रोज़गार की तलाश में शहरों की तरफ़ भागनेवाले नौजवानों को दिशा देता था। फ़िल्म में रोमांस और अपराध के अलावा कॉमेडी भी भरपूर थी और सबसे महत्त्वपूर्ण थे साहिर के गीत और सचिन देव बर्मन का सुमधुर संगीत। इसी फ़िल्म से पहली बार सुनाई दी गीता दत्त की सुरीली आवाज़। किशोर कुमार का प्लेबैक भी नवकेतन की फ़िल्म में पहली बार हुआ और वे देव की आवाज़ बन गये। 'बाज़ी' से ही हिन्दी फ़िल्मों में पहली बार दो नायिकाओं का चलन शुरू हुआ। गीता बाली के साथ नयी नायिका आयीं कल्पना कार्तिक, जो बाद देव की जीवनसंगिनी बनीं। इसी फ़िल्म से जॉनी वाकर पहली बार नवकेतन से जुड़े।

देव आनन्द की 65 वर्षों की फ़िल्मी यात्रा और उनकी 113 फ़िल्मों को तीन स्पष्ट सोपानों में बाँटा जा सकता है। पहला चरण 'हम एक हैं' (1946) से शुरू हुआ, जो 'ज़िद्दी' (1948), 'विद्या' (1948), 'शायर' (1949), 'सनम' (1951), 'दो सितारे' (1951) जैसी फ़िल्मों तक चला। इसी दौर में ही है पिगमैलियन पर आधारित (अँग्रेज़ी 'माई फेयर लैडी') 'मिली' (1950), जिसे बाद में नवकेतन ने 'मनचली' के नाम से बनाया। इस चरण का नायक शर्मीला और हानिरहित जैंटलमैन था, जिसे प्लैटोनिक लव वाले हीरो के रूप में भी देखा जाता गया था।

शर्मीले नायक के सन्दर्भ में देव के कॉलेज जीवन के पहले प्यार का ज़िक्र भी ज़रूरी है। उनका यह शर्मीलापन उनकी अभिनय-यात्रा के पहले चरण का हिस्सा भी है। यह बात है तब की, जब स्कूल के बाद उन्हें गुरदासपुर से आगे पढ़ने के लिए लाहौर भेजा गया था। परिवार से अलग हॉस्टल में रहने का यह अनुभव था और यहीं उन्हें पहली बार प्यार हुआ था। वह हिस्ट्री के लेकचरर की बेटी थी, पर उनका प्रेम एकतरफ़ा ही रहा; क्योंकि अपने शर्मीलेपन की वजह से वे लड़की के सामने अपने प्यार का इज़हार ही न कर पाये और चुपचाप प्यार में घुलते हुए अपना ग्रेजुएशन पूरा कर लिया। कॉलेज छोड़ने के साथ ही अपने प्रथम प्रेम की याद को लेकर शहर ही छोड़ दिया।

यही इतिहास सुरैया के साथ भी दोहराया जाना शुरू हुआ। क़िस्सा 'विद्या' फ़िल्म के दिनों का है। शूटिंग के दौरान सुरैया ने महसूस किया कि एक अजनबी युवक बैठे-बैठे उसे दूर से निहारता रहता है। सुरैया ने कभी बताया कि जब पाँच दिन तक लगातार मैंने उसे एकटक मुझे देखते हुए पाया तो मुझसे रहा न गया। मैंने यूनिट वालों से पूछा कि ये कौन साहब हैं, जो मुझे लगातार देखे जा रहे हैं। तब मालूम पड़ा कि जनाब मेरी नयी फ़िल्म के हीरो हैं। मुझे अचरज हुआ कि ये कैसे हीरो साहब हैं, जो पिछले 5 दिनों से अपनी फ़िल्म की हीरोइन से बात करने की हिम्मत नहीं जुटा पा रहे हैं।

बताया यह भी जाता है कि सुरैया ही ख़ुद देव के प्रति आकर्षित हुई थीं। उन्होंने इंडस्ट्री में पहली बार पढ़ा-लिखा, बेहद तमीज़दार और नफ़ीस क़िस्म का इंसान देखा था, जो तमाम और हीरो से अलग था। सुरैया ने स्वीकारा कि जब पहली बार एक्टिंग की माँग के अनुसार उन्हें देव के कन्धे पर सिर रखना था तो उनके पूरे बदन में बिजली-सी दौड़ गयी थी, जबकि ऐसा दृश्य तो वह पहले कई बार दूसरे हीरो के साथ कर चुकी थीं।

कुछ फ़िल्मों में देव सुरैया के साथ काम कर चुके और प्यार की कोंपलें फूटने के बाद भी वे हमेशा चुप रहे। पहली बार 'जीत' के सेट पर उन्होंने सुरैया से प्यार का इज़हार किया। यह देव की वही झिझक भरा शर्मीलापन था जिसकी वजह से उन्होंने अपने पहले प्यार को खो दिया था।

पर हश्र तो इस प्यार की भी वही हुआ, लेकिन सिलसिला काफ़ी देर तक और दूर तक चला। कामिनी कौशल, दुर्गा खोटे और कई दूसरे देव के शुभचिन्तकों ने लगातार कोशिश की कि यह जोड़ी किसी तरह साकार हो जाये, पर इस रिश्ते को साम्प्रदायिक रंग देकर ख़त्म करा दिया गया। दूसरे, सुरैया की नानी की बाज़ जैसी नज़रें इन दोनों का हमेशा पीछा करती रहीं क्योंकि उन्हें डर था कि अगर यह शादी हो गयी तो सोने के अंडे देनेवाली मुर्गी उनसे छिन जायेगी।

चार साल तक चलनेवाले इस रोमांस के क़िस्से तो काफ़ी लम्बे हैं और दिलचस्प भी, पर देव और सुरैया की रोमांटिक जोड़ी जो पर्दे पर तूफ़ान बरपा देती थी, निजी ज़िन्दगी में टूटने के साथ-साथ सात फ़िल्में साथ करने के बावजूद पर्दे से भी ग़ायब हो गयी और सुरैया का तो फ़िल्मी कैरियर भी ढुलमुल हो गया।



नवकेतन में भी सुरैया की फिर आमद कभी न हो सकी।

देव की अभिनय-यात्रा का दूसरा चरण 'बाज़ी' से शुरू हुआ। पहले दौर में वे दो दर्जन के क़रीब फ़िल्में कर चुके थे। पर देव की पेटेंट इमेज़ 'बाज़ी' ने ही दी, जिसकी वजह से यह हीरो लड़के-लड़कियों के मन पर छा गया। यह सफलता देव की ही नहीं, नवकेतन की भी थी, जिसकी फ़िल्मों को फ़िल्म जगत में गम्भीरता से लिया जाने लगा।

इस दौर की फ़िल्मों में प्यार, अपराध और संगीत का अनोखा संगम था। सही मायनों में ये सब म्यूज़िकल ही थे। उन दिनों मधुबाला का बहुत नाम था। यहाँ तक कि एक फ़िल्म का नाम ही 'मधुबाला' रखा गया था। हीरोइन के नाम वाली

फ़िल्म के लिए अच्छा हीरो मिलना मुश्किल हो जाता है। पर देव ने काम करना स्वीकार किया। यह तो सफल रही ही, इसके बाद देव-मधुबाला की जोड़ी कई फ़िल्मों में साथ रही—'काला पानी', 'निराला', आराम', 'अरमान', 'जाली नोट' तो इस जोड़ी की सफल फ़िल्मों में मानी गयीं।

'अफ़सर' की असफलता के बाद चेतन आनन्द ने देव को फिर 'आँधियाँ' में उतारा। यह कलात्मक फ़िल्म थी, जिसका चलना तो शुरू से ही सन्दिग्ध था। उसे समालोचकों ने तो ज़रूर सराहा पर बॉक्स ऑफ़िस पर लुढ़क गयी। भले ही इसे वेनिस, पेकिंग और मास्को के फ़िल्मोत्सवों में पसन्द किया गया। चेतन की 'हमसफ़र' इसके बाद आयी पर उसका भी वही हश्र हुआ। यहीं से देव का बड़े भाई पर से विश्वास डगमगा गया। चेतन को वे 'स्यूडो इंटेलेक्चुअल' कहते थे और उनके कलात्मक प्रयोगों के हामी न थे। उनका मानना था कि नवकेतन को तो ऐसी फ़िल्में चाहिए, जो व्यापार भी करें। 'किनारे-किनारे' के बाद दोनों भाई अलग हो गये।

उधर गुरुदत्त ने अपनी यारी निभाते हुए देव को 'सी.आई.डी.' और 'जाल' में लिया। दोनों ही बेहद सफल रहीं। इससे दोनों की मित्रता और भी प्रगाढ़ हो गयी। देव की सफलता में चार चाँद लगे 'टैक्सी ड्राइवर', 'फंटूश', 'हमसफ़र', 'हाउस नम्बर 44', 'मुनीमजी', 'पाकेटमार', 'पेइंग गेस्ट', 'नौ दो ग्यारह' जैसी सफल फ़िल्मों से। सभी फ़िल्मों में अपराध के साथ ग्लैमर भी था। हीरो जुआरी (गैम्बलर), चोर (ज्वेल थीफ़) आदि होता था या फिर टैक्सी ड्राइवर या मुनीम जैसा आम आदमी। टफ वातावरण, भाग-दौड़, पकड़-धकड़, पुलिस से आँख-मिचौनी जैसे तत्त्व प्रधान थे, जिनमें आम दर्शक को ख़ूब मज़ा आता था। ये सब दिलीप कुमार और राज कपूर नहीं कर पाये थे, इसलिए दिलीप, राज, देव की तिकड़ी में देव का पलड़ा भारी रहता रहा।

'आँधियाँ' और 'हमसफ़र' से जब नवकेतन लड़खड़ा उठा तब देव ने छोटे भाई विजय उर्फ़ गोल्डी को साथ लिया। वे भी छात्र-जीवन में नाटकों में हिस्सा लिया करते थे और 'आँधियाँ' में चेतन के साथ सहनिर्देशक थे। गोल्डी ने एक फ़िल्म की पटकथा लिखी और देव आनन्द को सुनाई। यह थी 'टैक्सी ड्राइवर', जिसके लिए फिर से सचिन देव बर्मन और साहिर लुधियानवी को लाया गया। लता मंगेशकर को भी अनुबन्धित किया गया। पूरी शूटिंग बम्बई की सड़कों पर हुई। सेट सिर्फ़ एक लगा जो शीला रमानी के कैबरे के लिए लगा था। चुस्त पटकथा और सटीक सम्पादन ने फ़िल्म को दिलचस्प बना दिया और फ़िल्म ने फिर से नवकेतन की साख लौटा दी। तलत महमूद का गाया 'जाये तो जाये कहाँ' तो आज भी याद किया जाता है।

गोल्डी की पढ़ाई भी साथ-साथ चल रही थी। पार्ट टाइम निर्देशक के रूप में उन्हें पचास रुपये महीना मिलता था। फ़िल्म की सफलता के बाद एम.ए. बीच में ही छोड़कर वे फुल टाइम निर्देशक बन गये। 'नौ दो ग्यारह' का निर्देशन किया। इस फ़िल्म की कहानी कार से खंडाला जाते हुए जब देव ने सुनी तो इतनी पसन्द आयी कि 'काला पानी' का काम बीच में रोककर पहले यह बनाई। बाईस वर्ष के छोकरे को स्वतन्त्र निर्देशक बनाने की हिम्मत भी देव के बूते की बात थी। यह देव का अपने भाई पर विश्वास ही था जो फ़िल्म की सफलता के परवान चढ़ा।

यही कल्पना कार्तिक की आख़िरी फ़िल्म भी थी। उसके बाद देव और कल्पना की शादी हो गयी और शादी के बाद बनी मोना आनन्द ने फ़िल्मों में काम करना बन्द कर दिया। हालाँकि इस जोड़ी का वैवाहिक जीवन कोई ख़ास सुखी नहीं रहा, पर जैंटलमैन देव ने तलाक़ भी नहीं लिया। हाँ, वे कुछ समय तक होटल सन-एन-सैंड में स्थायी स्यूट लेकर ज़रूर रहे थे।

'हाउस नं. 44' में देव के व्यक्तित्व को अलग आयाम दिया हेमन्त कुमार के पार्श्वगायन ने। 'तेरी दुनिया में जीने से...' में देव का फ़िल्मीकरण ही कुछ अलग तरह का था।

जब नवकेतन की स्थापना की गयी थी, तय किया गया था कि यह प्रोडक्शन हाउस नयी प्रतिभाओं को अवसर देगा। अलग तरह की फ़िल्में बनायेगा जो सामाजिक सरोकारों को सामने लाएँ और समाज तथा देश के ज्वलन्त प्रश्नों को भी।

बलराज साहनी से पटकथा लिखवाना, गुरुदत्त को निर्देशन सौंपना, युवा गोल्डी को डाइरेक्शन का दायित्व देना और गुरुदत्त के सहायक रहे राज खोसला के हाथों में 'काला पानी' सौंप देना— यह सब नवकेतन के बूते की ही बात रही। यह सफल ही नहीं रही, इसी फ़िल्म में अभिनय का पहला 'फ़िल्म फ़ेयर' पुरस्कार देव आनन्द को मिला। अगली फ़िल्म 'काला बाज़ार' फिर विजय आनन्द ने निर्देशित की, जिसमें भी दो नायिकाएँ थीं— वहीदा रहमान और नन्दा। वहीदा, हालाँकि गुरुदत्त के कांट्रेक्ट में बँधी थी, पर दोस्ती की ख़ातिर गुरदत्त ने उसे परमीशन दे दी। इसी फ़िल्म में शैलेन्द्र ने पहली बार नवकेतन के लिए गीत लिखे— 'खोया-खोया चाँद, खुला आसमान, आँखों में कैसे नींद आयेगी' ने चमत्कार पैदा कर दिया था।

नवकेतन के पब्लिसिस्ट अमरजीत ने कहा कि मुझे आपने अभी तक किसी फ़िल्म से नहीं जोड़ा, सो उदार और स्नेही देव ने फ़िल्म 'हम दोनों' के निर्देशक के रूप मे अमरजीत का नाम डाल दिया, जबकि पूरी फ़िल्म गोल्डी ने निर्देशित की थी। फ़िल्म ज़बरदस्त हिट हुई। इसमें देव दोहरी भूमिका में थे। युद्ध में अपना एक पैर गँवा बैठे फ़ौजी अफ़सर के किरदार में उन्होंने कमाल कर दिखाया था। इसी फ़िल्म से पहली बार नवकेतन में संगीतकार जयदेव का प्रवेश हुआ और यह भी कि वे पहली बार किसी फ़िल्म के स्वतन्त्र संगीतकार बने। गीत फिर से साहिर से लिखवाये गये जो किसी वजह से सचिन दा से रूठ कर नवकेतन छोड़ गये थे। लता का गाया 'अल्ला तेरो नाम...' और 'अभी ना जाओ छोड़कर कि दिल अभी भरा नहीं' लता के फेवरिट गीतों में आज भी शुमार होते हैं।

इसी 'हम दोनों' का रंगीन संस्करण अभी हाल प्रदर्शित हुआ और इसी के प्रोमोशन के लिए वे लन्दन गये थे, जब जानलेवा हार्टअटैक ने उन्हें अपने शिकंजे में ले लिया। दूसरा उद्देश्य मेडिकल चेकअप भी था। देव कभी भारत में मेडिकल चेकअप नहीं कराते थे। बल्कि वे अस्पताल और डॉक्टरों से दूर ही रहते थे। उनका मानना था कि वे अपने चहेते प्रशंसकों में जिस इमेज के लिए जाने जाते हैं, उस पर किसी तरह का व्याघात नहीं होना चाहिए। वे किसी आत्मीय की भी अन्तिम यात्रा में

शामिल नहीं होते थे। 'नथुनों में ठुँसी हुई रूई देखकर मुझे जगुप्सा होती है', वे कहते थे। 'चलता-फिरता आदमी कैसे गतिहीन हो सकता है, मैं इमेजिन नहीं कर पाता।' उन्होंने किसी को कहा भी था कि मेरा दाह-संस्कार भारत में न किया जाये ताकि मेरे फैन मुझे हमेशा जीवित ही मानें।

'हम दोनों' विदेशों में भी प्रदर्शित हुई और तब देव अन्तरराष्ट्रीय कलाकारों के सम्पर्क में आये। एक अमेरिकी फ़िल्म 'द इविल विद-इन' में अभिनय भी किया। तभी नोबेल पुरस्कार विजेता पर्ल एस.बक (गुड अर्थ) से मिलना हुआ और आर.के.नारायण के उपन्यास 'द गाइड' की पटकथा लिखने को उन्हें अनुबन्धित कर लिया गया। इस उपन्यास का चुनाव पर्ल बक का ही था। निर्देशन टैड डनियलेवस्की को सौंपा गया। उद्देश्य था कि 'गाइड' को अँग्रेजी में बना कर नवकेतन को विदेशों में दिलायी जाए। पर अँग्रेजी संस्करण चला नहीं, जबकि हिन्दी 'गाइड' ने सफलता के नये प्रतिमान स्थापित किये। हिन्दी वाली फ़िल्म का निर्देशन विजय आनन्द ने किया, जबकि देव इसे राज खोसला को देना चाहते थे। पर वहीदा रहमान का राज खोसला से झगड़ा था इसलिए देव को गोल्डी से बात करनी पड़ी। वे पहले तैयार न थे क्योंकि उन्हें पर्ल बक की पटकथा पर एतराज़ था। उनका मत था कि भारतीय दर्शक हीरोइन की एडल्ट्री स्वीकार नहीं करेगा। पर-पुरुषगमन समाज को स्वीकार्य हो ही नहीं सकता। बहुत बहस के बाद गोल्डी तैयार तो हुए पर शर्त रखी कि अपनी फ़िल्म की पटकथा वे ख़ुद लिखेंगे। उन्होंने रोज़ी की एडल्ट्री को जस्टीफ़ाई करने के लिए उसके पति को वेश्यागामी दिखा दिया। कई सामाजिक संस्थाओं और सूचना मन्त्रालय ने भी भारतीय नारी की ऐसी छवि पर आपत्ति दर्ज की और कहानी बदलने का आदेश दिया। देव ने कहा कि यह तो सरकार द्वारा समर्थित साहित्य अकादेमी द्वारा पुरस्कृत कहानी पर है। तब जाकर विरोध शान्त हुआ।

दूसरी आपत्ति नायक के वर्षा कराने में असफल होने और उसकी मृत्यु दिखाने की भी थी क्योंकि देव की जो इमेज़ उन दिनों थी, उनके चहेते दर्शक यह आसानी से पचा नहीं पाएँगे। पर देव अड़े हुए थे। एक बड़ा ख़तरा और भी था कि वे इस फ़िल्म में एंटी हीरो का रोल निभा रहे थे। (यों, वे 'जाल' में भी एंटी हीरो रहे थे। बाद में 'डर' में शाहरुख़ ख़ान एंटी हीरो बने)।

तीसरी बात अन्त को लेकर थी, जब नायिका नायक से नहीं मिल पाती है जबकि हिन्दी फ़िल्म के दर्शक हैपी एंडिंग चाहते हैं। वितरक भी डरे हुए थे। कुल मिला कर फ़िल्म का ख़ूब विरोध था। यहाँ तक कहा गया कि 'गाइड' तो देव आनन्द का मर्सिया साबित होगी, जिसे साफ़-सुथरी डेबोनायर इमेज़ वाले उनके चहेते दर्शकों के लिए पचाना असम्भव होगा।

पर जब फ़िल्म रिलीज़ हुई तो उसका आशातीत स्वागत हुआ। राजधानी में कई मिनिस्टरों ने भी पहले ही दिन देखी। सब निर्वाक् थे। कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं कर पा रहा था। बहरहाल फ़िल्म पसन्द की गयी। फ़िल्म फ़ेयर पुरस्कार के लिए 5 नॉमिनेशन हुए। 'ऑस्कर' के लिए भी नॉमिनेट हुई। 2007 में इसे कान फ़िल्मोत्सव में भारतीय फ़िल्मों में मील का पत्थर मान कर दिखाया गया।

देव आनन्द की फ़िल्मी यात्रा का तीसरा चरण एक सुधारवादी भविष्यद्रष्टा का है। इस दौर में देव ने आर्थिक तंगी के बावजूद नवकेतन से बाहर की फ़िल्मों में काम करना बन्द ही कर दिया था। उम्र बढ़ने के साथ अभिनय सम्राटों की तिकड़ी में से दिलीप तो 1980 से चरित्र अभिनेता की भूमिका में आने लगे थे और राज कपूर ने अभिनय छोड़ कर निर्देशन ही करना शुरू कर किया था। पर देव आख़िर तक हीरो ही बने रहे। तीसरे चरण में देव लगातार ऐसे विषयों पर काम करते रहे, जो समाज और देश के हित में हों। यों वे पहले भी ऐसी फ़िल्मों में काम कर चुके थे, जिनमें सामाजिक सरोकार स्पष्ट थे, जैसे 'पतिता', 'राही' या 'शानदार'; पर तीसरे चरण में नवकेतन में सोद्देश्य फ़िल्मों का जो सफ़र शुरू हुआ, वह अन्तिम फ़िल्म 'चार्जशीट' तक जारी रहा।

ऐसी फ़िल्मों को देव ने ख़ुद लिखा और निर्देशित किया। विषय भी स्वयं चुने। ऐसी फ़िल्मों के जरिये वे गुमराह नयी पीढ़ी को सही दिशा देने की कोशिश करते रहे और नयी-नवेली युवतियों और युवाओं की खोज करके उन्हें फ़िल्म में उतारने का कठिन काम करते रहे, जिनमें से कई आज बहुत सफल कलाकार हैं। आमिर ख़ान को 'अव्वल नम्बर' में, ज़ीनत अमान को 'हरे राम, हरे कृष्णा' में, टीना मुनीम (अब अम्बानी) को 'देस-परदेस', 'मनपसन्द' और 'लूटमार' में, जैकी श्रॉफ़ को 'हीरा पन्ना' और 'स्वामी दादा' में, तब्बू को 'हम नौजवान' में और शत्रुघ्न सिन्हा को 'प्रेम पुजारी' और 'गैम्बलर' में देव ने ही ब्रेक दिया। कुछ और नाम भी हैं जैसे ऋचा शर्मा और दीपक सरीन, जिन्होंने बाद में अभिनय ही नहीं किया और कई वे नवयुवा भी जो आगे चल न पाये। इनमें देव का अपना बेटा सुनील भी हैं, जो सफल न हो पाये।

इस दौर की सबसे चर्चित और सफल रही 'हरे राम, हरे कृष्णा', जो युवाओं में बढ़ती नशे की लत को रेखांकित करती थी। वे इस फ़िल्म का सीक्वल भी बनाना चाहते थे और इसकी स्क्रिप्ट का काम 80 प्रतिशत हो चुका था। लन्दन से लौटकर वे इसे शुरू करने वाले थे। 'गाइड' के नये परिवर्द्धित रूप की भी योजना थी। पर होनी को तो कुछ और ही मंजूर था।

'इश्क़-इश्क़-इश्क़', 'प्रेमशास्त्र', 'देस-परदेस', 'मनपसन्द', 'लूटमार', 'स्वामी दादा', 'हम नौजवान', 'सेंसर', 'लव एट टाइम्स स्क्वायर', 'मि. प्राइम मिनिस्टर', 'चार्जशीट' आदि इसी तरह की फ़िल्में थीं। ज़्यादातर ये फ़िल्में चल न पाईं और उनके चहेते दर्शकों में से भी बहुतों ने इन्हें नहीं देखा। पर इनका सर्जक इस बात से कभी निराश नहीं हुआ। उनके अनेक शुभचिन्तकों ने इसे फ़िजूलखर्ची कहा और आलोचकों ने इसे उनकी सनक भी माना; पर उनका कहना था कि मैं जब लिखना, सोचना, क्रियेटिव काम करना बन्द कर दूँगा, उसी क्षण मेरी साँस रुक जायेगी। मैं बूट पहने हुए ही मरना चाहता हूँ। मैं चाहता हूँ कि लोग मुझे उसी तरह याद करें जैसा कि मैं तब था, जब ज़िन्दा था। पर वे ऐसे इंसान थे जो नश्वरता को भी नकारना जानते थे। उनका भारतीय फ़िल्म जगत को दिया गया इतना विशाल भंडार कभी उन्हें नश्वर नहीं होने देगा।

ए-402 जगत-विद्या, बान्द्रा-कुर्ला संकुल,
बान्द्रा पूर्व, मुम्बई-400 051
मो.: 09821275568

अन्तिम रचना

पिछले माह श्री विलास गुप्ते हमारे बीच नहीं रहे। गतांक में उन्हें याद किया था प्रकाश कान्त ने। हमने घोषणा की थी कि इस अंक में हम विलास गुप्ते की अन्तिम रचना प्रकाशित करेंगे।

दलित-साहित्य की पूर्व-पीठिका

नव-धर्मान्तरितों का साहित्य

विलास गुप्ते

भारत में दलितों के साहित्य-लेखन की परज़्परा बहुत पुरानी न हो, पर धर्मान्तरण की परज़्परा बहुत पुरानी रही है। एक तरफ़ समानतावादी अर्थ व्यवस्था और दूसरी तरफ़ पाखंड, स्वार्थ, अहमन्यता की उच्चतम सीढ़ी पर पहुँच चुकी धार्मिक-सामाजिक व्यवस्था। इन दोनों ने मिलकर भारत के अवर्ण या निज़्न वर्ण के लोगों के लिए जीवन नरक बना दिया था। उनकी स्थिति ऐसी थी कि मारे और रोने भी न दें। उन्हें वे अपने धर्म का तो मानते थे— पर उन्हें वे अधिकार नहीं थे, जो तथाकथित उच्च वर्ण के लोगों के पास थे। उनके घर, कुएँ, मन्दिर, टोले-मोहल्ले सब अलग होते थे— सवर्णों की बस्ती के बाहर। उन्हें सिर्फ़ दिनरात सेवा करनी होती थी। ज़ाहिर है कि कमज़ोर होने के कारण उन पर अत्याचार होते ही थे। बलशाली, धनशाली व धर्मशाली लोग मिलकर उन्हें तरह-तरह से आतंकित करते रहते थे, ताकि वे विरोध न कर सकें। गुलामों से कुछ ही बेहतर स्थिति थी उनकी। तत्कालीन व्यवस्था के कारण उन्हें शिक्षा का अधिकार नहीं था, अत: उनमें जागृति भी नहीं आ पा रही थी। अन्त्यजों का यह बड़ा समूह बैलगाड़ी में जुते बैल-सा दूसरों का बोझ ढो रहा था। ऐसे में इस्लाम धर्मावलज़्बी आक्रमकों का आगमन इस वर्ग के लिए एक नया सन्देश लेकर आया। इस्लाम भारत में प्रमुखत: तलवार और गौणत: सूफी प्रेम-भाव के बलबूते पर आगे बढ़ा। मुस्लिम-हुकूमत क़ायम होते ही मुल्ला-मौलवियों की दौड़धूप शुरू हो गयी। जबरन और प्रलोभन के साथ धर्मान्तरण किया जाने लगा। तलहटी के इस वर्ग का बौद्धिक स्तर ऐसा नहीं था कि वह दर्शन को समझे। हाँ, उसने इसे अपनी दुरावस्था से मुज़्ति के मौके के रूप में लिया। देखते-देखते धर्मान्तरण शुरू हो गया। इस्लाम में छुआछूत अथवा वर्ण-आधारित धार्मिक भेदभाव नहीं माना जाता। निज़्न वर्ग को इस परिवर्तन में सुखद भविष्य के सपने दिखाई दिए।

उसी तरह, जब यूरोपीय ईसाई आक्रमणकारी यहाँ आये, तब भी इन अस्सी प्रतिशत अन्त्यज 'हिन्दुओं' की स्थिति में कोई विशेष फ़र्क नहीं पड़ा था। ये लोग अभी भी जूठन, ताड़न और दमन की ज़िन्दगी जी रहे थे। अभी दयानन्द सरस्वती या विवेकानन्द का धार्मिक सांस्कृतिक पटल पर अवतरण नहीं हुआ था। यहाँ से भारत के दूसरे धर्मान्तरण की शुरूआत होती है। ईसाई धर्म भारत में बन्दूक के बल पर कम और प्रलोभन तथा सेवा-भाव के बल पर पोषित हुआ। हालाँकि ईसाई धर्म में कुछ उच्च वर्णीय भी दीक्षित हुए,पर अधिकांशत: दमित वर्ग के लोगों ने ही इसे अधिक उपयुज़्त पाया। समाज में बराबरी और सज़्मान का स्थान पाने के लिए बड़ी संज़्या में उन्होंने धर्मान्तरण किया।

धर्मान्तरण का तीसरा दौर उन्नीसवीं सदी के ठीक बीच में दिखायी देता है, जबकि तेजस्वी-तपस्वी दलित-संगठक बाबा साहब भीमराव आज़्बेडकर ने इस घोषणा को कार्यरूप में परिणित किया, ''मैंने हिन्दू के रूप में जन्म ज़रूर लिया है, पर हिन्दू के रूप में मरूँगा नहीं।'' यह धर्मान्तरण कुछ अलग किस्म का था। यह दबे-छिपे रूप में नहीं हुआ। हज़ारों-लाखों दलितों ने एक साथ घोषणा करते हुए हिन्दू धर्म के स्थान पर बौद्ध धर्म स्वीकार किया। इस धर्मान्तरण के पीछे किसी प्रकार का कोई दबाव या प्रलोभन नहीं था। इसे धार्मिक व सामाजिक गुलामी से मुज़्ति के रूप में देखा गया। इससे समाज की मानसिकता में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन आया। वास्तविकता के प्रति आँखें मूँदकर बाँसुरी बजाने वाले नीरो की तरह, हाथी के स्वर्णजटित हौदे पर बैठकर दान बटोरने और पुण्य बेचने वाले ढढ्ढाचार्य धर्म-धुरन्धरों/ पीठाधीशों के प्रति जनता को अश्रद्धा हो गयी। राजनीतिक रूप से जागृत लोगों ने भी दमित तथा दलित वर्ग के संघर्ष में सहभागी होना स्वीकार किया। समाज शास्त्रियों का कथन है कि आज़्बेडकर ने धर्म-परिवर्तन के मामले में

बहुत सोच-समझकर विवेकपूर्ण निर्णय लिया। यदि वे कोई अन्य धर्म चुनते तो कलह, अशान्ति और अराजकता फैल जाती। हिन्दुओं और बौद्धों के बुद्धावतरण के आरज़्भिक एक-दो शतकों में चाहे हिंसक झड़पें हुई हों, पर बाद में सामंजस्य स्थापित हो गया था। क्रमश: दोनों धर्मों ने एक-दूसरे की अनेक बातें ग्रहण परस्पर भातृभाव अर्जित कर लिया था। आगे चलकर दलित साहित्य के विचार पक्ष पर इसका प्रभाव पड़ा। धार्मिक-दार्शनिक असहमति भले ही रही, घृणा को स्थान नहीं मिला।

धर्मान्तरणों का भारतीय समाज की विभिन्न इकाइयों पर ज़्या प्रज़ाव पड़ा, इस विषय में मैं नही जाऊँगा। मैं अपने को साहित्य-क्षेत्र तक सीमित रखूँगा। याने यह कि धर्मान्तरण से साहित्य कैसे, ज़्यों व कितना प्रभावित होता है ? नव-धर्मान्तरण के बाद मुस्लिम बने हिन्दुओं में से कितनों ने साहित्य लिखा, इसकी कोई सिलसिलेवार जानकारी उपलज़्ध नहीं है। यों भी 'नव-धर्मान्तरित' शज़्द एक-दो पीढ़ियों तक ही रहता है, उसके बाद तो वे 'सनातनी' हो जाते हैं। यह भी हो सकता है कि शिक्षा की समुचित पृष्ठभूमि के अभाव में वे रचनाएँ स्तरीय व स्मरणीय न बन पड़ी हों। ईसाइयों के धर्मान्तरण ने साहित्य को ज़रूर प्रभावित किया। हिन्दू धर्म से ईसाई धर्म में अन्तरित अनेक लेखकों ने विभिन्न भाषाओं में साहित्य-सृजन किया है। बांग्ला में माइकेल मधुसूदन दज़ व तरु दज़ तथा मराठी में बाबा पद्‌मनजी आदि ऐसे लेखक हैं, जिन्हें आदर का स्थान प्राप्त है। ये सब आधुनिक काल के आरज़्भिक खंड के हैं। जहाँ तक हिन्दी का सवाल है, पुराने कालखंड में कोई उल्लेखनीय रचनाकार नहीं मिलता। वर्तमान में अवश्य अनेक लेखक स्तरीय लेखन कर रहे हैं।

प्रश्न यह उठता है कि ऐसे नव-धर्मान्तरितों द्वारा लिखित साहित्य की ज़्या विशेषता होती है और ज़्या इसे 'दलित साहित्य' के अन्तर्गत लिया जा सकता है ? इसे समझने के लिए महाराष्ट्र एवं मराठी साहित्य का उदाहरण सामने रखना होगा। भारत में ईसाई धर्मावलज़्बी विदेशी आक्रान्तओं के आगमन के साथ ही मिशनरियों का कार्यकलाप शुरू हो गया था। ब्रिटिश साम्राज्यवाद की एकछत्र स्थापना के बाद तो देशभर में मिशनरियों ने सेवा-कार्य के साथ-साथ धर्मान्तरण का कार्य भी बड़े स्तर पर शुरू किया। महाराष्ट्र में अधिकांशत: पद-दलितों एवं अधिकार-वंचितों ने इसे अपनाया। इसी दरमियान एक ऐसी घटना हुई, जिसने समूचे महाराष्ट्र को झकझोर दिया और नव-चिन्तन की शुरूआत हुई। इस सन्दर्भ में लक्ष्मीबाई तिलक के आत्म चरित्र 'स्मृति चित्र' का आधार लेकर कुछ चचेरी-मौसेरी घटनाओं का वर्णन करना आवश्यक जान पड़ता है।

नारायण वामन तिलक का जन्म एक चित्पावन परिवार में हुआ था। महाराष्ट्र में चित्पावनों की गणना सर्वश्रेष्ठ ब्राह्मणों में होती है। तदनुसार नवयुवावस्था तक वे परज़्परागत उच्चवर्णीय संस्कारों में पले-बढ़े। बाद में ईसाइयों के सज़्पर्क में आये, बाइबल पढ़ी और अन्ततोगत्वा 34 वर्ष की उम्र में सन् 1895 में ईसाई धर्म में दीक्षित हो गये। उनकी पत्नी लक्ष्मीबाई ससुराल में ही रहीं और पति-वियोग तथा बदनामी के कारण भीतर-ही-भीतर रोती रहीं। बाद में ऐसा कुछ योग बना कि लक्ष्मीबाई अपने पति के साथ रहने को तैयार हो गयीं। बशर्ते कि उसे धर्मान्तरण के लिए मजबूर न किया जाए। एक परज़्परागत भारतीय नारी की लाचारी और पति-निष्ठा देखनी हो तो वह लक्ष्मीबाई के चरित्र में देखी जा सकती है। अब स्थिति यह थी कि दोनों एक ही परिसर या भवन में रहते थे, पर लक्ष्मीबाई का चौका-चूल्हा अलग होता था। यहाँ तक कि घर के तमाम कामों के लिए अलग से हिन्दू नौकर-नौकरानी हुआ करते थे। लक्ष्मीबाई अपना धर्मकर्म व व्रत-उत्सव मनाती थीं और नारायण तिलक चर्च जाते थे। बाद में एक बार प्यास से बेहाल होकर लक्ष्मीबाई ने पति के अनुरोध पर विधर्मी द्वारा लाया गया पानी पी लिया। फिर वह विधर्मी लोगों के बीच उठने-बैठने लगीं, अस्पृश्यों के प्रति घृणा-भाव घटने लगा। अन्तत: वह भी ईसाई धर्म में दीक्षित हो गयीं। उनके पति तो मराठी के अच्छे कवि थे ही, वे भी काव्य-रचना करती थीं।

इस प्रसंग को इतना विस्तार देने का कारण यह है कि लक्ष्मीबाई तिलक के माध्यम से ही यह भावना सामने आयी कि 'दलित' साहित्य किस प्रकार आकार ग्रहण कर रहा था। उनका जीवन-काल सन् 1868 से 1936 तक है। उन्होंने अपनी आत्मकथा में 'खिस्त साहित्य सज़्मेलनों' का जिक्र किया है। महाराष्ट्र में ईसाई धर्म में नव-धर्मान्तरित लोगों में शिक्षितों की अच्छी-ख़ासी संज़्या थी। इनमें से कुछ लेखक भी थे। इन्हीं ने मिलकर ईसाई लेखक संगठन बनाए। जब लक्ष्मीबाई को इसमें आमन्त्रित किया गया तो उन्होंने इसका नाम 'मराठी खिस्ती साहित्य सज़्मेलन' कर दिया। तर्क यह था कि 'महाराष्ट्र' शज़्द प्रदेश वाचक है, जबकि 'मराठी' शज़्द भाषा सूचक होने के कारण सीधा साहित्य से जुड़ा है।

यहीं से 'दलित साहित्य' की पगडंडी को आकार मिलना शुरू होता है। पूर्व के सुशिक्षित नव-दीक्षित साहित्यकार आभिजात्य किस्म के साहित्य-सृजन में रत रहे। नव-धर्मान्तरितों में एक वर्ग ऐसा भी था, जो अल्प शिक्षित था। इनमें काव्य-प्रतिभा तो थी, पर विषय, भाषा शैली के मामले में ये एकदम 'कंट्री बांड' थे। इन्हीं लेखकों ने वंचितों को आधार बनाकर साहित्य-सृजन किया है। ऐसे कम पढ़े-लिखे लोगों ने ही निज़्न वर्ण की पीड़ा, कुंठा, अपमान, क्रोध, विद्रोह आदि को अभिव्यज़्ति दी। वैसे सुशिक्षित लेखकों ने भी इस बारे में लिखा है, पर उनके सामने व्यापक परिदृश्य होता था। हालाँकि उस समय 'दलित साहित्य' जैसी कोई अवधारणा या शज़्द-प्रयोग प्रचलन में नहीं था, पर दलित-लेखन की इस व इतनी यात्रा के बाद यह तो कहा ही जा सकता है कि 'दलित ईसाई साहित्य' जैसी चीज़ अस्तित्व में थी। इस सन्दर्भ में यह स्मरणीय है कि महाराष्ट्र में अभी भी 'खिस्त मराठी साहित्य सज़्मेलन' होते हैं— हालाँकि वे अब नव-धर्मान्तरित नहीं रहे। उसी तरह उनका शैक्षिणिक स्तर बढ़ने के साथ ही उनके कथ्य भी बदल गये हैं। यहाँ सवाल उठाया जा सकता है कि ज़्या नारायण वामन तिलक या लक्ष्मीबाई तिलक जैसे सवर्ण किन्तु दलितों के प्रति पूर्णत: प्रतिबद्ध लेखकों द्वारा दलितों-वंचितों के पक्ष में लिखा गया सहित्य 'दलित साहित्य' के अन्तर्गत आएगा ? कुछ कट्टरतावादी तो कहेंगे ही, ''तुम हमारे नहीं हो।''

अब अधुनातन 'दलित साहित्य' के विषय में देख लें। जैसा कि सर्वविदित है, वर्तमान में इस आन्दोलन के मुज़्य सूत्रधार हैं भीमराव अज़्बेडकर। बहुमुखी प्रतिभा के धनी इस व्यज़्ति ने 1948 में 'लोक

अब प्रश्न यह उठता है कि दलित लेखकों ने हिन्दू रहते हुए तो लेखन किया, ज़्या धर्मान्तरण के पश्चात उसमें किसी तरह का परिवर्तन आया? इसका स्पष्ट उज़्र है—नहीं! आज़्बेडकर स्वयं कह चुके हैं कि धर्मान्तरण मंज़िल नहीं, यात्रा का एक पड़ाव है।

शिक्षण प्रसारक मंडल' के अन्तर्गत 'दलित सेवक साहित्य संघ' की स्थापना की। सज़्भवत: इसका उद्देश्य दलित-हितैषी व्यवहारिक लेखन से था, 'साहित्यिक' लेखन नहीं। प्रारज़्भ में इसमें दलित लेखकों के द्वारा लिखे गये 'साहित्य' को लेकर कोई अभियान चलाने की पहल नहीं दिखायी देती। इसके बाद अप्पासाहब रणपिसे द्वारा 'जनता' पत्र में 12 सितज़्बर 1953 को एक लेख लिखा, 'दलित साहित्य का समालोचन'। आगे चलकर सन् 1955 में 'दलित साहित्य संघ' की स्थापना की गयी। यहीं से दलित साहित्य आन्दोलन का स्वतन्त्र व्यक्तित्व स्थापित हुआ। इस प्रकार स्पष्ट है कि साहित्यिक लेखन तो बाद में हुआ, इसके पहले दलित समाज की आर्थिक-सामाजिक-धार्मिक-राजनीतिक स्थिति को लेकर गज़्भीर चिन्तन-मनन-विश्लेषणपरक लेज़न होता रहा। आज़्बेडकर के पूर्व महाराष्ट्र में एक और समाज-सुधारक हो चुके हैं— ज्योतिबा फुले। इन्होंने उच्च वर्णीय/वर्गीय लोगों के द्वारा तमाम निचली जातियों के सभी प्रकार के शोषण का सज़्त विरोध किया था। आज़्बेडकर इन्हें अपना गुरु मानते थे। ज्योतिबा फुले ने हिन्दू धर्म में रहकर ही उसमें सुधार लाने का प्रयत्न किया, जबकि आज़्बेडकर ने धर्मान्तरण का मार्ग अपनाया। तलहटी के लोगों की सामाजिक-धार्मिक स्थिति को लेकर ज्योतिबा फुले ने प्रथमत: कहा, ''मनु स्मृति पाखंड का मूल है।'' (आगे चलकर आज़्बेडकर ने मनु स्मृति को जलाया।) इस प्रकार यह देखा जा सकता है कि मराठी में जब 'दलित साहित्य' अवतरित हो रहा था, तब धर्मान्तरण नहीं हुआ था। बाद में 14 अज़्टूबर, 1956 को बाबा साहब आज़्बेडकर ने अपने लाखों अनुयायियों के साथ हिन्दू धर्म छोड़कर बौद्ध धर्म अपनाया।

अब प्रश्न यह उठता है कि दलित लेखकों ने हिन्दू रहते हुए तो लेखन किया, ज़्या धर्मान्तरण के पश्चात उसमें किसी तरह का परिवर्तन आया? इसका स्पष्ट उज़्र है—नहीं! आज़्बेडकर स्वयं कह चुके हैं कि धर्मान्तरण मंज़िल नहीं, यात्रा का एक पड़ाव है। वे सामाजिक-धार्मिक भेदभाव एवं अस्पृश्यता के उन्मूलन के साथ-साथ समानता का व्यवहार व समाजोन्नति भी चाहते थे। इसी कारण वे धर्मान्तरण के बाद भी दलितों में शिक्षा-प्रसार, स्त्रियों की स्थिति में सुधार तथा आर्थिक विकास के लिए काम करते रहे। दलित लेखकों का स्वर भी उसी तरह तल्ख़ बना रहा। सड़े-गले रिवाज़ों, झूठी पुराण कथाओं तथा अन्यायकारी मान्यताओं के प्रति उनका विरोध कायम रहा, बल्कि अधिक मुखर हो गया। धर्मान्तरण के बाद प्रारज़्भिक वर्षों का लेखन इसी तरह कटुतापूर्ण विरोधी उक्तियों से भरा हुआ है। धर्मान्तरण का यह प्रभाव अवश्य हुआ कि मराठी में बौद्ध धर्म से सज़्बन्धित लेखन प्रचुर परिणाम में हुआ। कुछ दलित लेखक मार्ज़्सवाद से भी प्रभावित थे। इस प्रकार समाजिक उत्थान के साथ आर्थिक उत्थान का स्वर भी जुड़ गया। वैसे दलित लेखन में इन दोनों के प्रतिशत को लेखक मतभेद हैं। उथले विरोध के अन्धड़ में यह भूल जाना अनुचित होगा कि जब आज़्बेडकर हिन्दू थे, तब महाराष्ट्र के कई उच्च वर्णीय लोगों ने भी उनका समर्थन किया था। इसी कारण कतिपय धार्मिक-सामाजिक अमानवीय प्रथाओं के प्रति घनघोर असहृदयता और कट्टर विरोध के बावजूद आज़्बेडकर या आज़्बेडकरवादी समस्त हिन्दू समाज के प्रति घृणा या प्रतिकार का ज़ाव नहीं रखते। सूक्ष्म अध्ययन करने पर एक महज़्वपूर्ण तथ्य और सामने आता है। नव-बौद्ध समाज ने अपने को सिर्फ़ धर्म-परिवर्तन तक सीमित रखा है, भारतीय संस्कृति के शेष साझा तत्वों के प्रति खंडनात्मक रुख नहीं अपनाया, जैसा कि नव-मुस्लिमों या नव-ईसाइयों ने भ्रमवश किया। ग़ुस्से की प्रारज़्भिक बाढ़ को छोड़ दें तो अब यह नदी दोनों तटों के बीच तोड़फोड़ को छोड़कर प्रशान्त गति से बह रही है। कुछ दलित लेखकों-चिन्तकों ने बौद्ध दर्शन और इतिहास को लेकर काफ़ी कुछ लिखा, पर उसमें निहित हिन्दुत्व-विरोध विषैला न होकर कड़वी दवा की तरह है। तात्पर्य यह कि दलित साहित्य पर सदियों से होते आ रहे अत्याचार के विरोध में तथा स्व-वर्गीय उन्नति के पक्ष में होते हुए भी मानवतावादियों के समूह-स्वर के अपने को अलग नहीं करता।

मराठी में दलित साहित्य अभियान के प्रारज़्भिक चरण में कहा जाता था, ''जहाँ हम नहीं दिखते, वह (साहित्य) हमारा नहीं है।'' उसी प्रकार, दलितों की दुरावस्था के विरोध में लिखने वाले दलितेतर साहित्यकारों के बारे में कहा जाता था, ''तुम हमारे नहीं हो।'' बाद में क्रमश: रुख में नरमी आती गयी। प्रारज़्भ में दलित साहित्य की उपेक्षा की गयी— यहाँ तक कि उसे साहित्य की परिज़ाषा के बाहर भी रखा गया। फिर कुछ उच्चवर्णीय साहित्यकारों-पत्रकारों ने उसकी प्रासंगिकता का समर्थन किया। चूँकि दलित साहित्य परज़्परागत सौन्दर्य शास्त्र व आलोचना शास्त्र के निर्धारित प्रतिमानों के अनुकूल नहीं था, अत: उसे स्वीकारने में अभिजात्य वर्ग को हिचक रही। पुनर्चिंतन में यह पाया गया कि कुछ दशक पूर्व संस्कृत काव्य शास्त्र की अनदेखी करते हुए अनेक पाश्चात्य उपादान ग्रहण किए गये हैं, उसी तरह नवीन सामाजिक चिन्तन के सन्दर्भ में दलित साहित्य के आग्रहों को भी ध्यान में रखा जाना चाहिए। जब इस लेखन को मान्यता मिलने लगी, तो दलित लेखकों का रुख भी नरम पड़ा। हालाँकि ये कोई शर्त नहीं थी। दलित लेखक वामन इंगले ने साफ़ कहा है, ''दलित साहित्यिक कृति निर्माण करने के इरादे से नहीं लिखता, कृति उसके कहने की आवश्यकता (या अनिवार्यता)

से निर्मित होती है।'' इस प्रकार दलित लेखन का दलित साहित्य में रूपान्तरण होते ही सह-यात्रा की शुरूआत हुई। वामन इंगले का कथन है, ''दलित साहित्य को समग्र मानवी परज़्परा से अपना नाता जोड़ना चाहिए।'' एक स्थान पर तो वे स्पष्ट लिखते हैं, ''दलित साहित्य में सर्वसमावेशी प्रवृज़ि होनी चाहिए। अदलित लेखक भी दलित लेखकों के प्रेरणास्थल बने हैं।''

हिन्दी प्रदेशों अर्थात् हिन्दी के दलित साहित्य की शैक्षणिक-सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर एक नज़र डाल लेना उचित होगा। यह एक विचित्र बात है कि सज़्पूर्ण भारत के दलितों की समस्याएँ लगभग एक जैसी थीं, पर दलितोत्थान के अभियान की शुरूआत अलग-अलग क्षेत्रों में अलग-अलग समय पर हुई। अँग्रेजों द्वारा प्रत्यक्ष शासित प्रदेशों में शिक्षा का प्रचलन सबसे पहले हुआ। अत: राजा-नवाबों द्वारा शासित प्रदेशों की अपेक्षा वे पहले साक्षर हुए। निज़्न वर्णीयों में जब साक्षरता आयी तो जागरूकता भी विकसित हुई। इसी कारण महाराष्ट्र, कर्नाटक, केरल, बंगाल आदि प्रान्तों में समाजसुधार एवं दलितोन्नति के अभियान अपेक्षाकृत पहले प्रारज़्भ हुए। महाराष्ट्र में देखें तो ज्योतिबा फुले, शाहुजी आदि के प्रयत्नों से दलित-वंचित समाज शिक्षित होकर समझदार हो गया। फिर उन्हें अपनी बात समाज में व्यापक तौर पर पहुँचाने के लिए मुद्रण-माध्यम की ज़रूरत हुई। इस प्रकार दलित पत्रकारिता की शुरूआत हुई। हिन्दी भाषी क्षेत्रों में साक्षरता का विकास देरी से हुआ, अत: आत्मचिन्तन कर भाषिक-अभिव्यज़्ति की क्षमता आने में देरी हुई। धीरे-धीरे हिन्दी क्षेत्रों के शिक्षित दलितों की यात्रा पठन से लेखन की ओर शुरू हुई।

अब वर्तमान हिन्दी दलित साहित्य पर ज़ी एक नज़र डाल लें। वर्तमान में दलित साहित्य अपनी पहचान बना चुका है। समीक्षकों का ध्यान भी इस ओर आकर्षित हुआ है। स्त्री-लेखकों व नाटककारों की अल्पता है, पर उसकी पूर्ति भी आगे-पीछे हो ही जाएगी। दिक़्क़त यह है कि स्थापित होने की जल्दबाजी में वैचारिक उदारता का पालन नहीं हो पा रहा है। अपनी छवि को चरमपन्थी चीते की तरह बताने के लिए कुछ लोग संकुचित रवैया अपना रहे हैं। दलित-समर्थक पुराने दलितेतर लेखकों को सन्दर्भ से काटकर उद्धरण प्रस्तुत करते हुए बदनाम किया जा रहा है। यों देखा जाए तो दलित साहित्य में सामूहिक मानसिकता की अभिव्यज़्ति होती है, पर कुछ व्यज़्ति-केन्द्रित लेखकों ने स्वयं को धर्मराज बताकर अन्य को अधर्मी बताने तक की ग़फ़लत कर डाली। इसके पीछे चर्चा में बने रहने की युज़्ति काम कर रही है।

इस सन्दर्भ में नागपुर में 26 दिसज़्बर, 1933 को हुए 'मराठी खिस्त साहित्य सज़्मेलन' में लक्ष्मीबाई तिलक के व्याज़्यान के कुछ अंशों को प्रस्तुत करना बेहतर होगा। जैसा कि पूर्व में बताया जा चुका है, लक्ष्मीबाई व उनके पति नारायण वामन तिलक ब्राह्मण से ईसाई बने थे। ईसाई मिशनरी इनकी प्रतिबद्धता को लेकर कभी सशंकित नहीं रही। वे कहती हैं, ''यदि हमें अपने साहित्य की वृद्धि करनी है, तो हिन्दू कहावतों-मुहावरों या पौराणिक सन्दर्भों के विरुद्ध विचार रखने से काम नहीं चलेगा। साहित्य-सेवक ईसाइयों को अपना एक अलग पन्थ नहीं बनाना है। उन्हें नये के साथ पुराने से भी सज़्बन्ध बनाए रखना है। दोनों अतिवादी रुख से बचना है।'' इसीके साथ मराठी दलित साहित्य में गूँजे एक प्रकरण पर विचार कर लेना उचित होगा। जैसे हिन्दी-क्षेत्रों में हिन्दू सन्त कवियों ने अस्पृश्यता का निषेध किया है, उसी प्रकार महाराष्ट्र में भी हुआ है। सन्त एकनाथ अत्यन्त उदार माने जाते थे। प्यास से तड़पते गधे को देखकर उन्होंने अपने पास का गंगाजल उसे पिला दिया था। उसी प्रकार एक महार के बालक को गोद में उठाकर अपनी नाक पौंछी थी। इन्होंने एक महार के घर भोजन भी किया था। एकनाथ का एक भारुड (एक काव्य प्रकार) है, जिसमें कवि ने स्वयं को एक महार मानकर ईश्वर को सज़्बोधित किया है। उस समय महार उच्च वर्णीय दबंगों को मायबाप कहते हुए जोहार करते थे। इस कविता में बताया गया है कि किस प्रकार महारों को दिनरात काम करना पड़ता है तब कहीं रोटी नसीब होती है— वह भी माँगनी पड़ती है। उसे ग्रामप्रमुख का कहना मानना ही पड़ता है, नहीं तो उसे लात पड़ती है। दास्य-भाव के कारण ही एकनाथ ने अपने को महार के रूपक में रखा है। यहाँ एक वाज़्य प्रयोग उल्लेखनीय हैं कि महार को 'बदमस्ता' कहा गया है। यह शज़्दप्रयोग एकानाथ ने स्वयं नहीं किये हैं, पात्रों के मुँह से आये हैं। कुछ लोगों ने आरोप लगाया कि इन शज़्द-प्रयोगों के पीछे एकनाथ का सवर्णत्व बोल रहा है। यहाँ उनकी साहित्यिक समझ पर उँगली उठायी जा सकती है। एकनाथ ने उस समय के महारों की अमानवीय दुर्दशा का यथार्थवादी चित्रण किया है। ऐसे में उस समय प्रचलित कहावतों, मुहावरों, वाज़्य-प्रयोगों या उज़्तियों का आना स्वाभाविक है। निश्चित रूप से ये अपमानास्पद शज़्द-प्रयोग हैं, पर स्वयं एकनाथ ने नहीं किये हैं। प्रेमचन्द द्वारा अपने दलित पात्रों के सज़्बन्ध में किये गये शज़्द-प्रयोग भी इसी सन्दर्भ में देखे जाने चाहिए। साहित्य की मूल धारा से जुड़े रचनाकार व समीक्षक जानते हैं कि अभिधार्थ प्रधान काव्य हीन कोटि को होता है। साहित्य में हमेशा लक्षणार्थ व व्यंग्यार्थ से ही मर्म ग्रहण किया जाता है। दंडनायकतावादी नौकरशाही प्रवृज़ि तात्कालिक लाभ भले ही पहुँचा दे, पर इससे साहित्य का भला होने वाला नहीं है। प्रेमचन्द के कन्धे पर बन्दूक रखकर लोकप्रियता, सर्वोज़्मता या अनन्यता के खरगोशों का शिकार करना व्यज़्तिगत स्वार्थ साधना ही है। इस हिसाब से देखा जाये तो हिन्दी के दो सन्त कवि अत्यन्त नीच व्यज़्ति सिद्ध होते हैं। तुलसीदास ने अपने बारे में लिखा है, 'मो सम कौन कुटिल खल कामी'। सूरदास का पद है, 'हौं सब पतितन कौ टीको'। यहाँ समुचित भावभूमि के सन्दर्भ में अर्थ ग्रहण करने की ज़रूरत है। किसी शज़्द या वाज़्य को पूर्वापर सन्दर्भ से काटकर गर्मागर्म फ्राय फिश प्लेट के रूप में पेश कर देना आसान है, पर समाज में आ रहे वैचारिक बदलाव के पहचान-चिह्नों को दूषित करना उचित नहीं।

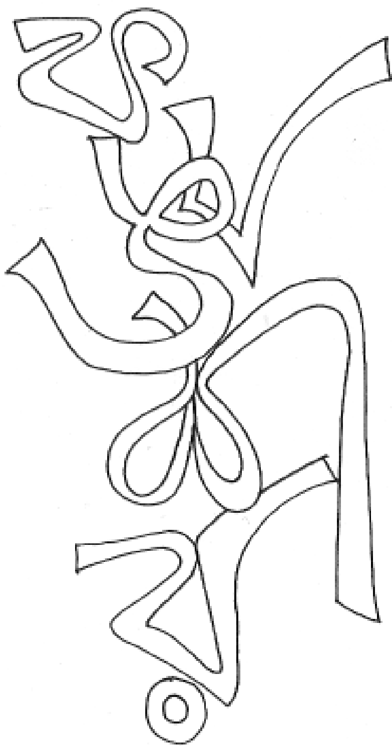
इस आलेख का अन्त लक्ष्मीबाई तिलक के विचारों से करना ही उपयुज़्त होगा— 'अभी हम पृथक सज़्मेलन कर रहे हैं, पर हमारी चाह है कि ईसाई साहित्यकार सामान्य साहित्य सज़्मेलनों में भाग लें। पृथक सज़्मेलन पहली कक्षा है, इसके बाद ही हम आगे बढ़ सकेंगे। बीस वर्षों के भीतर ही साहित्य क्षेत्र का जाति-भेद समाप्त हो जाएगा।'

72, पत्रकार नगर
इन्दौर-452 018 (मध्य प्रदेश)
मो.: 0942531987

पंचमी...

(एक स्मृति उत्सव)

प्रेम रंजन अनिमेष



पाँचवें महीने की पाँचवीं तारीख़ थी। सहसा उसे याद आया। आज से पाँच साल पहले इसी दिन उसका प्यार उससे अलग हुआ था। पाँचवाँ प्यार जिसने जीवन के पाँच साल उसका साथ दिया था। इन सभी मुहब्बतों के बावजूद वह उतना ही सीधा सच्चा मासूम बना और बचा रहा जैसा इनके पहले था। आबाद इस ज़माने में तो कोई बिरला ही होता है, पर यह था कि किसी प्यार ने उसे बरबाद नहीं किया था। कहानी में आ रहा यह 'वह' भला कौन है? यह सर्वनाम कुछ काम-वाम करता है या अब तक उतना ही नाकाम है! कहानीकार के तौर पर अब तक इसे ज़ाहिर नहीं किया। बताने की ज़रूरत भी नहीं क्योंकि कहानी की सेहत को इससे ज़्यादा फ़र्क़ नहीं पड़ता! बहरहाल... आयें चलें आगे और कहानी का सूत्र पकड़ें। तो उसे ध्यान आया कि पाँच का यह कैसा अद्भुत सुयोग है! अहसास हुआ, बल्कि गहराया कि यह पाँच उसके जीवन में कितना ख़ास है! और लगा इसे तो मनाना चाहिए। पाँच साल पहले पाँचवें महीने की पाँचवीं तारीख़ को बिछड़े पाँचवें प्यार की पुण्यतिथि। बेहतर तरीक़े से। कुछ अलग अनूठे ढंग से! और हो सके तो पाँच दिनों तक। अभी समय था। अच्छा हुआ कि सुबह-सुबह ख़्याल आ गया। सोच-विचार कर तय किया उसने कि अपने उस प्यार की याद में अगले पाँच दिन तक रोज़मर्रे से हटकर रोज़ पाँच अनोखे यादगार काम अंजाम देगा। दिमाग़ पर और ज़ोर डालकर कुछ ऐसा ख़ाका बनाया। पहले दिन पाँच शहर के पाँच अनजान जगहों पर जाकर पाँच अनजान लोगों से मुलाक़ात करेगा। दूसरे दिन पाँच अनजान लोगों के साथ खाना खायेगा और तीसरे रोज़ पाँच अनजान लोगों की मदद करेगा। जुदा हुए प्यार के इस यादगार 'उत्सव' के चौथे और पाँचवें दिन की योजना फ़िलहाल ज़हन में नहीं आ पायी थी। सोचा आगे सोच लेगा...।

पहला दिन— पाँच अनजान लोगों से मुलाक़ात

सबसे पहला काम उसने किया कि 25 रुपये वाला बस का दैनिक पास यानी दिन-भर का टिकट निकाल लिया। प्यार से जिसे सारा दिन मारा-मारा फिरने का अनुज्ञापत्र भी कहा जा सकता था। अब वह इधर-से-उधर... उधर से किधर... इस नगर के अनजान कोनों में कहीं जा सकता था किराये में बिना कुछ और ख़र्च किये। वे इलाक़े कौन-कौन से होंगे यहाँ... जिधर अब तक कभी नहीं गया? सोच के घोड़े दौड़ने के लिये छोड़े। कोई चाबुक फटकारे बिना पीठ पर। किस बस में बैठे और बैठकर बस वाले को क्या कहे? ये सारे सवाल, यह झिझक और संकोच शुरुआत करने तक होती है। पता था, एक बार यात्रा आरम्भ कर देने के बाद रास्ते आगे खुलते जाते हैं जिन्हें प्रस्थान बिन्दु पर खड़े-खड़े



देखना मुश्किल होता है। राम-कृष्ण के नाम पर तो मुहल्ले तक़रीबन देश के हर शहर में हैं। उसी तरह एम जी रोड, राजेन्द्रनगर, नेहरूनगर, इन्दिरानगर, राजीवनगर... ! यहाँ पर रामनगर वह अब तक नहीं गया था। पहला ठिकाना उसे रखा जा सकता था। उधर कैसे-कैसे और किस बस से जाएगा पूछ लिया। बस ने बाज़ार में उतार दिया। अब वहाँ किस अनजान से मुलाक़ात करे... ? कुछ देर सिर को सहलाता रहा। फिर आगे बढ़कर भीड़ में पुकारा ''बिट्टू! ओ बिट्टू ऽ !''

आवाज़ से कुछ चेहरे फिरे, पर आवाज़ की ओर बढ़े नहीं। वे बिट्टू नहीं थे। वह भीतर से कुछ भारहीन महसूस करने लगा। जैसे ज़मीन पर हवा के पाँव रोपकर खड़ा हो। शायद पहली ही जगह से ख़ाली और मायूस लौटना पड़ेगा!

''बिट्टू! ओ बिट्टूऽ !'' लौटने से पहले उसके भीतर किसी ढीठ ने फिर दुहराया। इस बार ज़रा खोखले स्वर में। जैसे नीचे सिर झुकाये कोई हवाई फायरिंग कर रहा हो। आँख चुराकर फिरने को था कि रुकना पड़ा। कोई बढ़ रहा था उसकी ओर। एक बूढ़ा सरदार। हाथ में लाठी। सादी मैली पगड़ी। बिट्टू ज्या उसके बेटे या बेटी का नाम था... ?

''बिट्टू मेरा नाम है!'' उसने पास आकर कहा।

''ओहो! मैं... ज़्मैं असल में अपने दोस्त को ढूँढ़ रहा था। उसने इसी समय आने को कहा था। यहीं...।'' उसने सकपकाते और अपने को सँभालते हुए कहा।

''मैं भी दुश्मन नहीं किसी का...।'' वह हँसा। ''...जब एक बिट्टू तुज़्हारा दोस्त है तो हर बिट्टू तुज़्हारा दोस्त हुआ। बिट्टू होते ही हैं ऐसे। चलो तुज़्हारा बिट्टू जब तक आता है दो बातें मेरे बिट्टू से करते हैं।''

''आपका बिट्टू!''

''मेरा बिट्टू मैं!'' वह फिर हँसा। ''चलें थोड़ी देर बैठते हैं उधर। तब तक शायद वह भी आ जाएगा जिसका इन्तज़ार मैं कर रहा।''

वह तो चाहता ही यही था।

''ज़्या सच में आप बिट्टू.... ? इतने बड़े आदमी का नाम... ज़रा अटपटा लगता है।''

''बड़ा कहाँ! छोटा आदमी हूँ मैं।'' वह तीसरी बार हँसा। ''...और मेरा कोई और नाम है ही नहीं बिट्टू के सिवा। बचपन से अब तक।''

फिर वह अपने बारे में बताने लगा। बँटवारे के समय उसका परिवार सरहद उस पार से चला था और बिछड़ते जाने के एक लज़्बे और इज़्तिहान लेने वाले सफ़र में आख़िर अपने को अकेला इधर आने वाली गाड़ी में पाया। तब न कोई यह छोटा नाम पुकारने वाला था न बढ़ती उम्र के साथ कोई और नाम देने वाला!

जिसका इन्तज़ार वह कर रहा था उसने आकर आवाज़ दी सरदार को। हँसता उसकी पीठ थपथपाता बूढ़ा बिट्टू चला गया। आँखें कुछ नम कर। यह मुलाक़ात तो ख़ैर दिल भरने वाली मुलाक़ात थी। एक प्यार की यादगार में शुरू किये इस स्मृति पर्व की कुछ वैसी ही शुरुआत!

अब ? ज़्यादा सोचना नहीं पड़ा। बुद्ध कॉलोनी! नाम खट से उछलकर होठों पर आया। वो बस देखो जा रही है...। पीछे वाले कंडज़्टर ने आगे जाती बस की ओर हाथ दिखाया। दौड़कर सवार हो गया वह। वहाँ किससे मिलना था ? श्यामल से!

कॉलोनी पहुँचा तो सोचा घर जाकर मिलते हैं! सामने जो अपार्टमेंट था उसकी तरफ़ रुख़ किया। फाटक के पास बैठे चौकीदार ने टोक दिया, ''किधर जाना है ?'' नाम तो था एक ज़हन में। बस नाम ही।

''वो... श्यामलजी के यहाँ।''

''कौन श्यामल ? सिन्हा ?''

''हाँ, हाँ।''

''जर ज़मीन का काम है जिसका ?''

''आँ हाँ! मकान नज़्बर थोड़ा भूल रहा हूँ।''

''सीधे जाकर बाँयें। आख़िर में। 208। नाम लिखा होगा।''

ज़्लैट तक जाने में कठिनाई नहीं हुई। घंटी बजाते कुछ तरंगें ज़रूर महसूस हुईं, पर अपने को सहज किया। बस मुलाक़ात की बात है।

दरवाज़ा जिसने खोला शायद श्यामल वही हो ऐसा अनुमान किया। कैसे ? चेहरा थोड़ा मटमैला-सा था।

''जी! श्यामलजी... !''

''हाँ मैं ही हूँ। काम ज़्या है ?''

''ज़्या बैठ सकता हूँ... ?'' उसने निवेदन किया।

''बैठो। कहो!'' श्यामलजी भी बैठ गये। ''...बोलो ज़्या कुछ ज़्लैट-व्लैट चाहिए... ? किराये पर कि ख़रीदना है ?''

''हाँ... नहीं...। किराया नहीं।''

''ख़रीदना है! किधर ? बजट कितना है ? लोन से लेना है कि ऐसे ?''

''वो दरअसल मेरे चाचाजी हैं। यहाँ तबादले पर आने वाले हैं। उनको किसी परिचित से हवाला मिला आपका। मैं यहाँ रहता हूँ इसलिए मुझे कहा कि मिलकर ज़रा बात करूँ। फिर ख़ुद भी आएँगे... जब आएँगे।''

''करते ज़्या हैं?''

''चाचाजी? जी। वो... बीमा कज़्पनी में हैं।''

''ओ!''

फिर श्यामल ने जैसे साड़ी की दुकानवाला एक के बाद एक नयी साड़ियों की रंगों की झाँस फैला नाक में दम कर देने वालीं जानकारियों का पुलिन्दा सामने रखना शुरू कर दिया। इस तरह कि उस धाराप्रवाह को थामना दूभर था। आदमी से मिलने आया था, व्यवसायी से सामना हो गया... उसने सोचा।

''...दूसरे सब इस लाइन में दूसरे की नहीं सोचते। पर मैं किसी अपने ग्राहक को दूसरा नहीं सोचता। वही बताता हूँ जिसमें कुछ भी लाग-लपेट न हो। जिसे ख़ुद लेना हो तो चुनता वैसा! बाक़ी से धन्धा मेरा अलग है। हर तरह से साफ़...।''

सिर्फ़ मतलब की बात होगी तो मुलाक़ात ज़्या होगी... लगा उसे। सौदे ख़रीदारी की पूछपेख बहुत हो चुकी थी। इसलिए बात को मोड़ने की कोशिश की।

''यह नाक के पास ज़्या हो गया है? कबसे... ?'' उसने उँगली से उधर इशारा किया।

वह थोड़ा अचकचाया। पल दो पल के लिए। फिर हँसा, ''फोड़ा है भाई!''

''कितने दिन हो गये?''

''अरे माँ तो कहती थी बचपन से कि मेरी तो नाक पर ही फोड़ा है। ग़ुस्सा बहुत आता था न! ख़ूब पिनपिनाता था इसलिए। लेकिन यह... इधर हुआ। कुछ वज़्त से परेशान कर रहा है।''

''फोड़ा है इसीलिए फोड़ा नहीं करते इसे! भूल से भी। माँ कहा करती थी मेरी। आपने लेकिन लगता है हाथ लगा दिया था इसे। इसीलिए भगन्दर जैसा हो गया। वैसे इसका एक बहुत सहज इलाज है। मुझे पता है। एक पज़ा है...।''

''कहाँ?'' नासूर की तक़लीफ़ से निजात की किरण दिखते श्यामल की उत्सुकता जगी।

''पौधे पर! और वह पौधा नीचे ही होना चाहिए। आते समय अहाते में लगा कि मैंने देखा था। चलिये अभी चलकर देखते हैं!''

''चाय पी लो। फिर चलेंगे!'' कहा आतिथेय ने। अब बात कुछ मुलाक़ात-सी बन रही थी।

''नहीं, नहीं। धन्यवाद! उसकी ज़रूरत नहीं। अभी यह फोड़ा ज़रूरी है। मतलब इसका उपाय। उस पज़े को ख़ाली तीन दिन पीसकर लगा लेने से पूरा सफ़ाया हो जाएगा। फोड़ा तो फोड़ा...''

''नाक बची रहेगी न?''

''आँ हाँ! बेशक़। वो तो लाज़िमी है...। उसके बिना काम कैसे चलेगा! रखनी ही होगी...।''

नीचे उसने पौधे की पहचान करायी। श्यामल ने फिर उसका मोबाइल नज़्बर लिया और अपना दिया।

''लगाकर देखूँगा मैं! रात को थोपकर सो जाऊँगा। वैसे तुज़्हें कैसे मालूम हुआ इसके बारे में?'' तफ़्तीश की श्यामल ने।

''वो... एक बंगाली साथी था मेरा... !'' फिर एक कहानी बनायी और सुनायी। तुरन्त। और उतनी ही फुर्ती से साथ वाले ने भी तीन चार ज़्लैटों का आगा-पीछा बता दिया। '...उन्हें बताकर बताने से आपको बताऊँगा' कहकर ली आज्ञा। अगली अनजान मुलाक़ात के लिए।

दरगाह और गुरुद्वारा हर जगह होता है। यहाँ इन दोनों ठिकानों की तरफ़ कभी नहीं गया था। बुद्ध के इलाक़े से निकला तो ख़्याल आया, पहले दरगाह को जाने वाली बस पूछें। नयी या पुरानी? बताने वाले ने पूछा। नया है वह तो पुरानी जगह जाए— सोचा। बस का नज़्बर मिल गया और उस नज़्बर की बस भी। वहाँ जाकर पहली तरक़ीब लगायी। सामने के नाके पर जहाँ बज़ी अभी लाल थी, खड़े होकर आवाज़ दी, ''करन ओ करन! अबकी भी सुनकर पलटा नहीं कोई। ख़ुद पलटने से पहले मुड़कर आवाज़ लगायी। फिर एक बार ''...करन ऽ... करन ऽऽ!''

नाम तो मिलने वाला था! सहज और आसान। लेकिन यहाँ नहीं होगा कोई अभी। दिलासा देकर ख़ुद को वापस चलने को था कि कन्धे पर हाथ पड़ा।

''ज़्या है रे!'' आवाज़ आदमी और औरत के बीच की थी। जैसे एक के गले से निकलकर दूसरे में हो जा फँसी हो। देखकर पुष्टि हो गयी। ''...कह मुझे ज़्यों आवाज़ दे रहा है। वो भी दिन-दहाड़े... ! ऐसा-वैसा-कैसा काम है रे?'' साँवली रंगत पर गहरी लाली फैली हुई थी।

''तुज़्हें नहीं ...वो मैंने किसी और को...।'' इस बार वह सचमुच हड़बड़ा गया।

''आवाज़ दे ही दी तो घबराता काहे को है प्यारे! और कौन होगा एक साथ करन और किरन अपने सिवा! कह न काम है ज़्या? सीधा कहने का। नहीं घबराना। अभी हो जाएगा। अभी का अभी। फुल गारंटी। दिन में हमारी ज़बान मर्द की ज़बान होती है और काम भी वैसा इच...।''

''काम नहीं। बस मिलना था...।''

''मिलना ज़्या। बता, बता! कैसा वाला?''

''कुछ नहीं। बस कुछ बात...।''

''वही तो! कुछ बात है मैं समझ सकती। सकता। हा हा।'' वह हँसा। ''...अरे कह ना! कह भी दे। चल! पैसे कौड़ी की फ़िक्र न कर। जितने टेंट में होंगे वही तो जाएँगे। हाल अहवाल देखकर लगता तो नहीं होंगे ज़्यादा। फिर काहे को डरता...। जा लौटने का बस भाड़ा भी माफ़ किया।''

''नहीं! उसके लिए तो पास है अपने पास!'' सीधेपन में सच-सच निकल गया मुँह से। फिर सँभलकर कहा, ''बस कुछ बात करनी थी! बस एक छोटी सी मुलाक़ात...।''

''ओ हो! इस्टोरी वाला है! नया-नया है। लिखेगा हम पर तो कुछ मिलेगा। चल अपना नहीं तो किसी का काम बने।''

''काम नहीं... बस कुछ बात...।''

''अरे तो वही! बात ही बने। चल बैठ ले। वैसे भी सिग्नल अभी चालू हो गया है। चल अगली बज़ी से पहले अपना काम निबटा ले... इस्स! मतलब अपनी बात बना ले... चल ना...चल चल!''

एक तरफ़ दूर तक ख़ाली ज़मीन थी झाड़-जंगल से भरी। इधर ही वे रातें

गुलज़ार करती थी या करते थे। हा हा! वह वहीं एक तरफ़ उसे लेकर बैठ गया। ''...पता है तुम लोगों का मेहनताना हमसे भी कम होता है! नये-नये लिखने वालों का। तुम पूछो उसमें टाइम निकालने के बदले अच्छा है सीधे-सीधे हम ही बता दें। अगले से पहले हम ही खोल देते। लाग लपेट किसलिए? मेरे ही मुँह से सुन लो। खरी खरी...।

''पिता की याद नहीं। लड़ाई में मारे गये थे। माँ ने छुपाने की कोशिश की थी। पर चाचा ने ही ऐसे होने की बात उन लोगों की टोली तक पहुँचा दी थी और एक दिन वे आकर ले गये अपने संग...! करन-किरन ने शुरुआत हँसी ख़ुशी से की पर आपबीती बताते-बताते आँख ज़रा भर आयी। ...ले जा! लिख देना सब अच्छी तरह से। छाप देना! हाँ मगर फोटू-वोटू फेरे में न रहना। फिर उतना नहीं जमेगा। ऐसी ही हमारी कहानी दमदार लगेगी। सीधी और साफ़। वैसे भी कोई सूरत सामने न हो तो दिमाग़ बेहतर सोचता है और मन ज़्यादा भली तस्वीर बनाता है...। चल जा प्यारे! अब कुछ धन्धा पानी हो!'' पीठ पर धौल धरते कहा उसने।

करन पुकारते ज़ुबान फिसलकर उसके साथ किरन न कह बैठती तो शायद उस दोहरी आत्मा से भेंट न होती। लेकिन यह मुलाक़ात भी भूलने वाली नहीं थी। इसी धुन में खोया अगले पड़ाव के लिए चल दिया।

टिकट के लिए कंडक्टर ने हाथ बढ़ाया। उँगलियाँ जेब में डाल किसी तरह उस नन्हे नाज़ुक टिकट को ढूँढ़कर निकाला। टिकट जो देखने में साधारण टिकट की ही तरह होता... वैसा ही हल्का और नाज़ुक, मगर पूरे दिन का। ऐसे किसी भी साधारण सरकारी बस के लिए। बस यह था कि भूलने का अन्देशा लगा रहता। खो जाने पर पचीस का पलथा पड़ जाता और चेकिंग हो तो लग जाए और सौ! उँगलियाँ चलाकर उसे सीधा किया और दिखाया। 'जाना कहाँ है!' देखकर टिकट फेरते कंडक्टर ने पूछा। वैसे मतलब क्या था उसे जब दैनिक पास था उसके पास। बोलने को ऐसा बोल सकता था। मगर जैसे फिर भी उसने पूछ लिया जवाब भी दे दिया उसे। ''गुरुद्वारा!''

''गुरुद्वारा?''

''हाँ। गुरुद्वारे की तरफ़ जाती तो है न यह बस? बताया तो ऐसा ही था।''

''हाँ बस तो जाती है उधर से। पर बता तू क्यों जा रहा है वहाँ?'' कंडक्टर ने आँखें जैसे उसके भीतर धँसाते बड़ी बेधक और गहरी ठिठोली की।

''पगड़ी बाँधना सीखने!'' उसने भी कहा छूटते।

बतकही में ध्यान नहीं रहा कंडक्टर को कह दे गुरुद्वारा वाला पड़ाव आने पर बता देगा। न ही कंडक्टर को ख़ुद याद आया। वैसे भी वे उस बत्ती की तरह होते हैं जो जिसके पास जाएँ बस उसी का चेहरा और उतनी ही देर के लिये रोशन हो। वह तो भलमनसाहत पीछे की सीट पर बैठे मुसाफ़िर की, जिसने बात सुनी थी उनकी और सहसा उसे सुध आ गयी। ज़्यादा देर नहीं हुई थी। तब तक केवल एक पड़ाव आगे गयी थी बायें बस।

उतरकर भी थोड़ी देर दुविधा रही। बायें जाए, दायें जाए? पुकारे किसी को भीड़ में या कोई दर खटखटाये। फिर दुविधा के बीच से ही हल मिल गया। निगाह उस तरफ़ गयी जहाँ एक बन्द दुकान के आगे सीढ़ी पर एक वृद्धा चुपचाप उदास-सी बैठी थी। जैसा उसने पहले सोच रखा था उसके मुताबिक़ तो किसी नन्द से बात करनी थी पर लगा कि अभी उस औरत से बात करना ज़्यादा ज़रूरी है। दादी को शायद किसी बोलने, बतियाने, पुछार करने वाले की अधिक ज़रूरत थी।

''क्या तक़लीफ़ है दादी...!'' पास जाकर वह भी वहीं सीढ़ी पर बैठ गया।

''तक़लीफ़ का क्या कहा जाए बबुआ। बुढ़ापा तो अपने आप में एक तकलीफ़ है...।'' दादी बोली। लहज़े में मायूसी थी।

''वह तो सबके लिए है। किसी का उस पर ज़ोर नहीं। पर इतनी उदास क्यों हैं! बात क्या है? कुछ न कुछ तो है ज़रूर...!'' उसने किसी बड़े तजुर्बे वाले की तरह पूछा।

''तक़लीफ़ का ऐसे देखो तो कोई नहीं है। और पूछो तो क्या नहीं ...!'' दादी खुल गयी। बताने लगी, ''इधर बेटा निकलता है काम पर और मैं भी निकल जाती हूँ घर से। बहू चैन से रहने नहीं देती। कहीं भी निकल जाती हूँ। मन्दिर... मैदान... बाज़ार...! दिन प्रसाद-पानी पर ही कटता। हफ़्ते में एक दिन यहाँ आती हूँ। इस डागदर के पास। आज आयी तो है नहीं। पिछले हफ़्ते भी नहीं था...।'' बूढ़े चेहरे पर निराशा फिर उतरा गयी।

''किस चीज़ का इलाज़ चल रहा है? क्या दिखाना था?'' उसने पूछा।

''ऐसे तो इलाज़ कराने लायक बहुत कुछ है। लेकिन सच कहूँ यहाँ दिखाने की गरज से नहीं आती। दवा लेने का बहाना है। यह डागदर ख़ूब सुभाव वाला है। बहुत अच्छे से बातें करता है। आदर देता है। अच्छा लगता है! थोड़ा सुकून मिल जाता है। इसलिए आ जाती हूँ। बाकी छोटी-छोटी शीशियों में छोटी-छोटी मीठी गोलियाँ देता है जो वह तो भुलौना है। पता है। लेमनचूस हम बूढ़ों का...!'' माई विहँसी। मसूढ़े दिखाये। पावन धूप-सी निश्छल हँसी! ''...पहले महीने की फ़ीस थी। अब हफ़्ते भर बाद आओ तब भी लगती है। पचास रुपये। क्या करें घर परिवार चलाना होगा इनको भी तो। बगल वाले ने बताया डागदर बीमार पड़ा है। पीलिया हो गया है। जाने कब तक पड़ा रहेगा। दवाखाना कब खुलेगा। राम जाने! एक कम्पाउंडर था। बहुत ठिठोली करता था और तंग भी। देखो वह भी नहीं आ रहा। दुकान बन्द है तो क्या उसे पैसे मिलते होंगे? उनका ख़र्च कैसे चल रहा होगा। मुझे चिन्ता हो रही है। जी में आता है जाकर देखूँ उन्हें। मगर पता नहीं मालूम...!''

बूढ़ी दादी ने दिल की सब कह दी। कहकर उन्हें अच्छा लगा और सुनकर उसे।

''चल आज तुझसे ही बातें हो गयीं इतनी सारी। मन हल्का हो गया।''

''और वह भी बिना फ़ीस के ही दादी!'' उसने चुटकी ली।

''अरे यह तो तूने अच्छी याद दिलायी। डागदर ने नहीं आज तो तूने ही सुनी मेरी। तो यह फ़ीस भी तो तेरी हुई!'' वह गाँठ खोलने लगी।

''नहीं रे दादी। क्या कर रही है!'' उसने मना करना चाहा। पर दादी ने एक न सुनी। पैसे उसकी कमीज़ की जेब में रखकर मानी।

''तू समझेगा नहीं। इसे देकर मन और हल्का हो गया। जा इससे कोई और अच्छा काम कर लेना। अब तू अपना काम निपटा। हमारा तो कोई काम है नहीं। अभी कुछ देर में चलूँगी...।'' दादी ने कहा। वह चला। पर छोड़कर जाने का मन नहीं कर रहा था। तय किया था जिससे मिलने का... नाम जो सोचकर चला था उससे नहीं... इस दादी से भेंट हुई। तो क्या हुआ! यही अच्छा था। बस जो सोचा, वैसा नहीं हुआ। सोचा हुआ नहीं होना भी अच्छा ही है। अपनी सोच की तो सीमा होती है। सब सोचा हुआ ही होगा तो

सोच से आगे की दुनिया रह जाएगी... ! आगे जाकर फिर मुड़ा। जल्दी उसे भी ज़्या ! चार मुलाक़ातें तो हो गयीं, बस किसी एक और अनजान जगह किसी एक और अनजान से मिल लेना आज। चलकर तब तक वहीं थोड़ी देर बैठ ले और जहाँ बूढ़ी दादी बैठी। मगर पीछे लौटकर देखा तो वह उठ रही थी। अपनी धुन में कुछ कहती। उसे देखते देखा नहीं। 'चलो... उठो अब नन्दकुमारी... !' घुटनों पर हाथ रखते धीरे से उठते कहा दादी ने मानो जीवन का सारा भार लेकर उठ रही हों हौसले के लिए अपने को सज़्बोधित करते। नन्दकुमारी ! तो दादी का नाम नन्द ही था ! उसे ख़ुशनुमा हैरानी हुई। स्त्री और नाम नन्द... ! यह भी अचज़्भा ही था। लेकिन जब किसी लड़की को मूँछें हो सकती हैं, हल्की-हल्की तो औरत का नाम नन्द या नन्दकुमारी ज़्यों नहीं ! सोचकर मन-ही-मन वह हँसा। बिना झुर्रियों की हँसी पर उतनी ही अबोध, जितनी झुर्रियों वाले उस चेहरे पर थोड़ी देर पहले थी।

दिन अब ढलान की ओर था। चार मुलाक़ातें हो चुकी थीं। पर थकान नहीं, बल्कि वह नयी स्फूर्ति महसूस कर रहा था। पिछली भेंट ने भीतर एक हौसला भर दिया था। इसलिए तय किया अगले पड़ाव पर फिर भीड़ में खड़ा होकर नाम पुकारेगा। पाँचू ओ पाँचू... ! पुकारा उसने। भीड़ हो तब भी ज़रूरी तो नहीं मन में जो है, उस नाम का कोई आदमी बाहर हो ही। पाँचू...पंचू... पुचू ओ ऽ... ! पुकारा फिर से... फिर भी। भरे हुए बाज़ार में एक किनारे। फिर एक बार पुकारता। मुड़कर जाने से पहले शायद पाँच बार ! पर तभी तेज़ी से भागता छोटे क़द का एक बन्दर सामने आ खड़ा हुआ उसकी पतलून पर अपने दोनों हाथ रगड़ता। गले में पतली सिकड़ी थी। बन्दरवाले ने बाँधी होगी। पर वह कहीं नज़र आ नहीं रहा था अभी।

''अरे कुछ नहीं है इनमें... । ख़ाली हैं ये जेबें ! पतलून ज़रूर ख़राब हो जाएगा।'' उसने बन्दर को प्यार से पुचकारा।

वह उछलकर कन्धे पर बैठ गया। देखा जिसने, देखकर हँस पड़ा। इतना-सा था पर था सयाना। ज़रूर उसे पता चल गया होगा कि ऊपर कमीज़ की जेब में ही कुछ है। पचीस का मुड़ा-तुड़ा दैनिक पास और पचास का नोट ! देखकर हँसने वाले बढ़ गये थे। पर एक कोई था चिथड़े कपड़ों खिचड़ी दाढ़ी वाला जो क़रीब ठिठका, भरी आँखों से उसे देखे जा रहा था।

''ज़्या बात है ?'' टोका उसको।

''यह मेरा है... ।'' दाढ़ी वाले ने उसके कन्धे पर बैठे बन्दर की ओर किया इशारा। ''आज कितने वज़्त बाद... बल्कि सालों बाद यह पुकार सुन अभागा भागा आया है... !'' कहकर वह रोने लगा।

''...हम खेल दिखाते थे। मैं, यह और बेटा मेरा। पाँचू ! चार औलादों के हो-होकर चल बसने पर हुआ था। सो बचने के लिए उसे यही नाम दे दिया था। जो माँ जनम देकर गुज़री उसकी पेट में था तभी। पर होश सँभालते वह इस बन्दर को ही पुकारने लगा अपने नाम से। पाँचू... पंचू... पुचू ओ ऽ... ! और यह जाकर उससे इसी तरह लिपट जाता। गली शहर घूम-घूम कर हम खेल दिखाते। बाँस पर अलगनी जैसी रस्सी बाँध देता। बेटा उस पर करतब दिखाता। इधर बन्दर अपने। भाले से झूलता आग वाले छल्ले से छलाँगता। ज़्या करें ! दोनों छोटे थे। दोनों बेटे जैसे। पर पापी पेट के लिए... ! एक बार ऐसी अनहोनी हुई कि आग के छल्ले के भीतर से सही सलामत कूदकर जैसे ही यह निकला भीड़ में से किसी ने जोम में अपनी जलती सिगरेट इस पर फेंक दी। आग के छल्ले से सही सलामत निकल कर ख़ुश था, पर इस बात के लिए तैयार नहीं था यह बेज़ुबान। अंगार इसकी पीठ से सट गयी और यह चीख़ पड़ा। रोयें जल रहे होंगे। चीख़ सुन पतली रस्सी पर करतब दिखाते बच्चे का ध्यान गया... सन्तुलन बिगड़ा और वह नीचे आ गिरा। चोट भीतरी थी। औक़ात-भर दवा-दारू करायी। थोड़े दिन बाद कुछ ठीक-सा भी हो गया, पर फिर चल दिया। उसके बाद तो जैसे न होने के बराबर हो गया यह भी। खेल-करतब की बात तो दूर। न कुछ खाता न पीता। बस ख़ाली-ख़ाली आँखों से शून्य-सा कुछ देखता रहता। मैं कुछ कहूँ भी तो कोई बात नहीं मानता। पाँचू... पंचू... पुचू ओ ऽ... ! वह आवाज़ सुनाई नहीं देती कहीं से। कोई नहीं रह गया था उस तरह पुकारने वाला ! मैं तो ख़ुद सकते में आ गया था। एक साथ दो बेटे खो दिये थे जैसे। समझ में नहीं आता ज़्या करूँ, कैसे ज़िन्दगी गुज़ारूँ। खेल ज़्या जीवन ही बिखर गया था ! दिनों तक ऐसे ही बैठा रहा। फिर रहा नहीं गया तो इसे लिये-दिये निकल चला। बेमतलब, बेइरादा जहाँ-तहाँ भटकता। कहीं कुछ मिल गया तो खा-खिला दिया, किसी ने देखकर कुछ दे दिया तो रख लिया। इसी तरह गुज़र रही थी कि आज तुमने पुकारा। वही... वैसी ही पुकार ! पाँच साल बाद ! और उस दिन से कुछ भी न सुनने वाले इसके कान खड़े हो गये। मुझमें कोई ताक़त तो वैसे ही कहाँ रही। हाथ की रस्सी छुड़ा पुकार के पीछे भागा और सीधा यहाँ आकर रुका। तुज़्हारे पास ! शायद तुज़्हारी पुकार में बरसों बाद वही पुकार इसे सुनाई दी। और आँखों में दिखीं वही आँखें। ऐसे तो बस उसी के कन्धे पर बैठता था। चल बावले आ... !''

पीठ पर हाथ फिरा मदारी ने पाँचू को उसके कन्धे से अपनी गोद में ले लिया। छोटी-छोटी कंचे जैसी आँखें उसकी। गीलेपन से वे भी चमकने लगी थीं। शायद कुछ देर और उसे अपने भरम में जीने का मन था।

''रहने दो अगर कुछ देर और रहना चाहता... !''

''कितनी देर रहेगा। आख़िर तो आगे जाना होगा।'' मदारी ने जवाब में कहा। और बन्दर को देखा। जैसे उसे ही सुना रहा।

''...चल न बावले ! ...और जाने दे ! अब दूसरों का रास्ता न रोक... ।'' उसने बन्दर को खींचा।

उनके जाने से पहले ध्यान आया। कमीज़ की ऊपरी जेब... ! पचास रुपये जो दादी ने दिये थे। मदारी की मुट्ठी में रख दोनों हाथों से उसे बन्द कर दिया।

दूसरा दिन— पाँच अनजानों के साथ खाना

दूसरे दिन भी बस का दैनिक पास ले लिया उसने। यह बड़ी आज़ादी थी कि दिन भर कहीं भी जा सकता था। बीच में जिस पड़ाव पर चाहे उतर सकता था और अगर झपकी आ गयी या मन हुआ न उतरने को तो अन्तिम पड़ाव तक भी। लक्ष्य था, आज पाँच अनजानों के संग खाना। लिहाज़ा ज़रा जल्दी निकला। सोचकर कि पाँचों वज़्त के नमाज़ की तरह पाँचों भोजन शाम पाँच बजे से पहले कर लेगा ! कहीं पढ़ा था या किसी डॉज़्टर ने कभी बताया था कि चाहिए हर तीन घंटे पर कुछ खाना। तो तय यही किया कि सुबह के पाँच से शाम पाँच बजे तक उसी हिसाब से पाँच बार जीम कर निश्चिन्त हो जाएगा। शहर महानगर में रात के आतिथ्य की उज़्मीद न रखना ही ठीक है... वह भी किसी अनजान संग !

पहली बस से बड़े मैदान के पास उतर गया। मुँह धोकर यानी मन माँज और दाँत पिजाकर तड़के निकल गया था। बस मिलने में कुछ देर हुई और थोड़ी वहाँ पहुँचने में, पर ज़्यादा नहीं। कोई छह बजे थे। सुबह का समय। लोग घूम फिर रहे थे और कसरत कर रहे थे। एक बच्चा कुछ दूर अकेला खड़ा हाथ में लिये चुस्की चाट रहा था। उसने इधर-उधर देखा। सब सही था। भीतर साँस की पूरी हवा भरी। सेहत के लिए अच्छा होता है! हवा भी ताज़ी थी। बच्चे से ही शुरुआत सही होगी और अधिक सुरक्षित भी। लेकिन यह ज़्या! सुबह-सुबह यह बच्चा बर्फ़ वाली चुस्की चाट रहा। ठीक है सर्दी की शुरुआत थी। कड़ाके की ठंड नहीं थी। कम-से-कम आज अभी। पर सुबह-सुबह चुस्की! जैसे बेचने वैसे ख़रीदने वाले! मन किया कुछ दूर खड़े चुस्की वाले के पास जाए और जवाब-तलब करे। भली तरह डाँटे-फटकारे उसे। सब मिलकर बच्चों को बिगाड़ ही देंगे! पर रह गया। सुबह-सुबह झगड़ा-रगड़ा ज़्या करना। दिन का आरज़्भ तो अच्छा हो...।

''ज़्यों! मज़ा आ रहा है? अकेले-अकेले चुस्की चाट रहे...।'' बच्चे के पास जाकर मुस्कराकर कहा उसने।

''उहूँ! अकेला नहीं। पापा उधर हैं!'' बच्चे ने थोड़ी दूर घास पर आसन लगाकर योग कर रहे अपने पिता की ओर इशारा किया। सही भी है। बच्चा भला अकेला कैसे यहाँ आएगा! कोई न कोई तो होगा उसका यहाँ। शायद उसने ही ज़्यादा उज़्मीद कर ली थी आसानी की। पर मुश्किल वैसी कुछ नहीं थी। उसने ध्यान से देखा वह आदमी अपने ध्यान में लीन था। अभी इधर देख नहीं रहा था और थोड़ी देर और ध्यानस्थ रहने की सज़्भावना थी।

''मैं रोज़ इधर आता हूँ पापा के साथ और रोज़ चुस्की खाता हूँ...।'' बच्चे ने बिना पूछे आगे बताया, ''पहले नहीं आते थे हम। पापा घर में ही यह सब करते थे। पर इसमें ऐसे गुम जाते कि किसी की कुछ नहीं सुनते। किसी की मतलब मज़्मा की। मज़्मा को बुरा लगा। एक दिन डाँट दिया। घर में रहना है तो जो कहती हूँ, सुना करो! पापा ने कहा, ठीक है बाहर चला जाऊँगा। जाओ तो इस शैतान को भी साथ लिये जाओ! इतना तो चैन मुझे भी दो! तुज़्हारे पीछे मैं उतनी देर इसकी चरवाही करती नहीं फिरूँगी...! कहा उन्होंने। तबसे पापा हर दिन सुबह-सुबह मेरे साथ निकल जाते हैं। यहाँ लाकर 'रिश्वत देकर' मुझे छोड़ देते हैं। मैं भी भले बच्चे की तरह चुस्की चूसता, घास तोड़ता, कुदकता-फुदकता रहता हूँ। तब तक वे इत्मीनान से अपनी 'तपस्या' पूरी कर लेते हैं। जैसे अभी कर रहे...!''

''चुस्की मुझे भी खिलाओगे?'' मौक़ा देखकर उसने पूछ ही लिया।

''उहूँ!'' बच्चे ने तुरन्त सिर इधर से उधर हिलाया। बोहनी हुई ख़राब सोचा उसने। बच्चे ने भी मना कर दिया...! मायूस होता इससे पहले बच्चा बोला, ''चुस्की खाने की चीज़ थोड़े ही है।''

सही है! ऐसी चीज़ें लगातार लेने से सेहत को नुकसान पहुँचता है। इसीलिए कह रहा हूँ कि आज तुम आधे पर ही बस कर दो! ऐसा कुछ कहता कि बच्चे ने आगे कहा, ''चाटते हैं चुस्की को। लो... चूसो!'' अपने नन्हे हाथ आगे कर चुस्की उसने उसकी ओर बढ़ा दी।

हाथ लेने के लिये बढ़ता पर ठिठका। इस तरह तो वह बच्चे की चुस्की जूठा कर देगा! बच्चे के साथ ऐसा करना अच्छा नहीं। कल तो अनजानों को पुकारने में उसने बड़ी बहादुरी दिखाई थी, पर आज बच्चे के आगे दिल डोल रहा था।

''लो... एक बार तुम, एक बार मैं!'' बच्चे ने खुला प्रस्ताव दिया।

सिर घुमाकर देखा। आदमी यानी पिता उसका अब भी ध्यान में था। लेकिन डर था ध्यान टूटने का। कभी टूट सकता था! इस प्रेमिल आदान-प्रदान में अन्देशा था किसी वज़्त देखे जाने का। जैसे प्यार सामने खड़ा हो और सवाल हो दुनिया से छुपाकर उसे चूमने का! मोह अधिक नहीं करना चाहिए। प्यार के लिये तो एक बार ही चूमना काफ़ी है!

''नहीं ऐसे नहीं। तुम चुस्की ले लो। जब डंडी दिखने लगेगी और थोड़ी बर्फ़ रह जाएगी तब मुझे दे देना। ऐसे भी बच्चों से तब नहीं सँभलती और अकसर गिर ही जाती...''

''हाँ अकसर गिर जाती...।'' बच्चा मुग्ध हुआ उसके इस अगम ज्ञान से।

''तभी मुझे दे देना। मैं चख लूँगा। चखना ही तो है!''

''नहीं अभी लो ना!'' बच्चे ने फिर कहा। प्यार से, मनुहार से।

''नहीं बाबा। पहले तुम पूरा कर लो। बस ख़त्म होने से पहले मुझे दे देना।''

''फिर पूरा कैसे होगा?''

''एकदम पूरा नहीं। वह कैसे होगा। कहाँ होता। कुछ भी! मेरा मतलब पूरे से ठीक पहले...।'' सुलझाने की कोशिश में वह और उलझ-सा गया।

''फिर साथ कैसे होगा... ?'' बच्चे ने नया सवाल सामने किया।

''चलो ठीक है एक बार एक तरफ़ से मैं ले लेता हूँ हल्के से...।'' और ज़्यादा उलझन से बचते कहा उसने।

''एक बार दोनों साथ में!'' बच्चे ने चमकती आँखों से प्रस्तावित किया तो ना वह न कर सका। पर जल्दी से पीछे हटा जैसे देखे जाने के डर से कोई नयी उम्र की लड़की हटे।

कोई देखे भी तो ज़्या? वह इतना घबरा ज़्यों रहा कुछ नहीं तो बचा ही रहा बच्चे को सुबह-सुबह इतनी बर्फ़ से! अगर इतने ध्यान-योग के बाद भी उसका पिता इतनी बात नहीं समझ पायेगा तो ज़्या फ़ायदा इस साधना का! उसने ख़ुद को समझाया।

चुस्की चखी। सचमुच सर्द थी, पर स्वादिष्ट उतनी ही। जैसे स्वाद की एक नमकीन-सी आँच हो सर्द मिठास के भीतर! बच्चे ने भी उसकी आँखें देखी होंगी। पता नहीं किस कक्षा का विद्यार्थी होगा मगर शायद पढ़ीं भी...।

''अब दिखने लगी डंडी! मुझसे गिर जाएगी। लो तुम। अब पकड़ लो...!'' चुस्की उसने थमा दी।

दिन की और दिन के अभियान की शुरुआत हो गयी थी। और अच्छी ही। पाँच-से-पाँच तक की अपनी प्रस्तावित दिनचर्या को अधिक व्यावहारिक कर अब छह से छह तक कर लिया था। इत्मीनान से अगली बस में बैठ गया। देखा भी नहीं कहाँ जाने वाली। पैर फैला दिये कि सीधा अन्तिम पड़ाव पर ही उतरेगा। तब तक कम-से-कम घंटे दो घंटे हो जाएँगे। इस पहले सहभोज में कुछ देरी हुई। अगला थोड़ा पहले कर फिर से नियत समय की सीढ़ी पर आ जाएगा।

उस बस के अन्तिम पड़ाव पर उतरकर कबूतर की तरह गरदन उचकाता इधर-से-उधर कर रहा था वह कि एक ओर भीड़ नज़र आयी। पास जाकर देखा भीड़ का मुज़्य नायक एक तोता था। तोते के पिंजरे के अन्दर ढेर-सारी हरी मिर्च पड़ी थी। चोंच में मिर्ची उठा इच्छुक, उत्सुक, कौतुक-भरे

दर्शकों को वह खिला रहा था। जो प्यार से पास जाए! पिंजरे की बगल में खड़ा तोतेवाला सूत्रधार-सा आह्वान कर रहा था, ''जो इंसान इस मिर्ची तोते के होठों से ये दस तीखी मिर्चियाँ खा लेगा अपना मौनव्रत तोड़कर तोता उसका नाम लेगा! याद दिलाना मेरा काम है कि ये मिर्चियाँ बड़ी तीखी हैं। ऐसी कि चखनी तो दूर किसी ने देखी न होंगी। और देखे तो देखने से ही झाँस आ जाए। और जीभ सिसियाये! तो इतना तीखापन वही पचा पायेगा जो हो आशिक़, आवारा, पगला, दीवाना। जुनून जिस पर तारी है। हिज़्मत जिसमें भारी है। कुछ कर गुज़रने की खुमारी है। और पीछे न हटने की लाचारी है। लगाकर जो बाज़ी हारेगा वो तोते की मिर्ची ख़र्ची यानी कि उसकी रोज़ की रसद के लिये दस रुपये की छोटी भेंट देगा। तो तोता मेरा तैयार है! तीखा-तीखा खिलाकर यह मीठा मीठा बोलेगा। तो अगला कौन आपमें से आने को तैयार है... ? आगे बढ़े। और तोते तू अपनी चोंच में मिर्ची ले। और सुन शोख! ज़रा प्यार से। मारना मत एक ही वार से! पहला ही किसी को इतना तीखा न खिला देना कि भगा देना! हाँ...तो बढ़ेगा कोई और हिज़्मत वाला आगे बढ़ेगा... ?''

एक कोई सहमा-सा आगे बढ़ा। ख़ुद काठी सुतवाँ, मिर्ची-सी इकहरी। लोहा ही लोहे को काटता है। कहीं यह मिर्ची काठी पचा पाये दस मिर्ची! उत्सुक हो गये सब। वह भी। तोता भी। पिंजरे के किनारे आया चोंच में ली मिर्ची। और तीलियों के बीच से आगे बढ़ाया उस स्वयंसमर्पी को खिलाने के लिए। यह तो सचमुच सहभोज है! सोचा उसने। जेब टटोली। और नज़्बर लगा दिया अपना। अगला खिलाड़ी जल्दी ही बस दो के बाद दस देकर हट गया। छँट गया। अब वह सामने था। घड़ी आठ बज कर अड़तीस मिनट पार कर रही थी। जैसे किसी जादू से बँधा... मन्त्रमुग्ध आत्मा की तरह एक पर एक मिर्चियाँ वह खाता गया। जितने प्यार से वह दे रहा था उतने ही प्यार से स्वीकार करता। जग बिसर जाता है ऐसे में गिनती तो छोटी बात है। पर तोता नहीं भूला था। न सारा खेल देख रही जनता। जैसे ही दसवीं मिर्ची हलक़ से उतरी तालियाँ बजने लगीं और तोता बोल पड़ा, ''अब बस भी कर प्यारे! इतना सब किसके लिए... ?'' तोते के बोल सुन और तालियाँ बज उठीं। उसने घूम कर हाथ घुमाकर सबका अभिवादन किया। आँखों में आँसू भरे थे। पर ख़ुशी के। जैसे गूँगे के मुँह गुड़। इतना अभिभूत था वह कि कुछ बोल नहीं पा रहा था। ठीक आठ बजकर सैंतालीस मिनट पर दूसरा सहभोज पूरा हो गया था। इस अनजान तोते के संग!

''ले भई पी ले! हाजमा-वाजमा कुछ ख़राब हो... अगले दस दिन कुछ ज़ायका न लगे तो माफ़ करना...।'' तोतेवाले ने पानी का गिलास आगे किया, पर उसने इशारे से धन्यवाद कह मना कर दिया। दिल भर आया था। और जेब भी ख़ाली नहीं हुई थी। अच्छी सुबह थी। नौ भी नहीं बजे थे अभी। और अब तक दो बार किसी अनजान प्राणी के साथ मुँह जुठा चुका था। फ़िलहाल कोई जल्दी नहीं थी। दोपहर दूर थी। अगले खाने के लिये अगला संगी ढूँढने में पर्याप्त समय था। तब तक मगन मन कहीं भटक सकता था...।

लेकिन पेट पहले ही पुकारने लगा। दोपहर से पहले। सुबह से दरअसल सिर्फ़ बर्फ़ और अंगार (तीखी मिर्च) का लुत्फ़ लिया था। कुछ भी ठोस भीतर कहाँ गया था जो पेट को बाँधे रहता। बझाये रहता। सँभाला कुछ देर। पर कितना और कब तक! अचानक एक गन्ध से मन को रोकने वाली दीवार भरभरा कर ढह गयी। सड़क किनारे फ़ुटपाथ पर एक बंजारन दो ईंटों का चूल्हे लगा लकड़ी सुलगा मोटी-मोटी सोंधी रोटियाँ सेंक रही थी। चलते-चलते ठिठका, फिर वहीं बैठ गया— अदृश्य धागे से बँधे किसी कठपुतले-सा।

''ज़्या... मैं भी खा सकता हूँ आप लोगों के साथ! एक रोटी इसमें से मुझे भी मिल सकती है?''

पका रही औरत ने एक बार गरदन उठा उसे देखा। कोई ज़्यादा उम्र की नहीं होगी। वह फिर रोटी सेंकने लगी। कुछ कहा नहीं।

भीतर की भूख अब ज़ोर-ज़ोर से पुकार रही थी। पर कैसे किसी को सुनाये! पहला प्रयास उज़्रहीन गया था। अब ज़्या करे? उठ जाए वहाँ से?

पर जैसे हमेशा मन ने उसे एक और अन्तिम कोशिश के लिए कहा, ''देखिये! बस एक रोटी की बात थी। उससे भी अधिक कहिये संग-साथ की...! अगर मैं भी खा सकता! आपके यहाँ...।'' लेकिन फिर कोई जवाब न आता देख अकबका गया। जवाब चाहे कितना कड़ा ही ज़्यों न हो, फिर भी ठीक है। चुप्पी कहीं हड़बड़ा देती है। घबरा देती है। उज़्र न आता देख हड़बड़ाहट में उसने जोड़ा, ''कहिएगा तो पैसे भी इसके दे दूँगा...।''

''चलो! उठो! हटो यहाँ से...।'' एक हट्ठे-कट्ठे बंजारे ने तभी वहाँ आकर कहा। अकबका कर वह दो डग पीछे खिसक गया। भीतर डर भर गया। शायद इस तरह परिवार की औरत से बतियाने से उसे ऐतराज़ होगा। घर नहीं, मगर परिवार तो उनका था।

बंजारे को आपज़ि मगर दूसरी थी। ''...पैसे देने की बात तुमने ज़्यों की? ग़रीब हैं हम, मगर ज़्या इतने कि साथ एक रोटी खिलाने के पैसे लेंगे। ऐसा गया गुज़रा समझा है हमें तुम लोगों ने?'' ग़ुस्से से चेहरा ही नहीं, मानो पूरा उघरा ताज़्बई बदन उसका तप रहा था।

''नहीं भाई नहीं! पैसे की बात मुझे भी नहीं करनी थी। मैं तो बस ऐसी सोंधी रोटी सिंकते देख गन्ध से खिंचा आ गया था कि हो सके तो यहीं बैठ तुम लोगों के संग थोड़ा मैं भी मुँह जूठा कर लूँगा। वो... कहने पर जब कुछ जवाब नहीं मिला तो यह बात ज़बान पर आ गयी...।''

''जवाब यह कहाँ से देगी। जो तुम बोल रहे हो, नहीं समझती वह बोली! बस हम थोड़ा बहुत जानते हैं। चलो बैठो! अरी रोटी दो जगह लगाओ!'' उसने उसी खरज से लगभग डपटते हुए कहा। मगर इस बार प्यार से।

''दो जगह की ज़रूरत नहीं। मैं साथ ही थोड़ा खा लूँगा...!

''फिर?'' उसने दुबारा डपटा।

अब ज़्या ग़लती हुई, वह सहमा। ''...थोड़ा खा लूँगा ज़्यों बोला?'' बंजारे ने घुड़का। बड़े ही अपनेपन से। साथ देना होगा तो पूरा! पूरा खाकर जाओगे!

''ठीक है भाई! मेरे लिए तो वैसे यह आधी रोटी ही पूरी होगी। पर एक खा लूँगा ऐसा कहते हो तो...।'' कहते-कहते वह फिर ठिठका। अटका। कहीं तिबारा न डाँट पड़े। ...तो तुम खाऊ बोल रहे हो हमें... ? पर ऐसा कुछ कहा नहीं बंजारे ने। गन्ध के साथ अब स्वर भी था। सोंधी रोटी को स्वाद और संगीत तृप्ति से चबा-चबा कर खाने का! और माटे-मोटे कड़े वाले हाथों का पलट-पलट कर सेंक-सेंककर उसे थाली में देने का।

दोपहर हो चुकी थी। और तीन आहार। उसी के उछाह में अगले चार घंटे तक इधर-उधर फिरता रहा। फिर ध्यान आया तीन बजने को हैं। चौथा साथ

ढूँढ़ना होगा। मिल-बैठकर कुछ खाने के लिए। यह भी ध्यान आया कि राह-राह ही किये थे अब तक के तीनों आहार। कल तो मिलने चला गया था किसी अनजान के घर तक! आज ज़्यों पीछे हैं? झिझक-हिचक कैसी। कुछ और तरह के रंग-ढंग भी देखें। ज़रा और तरह की मुलाक़ात हो। अलग-सा साथ हो। नयी-नयी सी बात हो! कुछ नये ज़माने, नये चलन के साथ हो अगली दावत! हिज़्मत बटोरकर एक रेस्तराँ में दाख़िल हो गया। एक कोने में चार नौजवान बैठे थे। पास जाकर वह पाँचवाँ हो गया।

''ज़्या आप लोगों के साथ बैठ सकता हूँ... ?'' पहले बैठने भर की ही बात की। नये फ़ैशन वाले लड़के थे। पता नहीं ज़्या कहें।

''आओ आओ बैठो! और साथ भी दो... !'' एक ने धुँआ छोड़ते हुए नली वाली गुड़गुड़ी आगे बढ़ायी और दूसरे ने गिलास आगे कर दिया।

''नहीं नहीं! शुक्रिया! ये सब मैं नहीं लेता। मैं... खाने में आपका साथ दे दूँगा...।'' उसने उनका पहला प्रस्ताव ख़ारिज कर देने के संकोच के साथ कहा।

''कोई बात नहीं। पर नहीं, नहीं ज़्यों हाँ, हाँ कहो। खाना तो अभी हम आँत सुलगाकर भूख बढ़ा कर थोड़ी देर में मँगाएँगे। तब तक यह भजिया नमकीन तो ले सकते हो।

''हाँ हाँ, ज़्यों नहीं!'' थोड़ा बेहिचक होते हुए उसने कहा।

''वैसे कुछ खाने या पीने से कोई ख़राब नहीं हो जाता।'' उनमें से पीछे बढ़ाकर बाँधी चुटिया वाले ने कहा।

''न ही कुछ नहीं खाने-पीने से कोई अच्छा''! हँसते हुए उस लड़के ने जोड़ा जिसने शौक़िया सिर घुटाया था।

''बिलकुल! शौक़ से खाओ-पियो! अपनी चलती तो जितने हैं रेस्तराँ में सबको पिलाते-खिलाते...। आज हम सब अपने यार की सालगिरह मना रहे हैं...।'' एक ने सामने वाले लड़के की ओर इशारा करते कहा।

''अरे वाह! जन्मदिन है! बहुत-बहुत बधाई!'' उसने उठकर हाथ बढ़ाया।

उस लड़के ने गर्मजोशी से हाथ मिलाया और बाक़ी ने हो-हो कर अपना उल्लास जताया।

''क़ायदे से... फिर मुझे कोई उपहार भी देना चाहिए था इस मौक़े पर... !'' उसने फिर थोड़े संकोच से कहा।

''अरे ज़्या बात करते हो!'' लड़के ने कहा।

''तुम साथ हो यार... यही ज़्या कम है उपहार... !'' दूसरे ने जोड़ा।

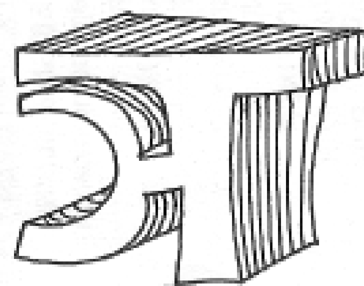
''अरे रुक, रुक, रुक! देख, देख, देख! सोच, सोच, सोच! यह तो शायरी हो गयी। सुन, सुन, सुन! तुम साथ दे रहे हो यार... इससे बड़ा ज़्या होगा उपहार! अहा! कहना ज़्या!'' तीसरे ने टोका।

''दोस्त अपना तो पज़्का शायर हो गया!'' चौथे ने चुटकी ली।

''और यह हमारे इस नये साथी के चलते हुआ! हुर्रा! चीयर्स!'' बाक़ी लड़कों ने मिलकर आवाज़ उठायी।

वह फिर सकुचा गया। धीरे-से बोला ''इतना अच्छा मौक़ा है...। संयोग है ऐसा... और सौभाग्य मेरा कि जन्मदिन के इस मौक़े पर मैं शरीक हुआ... !

''अरे! यार!'' गलबँहिया डालकर पास वाले ने समझाया, ''देखो हम पाँच अकसर मिलते हैं और मिलते हैं तो ऐसी दावत होती है। फिर जिसकी बारी होती है... यानी कि जिससे ख़र्च कराना होता है... मतलब जिसको



बकरा बनाना होता है हम मान लेते हैं कि जन्मदिन है उसका और मानकर इस तरह मनाते भी हैं। इस तरह साल में कई बार आता है जन्मदिन हमारा! यही राज है हमारी ख़ुशी का!''

''हाँ। इस हिसाब से हममें से सारे डेढ़ दो सौ साल के हो गये हैं... ज़्योंकि इतनी सालगिरहें मना चुके हैं अब तक!''

इस दावत ने और उत्साहित कर दिया था। और अनजान अचीन्हों के प्रति एक विश्वास से भर दिया। आज का अभियान अब तक बहुत अच्छा रहा था। बड़े नायाब तजुर्बे हुए थे। अब बस ऐसा ही एक और तजुर्बा हो जाए! फिर आज का सोचा हो जाएगा पूरा। समय से लौट जाएगा अपने ठिकाने। इसी धुन में आगे भरमता रहा। सोचा इस बार किसी बस में नहीं चढ़ेगा। पैदल ही घंटे दो घंटे चलता चलेगा। इससे खाया पचेगा और भूख लगेगी। फिर पाँच, साढ़े-पाँच तक कहीं एक और जगह मुँह जुठाकर लौट जाएगा।

शाम ढलने लगी थी। घूमते-फिरते घड़ी छह की ओर चल पड़ी थी। आख़िर उसे वह अवसर दिखा। आज की अन्तिम पंगत का। खाने में आख़िरी अनजान संगत का। एक पार्क के पास दो कारों से चार लोग उतर रहे थे। उनके हाथ में खाने का सामान था और पानी की बोतल। चारों पास वाले लोहे के गोल घूमंतू छोटे गेट को पार कर पार्क के भीतर गये और किनारे बनी बेंच पर बैठ गये। अख़बार फैलाया। खाना खोला। शायद किसी काम से निकले होंगे। उसी के फेरे में भोजन अवकाश अब निकला होगा। अब भी वे आपस में लगातार बातें किये जा रहे थे। उसने सोचा चलकर वह भी साथ दे।

''ज़्या है?'' अपने क़रीब आते उन्होंने कहा।

''जी! आप लोग शायद खाने जा रहे हैं!''

''हाँ। शायद ज़्यों? खाने ही जा रहे हैं।''

''जी मैंने सोचा मैं भी ज़रा साथ दे दूँ...।'' कहने के बाद लगा कहीं फिर वे भी ऐतराज न करें ''थोड़ा ज़्यों?'' आदतन वह कुछ ज़्यादा ही संकोची और विनम्र हो जाया करता था। इसे सुधारने की भरसक कोशिश के बावजूद। लेकिन उसकी सोच पूरी भी नहीं हुई कि उनमें से एक ने कहा, जो पता नहीं मेठ था या सबसे छोटा ''इतनी जलेबी जबान में घुमा फिराकर और चाशनी लगाकर ज़्यों कह रहे हो? सीधे कहो तुज़्हें भी चाहिए!'' कहकर दो पूड़ियाँ निकालकर उसके हाथ में डाल दीं।

''जी धन्यवाद!''

''अब किसलिए खड़े हो। भाजी भी साथ चाहिए ? लो। चलो! पूड़ी के ऊपर टिफिन की तली में लगी थोड़ी भाजी उन्होंने उलट दी जो शायद ऐसे भी उनके खाने के बाद बची रह जाती और फेंकी जाती।''

''जी धन्यवाद! भाजी ज़रूरी नहीं... बस साथ चाहिए था!'' कहना चाहा पर इतना न कह सका।

''अब ज्यों मुँह ताक रहे हो ? चलो निकलो! रास्ता लो अपना!'' जो अब तक नहीं बोला था बड़ी बेरुख़ी से बोला।

''जी दरअसल... आप लोगों के साथ बैठकर खाना चाहता था।'' अटकते हुए कहा।

''काय को ? ज्या लगते हो ? जल्दी से जाते नज़र आओ! ज़रूरी बातें कर रहे हैं यहाँ हम लोग। कान खड़े किये यहीं खड़े हो! हमारी बातें सुनना चाहते हो ?'' चौथे ने और कड़े तेवर से हड़काया।

''जी खाना...!''

''तो दे दिया ना!''

''जी यहीं... साथ-साथ...!'' किसी तरह थूक गटकते उसने कहा।

''किसने कहा ? किसलिए भाय! किस हक़ से ? कोई ज़बरदस्ती है ?''

''जी... नहीं...! बस्स... इनसानियत के नाते...!''

''तो इसीलिए तो। इतना दे दिया ना भले आदमी! यह इंसानियत नहीं तो ज़्या ? जानवरपना हुआ ? लो... और लो... और फूटो...!'' सामने वाला दो पूड़ियाँ और उछालकर डालने को हुआ कि उसने मना कर दिया।

''ना ना! इसकी ज़रूरत नहीं। बल्कि आप यह भी रख लें।'' उसने पूड़ियों की पकड़ में बँधा अपना हाथ वापस देने के लिये आगे बढ़ाया।

''अब भागते हो कि... कुछ और चाहिए, हाँ? तुज़्हारे हाथ का दिया वापस लेकर खायेंगे हम ? अभी इसी घड़ी नज़र से दूर हो जाओ! ख़ैर नहीं वरना...। पागल कहीं का!'' अपशज़्दों के साथ उन्होंने जो कहा सज़्य भाषा में उसका तर्जुमा कुछ यह था।

यह भी एक तज़ुर्बा था! दिन इतना सहेजा गुज़रा और अन्त में ऐसा होना था! रुआँसा वह उधर से निकला और कुछ आगे जाकर आँख बचाकर एक पेड़ के पास हाथ की दोनों पूड़ियाँ रख दीं जहाँ हारी-मारी एक बीमार-सी कुतिया पड़ी थी। शायद भूख से ऐसे हताश पड़ी है... उसे लगा। पेट से होने से ज़्यादा चल फिर नहीं पा रही होगी। और कोई इनसानियत वाली आँख लाचारी उसकी देख नहीं पायी होगी। चलो... इस बेचारी का ही कुछ भला हो जाएगा! अपने को तसल्ली देते उसने सोचा। दाने-दाने पर लिखा है खाने वाले का नाम! फिर ध्यान आया दाना तो कोई नहीं था। कौर-कौर पर लिखा हैं चबाने वाले का नाम, कुछ ऐसे अपनी सोच को सुधारता ढलती शाम की पगडंडी पर आगे बढ़ गया।

कुछ अजीब कातर मानवीय-सी आवाज़ सुन वह ठिठका। आवाज़ की ओर पलट कर देखा। मुँह में पूड़ियाँ दबाये कुतिया उसके पीछे चली आ रही थी दबी जुबान अपनी कूँ कूँ में कुछ कहती। पैर जिस गति से चल रहे थे नीचे लटका पेट और पीछे खड़ी पूँछ भी उसी त्वरा में हिल रहे थे। वह ठिठका तो वह भी उसके रुके पैरों के पास आकर रुक गयी और पूड़ियाँ वहीं रखकर मुँह उठाकर और कातर स्वर में कुछ कहने लगी। वह कुछ-कुछ समझ सका। अपनी कूँ-कूँ के ज़रिये शायद वह भी कह रही थी वही बात जो वह उनसे कहना चाह रहा था। शायद ज़्यों! पज़्का यही था। वह समझ गया। यह समझ उसे अभी आयी थी। यह भी एक तजुर्बा था! झुककर वह उसके पास बैठ गया। कुतिया ने एक पूड़ी मुँह में उठायी और उसी तरह भरे मुँह कू-कूँ करते उसकी ओर बढ़ायी।

''पहले तू खा ले! मैं तो आज चार बार खा चुका हूँ...। तू तू!!'' कहा मगर कूँ-कूँ करती वह उसी तरह मुँह उठाये खड़ी रही। मानो अपनी ज़िद पर। साथ देने की ज़िद! ज़्या करता। इस अप्रत्याशित प्यार-मनुहार से हारकर अपना मुँह उसकी ओर बढ़ाया। उसी की तरह। और पूड़ी अपने मुँह में ले ली। मुँह में कुछ जाता है तो कई बार आँखों से उतना ढलक आता। एक कातर कू भी उसके भीतर से निकल गयी जैसे! फिर अपने मुँह में पूड़ी उसी तरह पकड़कर कुतिया की ओर बढ़ायी। कुतिया भी पूँछ हिलाती दूसरी पूड़ी चबाने लगी। मुँह चल रहा था। पूँछ हिल रही थी। वह कातर स्वर अब नहीं था। अपनापन था। आत्मीयता। गरदन आगे झुकाकर उसके गले लगकर वह लिपट गया। दरअसल आँसू खोज रहे थे कोई टेक, कोई कंधा! यह भी एक अनूठा यादगार अनुभव था। घिरती शाम की परछाई में भींजते दोनों घुल-मिल गये। आज का दिन सचमुच धन्य हो गया! उसी समय फर्राटा दौड़ती दो चमचमाती गाड़ियाँ उधर पास से गुज़रीं। उनकी हेडलाइटों की तेज़ चमकती रोशनी में रात उतरती दिख रही थी।

तीसरा दिन— मदद पाँच अनजानों की

अगली सुबह उठा तो तरोताज़ा था। पिछले दो दिनों के फेरों की कोई थकान नहीं। बल्कि उत्साह और ज़्यादा था। आज अनजान अचीन्हों के साथ मुलाक़ात या दावत नहीं, बल्कि उनकी मदद का मौक़ा था। किन्हीं पाँच अनजानों के लिये कुछ कर गुज़रने की बारी!

आज भी सोचा पच्चीस का दिन भर वाला बस टिकट ले लेगा। कल मिलाकर तो चार दिन के पूरे सौ हो जाएँगे। जिस स्थिति में वह था अभी सौ कुछ कम नहीं थे। पर प्यार की यादगार के लिए तो कुछ भी ज़्यादा नहीं! यह ज़्या था! एक छोटी-सी कोशिश अपनी ओर से।

निकलते हुए अपनी बालकनी में खड़ी दिलरुबा आंटी नज़र आयीं। उधर न देखते अपनी धुन में आगे बढ़ जाना चाहा। पर ठिठक गया। अनजानों की मदद करने चला है, इसका मतलब यह तो नहीं कि जो जाने-पहचाने हैं उनकी अनदेखी की जाए! दिलरुबा आंटी जब तब कुछ-कुछ कराती रहती थीं उससे। उनका असली नाम कुछ और था पर किसी को पता नहीं था। सब दिलरुबा नाम से ही जानते-बुलाते और दिल्लगी करते।

''ज़्या दिलरुबा आंटी! कुछ है? मेरा मतलब काम कोई...?'' पूछा उसने।

''नहीं रे! आज नहीं कुछ ऐसा।''

''गैस लाना है ?''

''अहाँ।''

''बिजली बिल जमा करना ?''

''ना।''

''बल्ब-वल्ब बदलवाना है ? चिट्ठी देनी है डालने के लिए ?''

''ना रे ना!''

''कोई काम नहीं ? होता तो करके मुझे ख़ुशी होती। दिन की शुरुआत अच्छी होती...।''

''और करवा के मुझे!'' दिलरुबा बोली। ''...पर ऐसा है नहीं कुछ आज। और जो है तेरे बस का नहीं..।''

''ज़्या, ज़्या, ज़्या ? कहिये ना ! मैं कर लूँगा किसी तरह !'' वह उत्साहित हुआ।

''उछल मत ज़्यादा ! कहा ना। तेरे लायक़ नहीं। मतलब तू नहीं उसके लायक़। तू तैयार हो तब भी तेरे से मैं कराऊँ नहीं !'' दिलरुबा हँसी।

''फिर भी। काम ज़्या है... बताइये तो !''

''अरे ज़्या कहूँ। दो रोज़ से बदन में ग़जब की ऐंठन हो रही है। गली में जो मालिश करने वाली थी अपने गाँव चली गयी है...।''

''मैं कह रहा था... !''

''कहा न निगोड़े। तेरे लिये नहीं यह काम... !''

''नहीं, मैं कह रहा था...''

''कहा ना ! समझता नहीं तू। जा अपना काम देख।''

''सुनिये तो ! मैं यह कह रहा था...।''

''अब जा तू ! नहीं तो उतरकर मार बैठूँगी।''

''ओ हो ! वह बात नहीं। कहने तो दीजिये सही ! मैं कह रहा था कि ज़्या कहीं दिख जाए ऐसी मालिश कर सकने वाली तो लेता आऊँगा आपके लिए... ?'' उसने एक साँस में जल्दी-जल्दी पूरी बात कह दी।

''हाँ, जा देखना ! चल !''

''चलिये अब दिन अच्छा होगा मेरा। ना के साथ जाना ठीक नहीं लगता।''

''जा, जा। दिन ऐसे भी अच्छा होगा तेरा। मैंने कह दिया ना... !''

''ना नहीं... हाँ !''

''हाँ, हाँ, हाँ !''

पहली मदद का मौक़ा भी जल्दी ही मिल गया। शहर यह ऐसा था कि सुबह को भी जाम लगा हुआ था। दूर तक। एक वजह तो यह होगी कि स्टेशन पास था। बस रेंग-रेंग कर सरक रही थी और पड़ाव से पहले ही लोग उतर रहे थे। ''स्टेशन आ गया ज़्या ?'' सबसे आगे विकलांग सीट पर बैठा अंधा उठकर उतरने वालों से तसल्ली करना चाह रहा था, पर जाने की धुन में हर कोई अनसुनी कर चला जा रहा था।

''नहीं अभी पड़ाव नहीं आया। बस रास्ते के बीच है। जाम है इसलिए लोग उतर रहे हैं... !'' अन्धे को इस तरह दुविधा में देख रहा नहीं गया तो पास जा उसने कहा। अभी उतरना उसका सचमुच ठीक नहीं था। बस किनारे नहीं थी। जाम था। दुपहियेवाले जैसे-तैसे किनारे से निकलने की कोशिश में थे।

''मुझे भी लगा... कि उतरने की जगह नहीं लग रही। तो मैं रुक जाऊँ अभी... ?''

''हाँ। ऐसा करें। आप निश्चिन्त रहें। मैं उतार दूँगा सही जगह। पहुँचा दूँगा स्टेशन तक। मेरे साथ चलिएगा... !'' उसने आश्वस्त किया।

''नहीं... ऐसे तो उलझन होती नहीं, पर आज हर जगह उतरते लग रहे हैं लोग तो भरम-सा हो रहा...।''

''कोई बात नहीं। मैं साथ उतरूँगा। मेरे साथ चलिये न आप !''

ऐसे में सब्र की ज़रूरत होती है। उसने जाम को खुलने दिया और लगने दिया बस को पड़ाव तक। कोई बीस मिनट लगे इसमें। देर पर दुरुस्त आये। वैसे बीच में अंधे मुसाफ़िर से पूछ भी लिया ''कोई जल्दी तो नहीं। कोई गाड़ी तो नहीं छूटनेवाली... ?

''एक गयी तो दूसरी मिलेगी। गाड़ी या लड़की... !'' अन्धा हँसा। ''...पर ज़िन्दगी का नहीं पता। न आँखों की इस रोशनी का। जाने के बाद मिलती है या नहीं दोबारा !''

बस पड़ाव दूसरी तरफ़ था। स्टेशन सड़क के उस पार। सड़क व्यस्त थी। गाड़ियाँ आ-जा रही थीं। पार करने के लिये भी सही समय की प्रतीक्षा करनी थी। अन्धे की लाठी थामे उसका ध्यान थोड़ी दूर खड़े एक गँवई परिवार की ओर गया जो रह-रह कर क़दम दो क़दम बढ़ा रहा था और फिर तेज़ी से बढ़ता कोई वाहन देख डर से चार क़दम पीछे लौट जा रहा था। दो पल उन्हें देखकर ही वह समझ गया मुश्किल उनकी। शायद वे पहली बार किसी इतनी बड़ी जगह आये थे। अपने अनुभव से अनुमान कर सकता था। शुरू-शुरू में उसके साथ भी ऐसा हुआ था। आसान तो इतने सालों बाद भी नहीं था इन तेज़ सड़कों को पार करना। लेकिन आरज़्भ हमेशा बेहद हिचक और हिचकोलों से भरा होता है। यहाँ सब जगह ऊपरी या निचले पारपथ भी नहीं बने थे।

ठहर जाओ ! उसने गँवई परिवार को इशारा किया। आदमी, औरत, बूढ़ी अज़्मा और दो बच्चे। कुल चार टिकट ! एक दूसरे को पकड़े। कोई आगे बढ़ने का दुस्साहस करता तो बाक़ी हाँ हाँ हाँ कर हाथ भींच कर खींचने लगते पीछे।

चलो थोड़ा उधर चलते हैं... ! अन्धे को साथ लिये उनके पास चला आया। घबराना नहीं। हड़बड़ाना भी नहीं। मैं तुम सबको पार करा दूँगा। मेरे साथ आना। जब कहूँगा... !

उसके कहने से पहले व्यग्रता से बूढ़ी माता ने दो-चार बार पूछा, ''बिटवा पार कर जाएँ ज़्या ?'' ''माई ! पार जाने की इतनी ज़्या जल्दी। जाना तो आख़िर है ही... !'' बेटे ने झिड़की पिलाकर चुपाया।

उनको सुरक्षित स्टेशन पहुँचा दिया उसने। पाँच अपरिचितों की मदद तो हो गयी थी। पहली बार में ही। उन दो बच्चों को मिलाकर एक जोड़े तब भी ! इस लिहाज़ से चाहे तो अभी वापस लौट सकता था कि आज का सोचा, तय किया पूरा हो गया। पर उसने इसे एक ही जोड़ा। एक बार को एक ! लोग भले ही अधिक हों, मदद एक वक़्त एक ही सी की थी ! तो इसे एक ही गिनकर आगे बढ़ना अच्छा था। मन का यही फैलाव... दिल का कुछ ऐसा ही बड़प्पन हो तो प्यार सच्चा हासिल होता है ! उसकी सच्ची सौगात। और असल निशानी। फिर अभी तो पूरा दिन पड़ा था। और पूरे दिन का पास भी ! सोचता हुआ वह आगे बढ़ा। बढ़ता गया। जहाँ अगला अवसर उसकी राह देख रहा था।

किसी को सचमुच मदद की सज़्त ज़रूरत थी। वह बेचारा फिसलन भरी काई लगी सतह पर ठिठका था। सामने छल-छल-छल पानी प्रवाहित हो रहा था। पीछे लगभग सीधी खड़ी ऊँचाई थी जिधर से निकलना कठिन। वह बुरी तरह भीग भी गया था और रोयें बदन के सिहरे हुए थे। रह-रह कर सहमा हुआ थाहता-सा अगला पैर उठाता और फिर अनाश्वस्त-सा वापस खींच लेता। बिलकुल किसी आदमी की तरह ! नन्हा-सा वह चूहा। चूहे का बच्चा ! लगता है नाले की सफ़ाई हुई थी। कचरा निकलने से धार उसकी

तेज़ हो गयी थी और कगार ऊँची। जहाँ खड़ा था पाट होगा नाले का, काई जमने से फिसलन हो गयी थी जहाँ। लगता है एक बार मैले पानी में पड़ कर किसी तरह निकला था और पाट तक पहुँचा था। पीछे की तरफ़ खड़ी ढाल पर चढ़ नहीं पाया होगा। एकमात्र रास्ता पानी के पार जाना था। पर धार से वह घबरा रहा था और पाट की फिसलन से भी। डर उसका वाजिब भी था। इस बीहड़ समस्या के आगे औकात उसकी ज़्या थी! उस पर भीगकर आधी ताक़त पहले ही निचुड़ चुकी थी।

नन्हें चूहे की सहायता करनी चाहिए, यह निश्चय करते देर नहीं लगी। समय रहते ऐसे त्वरित फ़ैसले ज़िज़्मेदार लोग किया करते तो शायद बच जाया करतीं कई जानें। एक पतली लकड़ी पास में मिल गयी। झुककर पुल की तरह नाले के ऊपर बिछाते हुए धीरे से चूहे की तरफ़ उसे बढ़ाया। इस नयी चीज़ को पहले तो आशंका से देखते हुए चूहे ने सिर ऊपर उठाया। उससे निगाह मिली और एक चमक जागी। वह भरोसे के क़ाबिल लगा उसे।

तू तू! कुज़े को अपनी ओर बुलाने के लिये कहते हैं। चूहे को ज़्या कहेंगे। चू चू! कुछ ऐसा स्वर जीभ और तालु से निकाला। पहले हिचक के साथ और फिर हिचक तोड़ते चूहा एक-एक कर अपने पाँव लकड़ी पर ले आया। दोनों की आँखों में उज़्मीद कौंधी। लकड़ी पर चलकर पार करने में चूहे को कहीं दिक़्क़त हो या वह फिसल न जाए...! सोचकर उसने चूहे समेत लकड़ी को इधर खींच लेना चाहा। पर अपने उबारे जाने की इस तेज़ी को वह सँभाल नहीं पाया और नीचे धार की तेज़ी में गिर पड़ा। नन्हा चूहा अब बुरी तरह जूझ रहा था अपनी नन्ही जान बचाने के लिये और काले पानी के प्रवाह में बहता जा रहा था।

लकड़ी एक ओर फेंकी और तुरन्त किनारे लेट गया। अब कोई उपाय नहीं था इसके सिवा। कितना भी साफ़ हो नाला स्याह होता है। झट हाथ अन्दर डाला काले पानी में छटपटाते ऊब-डूब होते बहते जाते उस चूहे को बचाने के लिए। दो बार कुछ हाथ नहीं आया कीचड़ पानी के सिवा, पर तीसरी बार में चूहा मिल गया। बड़ी कोमलता से हथेली पर उस नन्हीं जान को सँभालकर किनारे रखा। धन्यवाद! भीगकर और गयी जान के वापस आने के अहसास से काँपते चूहे ने उसे कातर नज़रों से देखा।

धूप की ज़रूरत थी उसे! सावधानी से हथेली पर उठाकर थोड़ी दूर घास के उस हिस्से पर रख दिया जहाँ अभी हल्की धूप थी। लेकिन तुरन्त कौवों की काँव-काँव ने जतला दिया कि वहाँ भी वह सुरक्षित नहीं था। मौक़ा लगते कोई उस चूहे पर झपट्टा लगा देगा। उसने तय किया अभी कुछ देर वहीं बैठेगा। उसे देखता रहेगा। जब तक बेचारे की जान में जान न आ जाए और सूखकर वह चलने-फिरने, भागने लायक न हो जाए। जान के बचने के तुरन्त बाद उसके जाने के आसार सबसे अधिक होते हैं। सच में बचाना उसके बाद भी नज़र रखना है! चूहा धूप सेंकता हल्का होता रहा। वह अगोरे रहा वहीं। इस बीच मिट्टी कुरेदकर एक नन्हा-सा बिल भी बना दिया उसके लिये और उसे रास्ता दिखा दिया। वैसे ज़िन्दगी का ज़्या भरोसा पर अब चूहा पहले से सुरक्षित था। और इसी भरोसे के साथ वह आगे जा सकता था। विदा दोस्त! उसने बिल में जाते नन्हें चूहे को देखा। एक बार फिर से धन्यवाद! मेरे लिये इतना करने के लिए!! बिल से पलटकर तकते चूहे की आँखों में लिखा था।

तुज़्हारे लिये कहाँ! यह तो मैंने अपने लिये किया या कहो... अपने किसी के लिए...! सोचा उसने। तब तक चूहा जा चुका था। वह भी आगे बढ़ गया।

तीसरी सहायता के अवसर ने अप्रत्याशित रूप से उसे आवाज़ दी।''सुन ऽ... रुक!'' दिन की तीसरी बस से उतरकर वह इसी तरह फुटपाथ पर बढ़ा जा रहा था कि किनारे अपनी बोरी-कथरी लिये बैठी बूढ़ी औरत ने आवाज़ दी।''आ... इधर!'' आवाज़ पर ठिठका देख बूढ़ी ने इशारा किया। पास जाने पर बोली ''बैठ जा!'' जर्जर देह में जान नहीं थी पर आवाज़ भरपूर।

''पीठ में कबसे काट रही है चींटी। तनिक देख तो! उमर के साथ नज़र मेरी कमज़ोर हो गयी है। वैसे भी पीठ पीछे हर कोई अन्धा होता है! हाथ भी वहाँ तक नहीं जाते...।'' पीछे से कुरती ऊपर करते बूढ़ी बोली।

''किसी बच्चे से दिखवा लेती दादी!'' वह अचकचाया।

''तो तू ज़्या बूढ़ा है मेरे आगे!'' दादी बोली, ''और पोता नहीं हुआ ज़्या?'' उमरदार किन्तु कड़क आवाज़ ने घुड़का।

जूढ़ी पीठ। गोरी। तेल न लगने से रूखे सफ़ेद खराशों से भरी। लाल लाल मस्से थे उस पर ढेर सारे। बड़े-छोटे। चिज़ियाँ भी। पर चींटी कहाँ थी...?

''आँख से नहीं देख पा रहा तो हाथ फिराकर देख! देह के लिये पोरों में आँखें होती हैं।''

कोई देखेगा तो ज़्या कहेगा! वह ठकमक।

''किस सोच में पड़ा? सीधा काम कर अपना और ज़्यादा सोचा न कर! किस माई के लाल में मजाल कि कुछ भला बुरा कह दे! नज़र कमज़ोर ज़रूर है मेरी पर इतनी नहीं। चींटी नहीं देख सकती पर आदमी को देख लेती! तो वह मैंने देखते देख लिया। तू मन से खरा सोना है। दिल का बिलकुल साफ़...!''

बहुत रगड़ खाकर हुआ है ऐसा! पाँच मर्तबा। वह कहता। लेकिन बस इतना कहा ''...चींटी तो मिली नहीं दादी। काटकर निकल गयी होगी। या... यह भी हो सकता है पीछे से किसी बच्चे ने चींटी काटी हो...!''

''बच्चे कहाँ? उन्हें फ़ुर्सत किधर! जाने किस धुन में हैं सब। किस धन्धे में लगे। किसी बूढ़े को चींटी काटने की कल भी कहाँ उन्हें...! मगर चल... तूने हाथ फिरा दिया तो अब आराम है। जा अब अपना काम देख। दुआ ले मेरी...।'' बूढ़ी ने पतली टहनी की तरह अपने काँपते हाथ से उसका सिर सहलाया।

सुबह निकला तो लगा था सबसे कठिन आज का ही काम होगा। दूसरों के काम जो आना था। पर यह तो सबसे आसान था। दिन का दूसरा पहर था अभी और तीन मौके मिल गये थे। और खोजना भी नहीं पड़ा था उनको। अवसरों ने ख़ुद पुकारा था! आगे भी मिल जाएंगे। मिलते रहेंगे। वह बस निश्चिन्त हो राह पकड़ कर बढ़ता रहे! और उछाह महसूस किया भीतर अपने।

शायद यह सब संयोग है। चार बसें बदलने के बाद पाँचवीं में मिलना था अगला अवसर। बेहद भीड़ थी उसमें। वह किसी तरह खड़ा था। एक बैठा आदमी टिकट के लिये उतावला था। कंडज़्टर दूसरी तरफ़ था। वह एक पुल या ज़रिया बन सकता था दोनों के बीच! उसने उझककर हाथ बढ़ाते हुए पैसे लिये और कंडज़्टर की ओर बढ़ा दिये। ज़्या इस छोटी-सी

सहूलियत को मदद में गिने... ? इसी असमंजस में पड़े टिकट कंडज़्टर से लेकर बढ़ा दिया उस मुसाफिर की तरफ़। लेकिन जल्दी ही यह छोटी मदद बड़ी होने वाली थी। यात्री ने अपनी जगह से उसकी ओर उझकते टिकट लिया, उसके हाथ से और सुरक्षित उसे रखने ही वाला था कि छिटक गया। छूटकर नन्हे पंछी के पंख-सा लगभग हवा विहीन उस बस में हलके लहराते काग़ज़ी टिकट ने पास का एक कोना पकड़ लिया। ऐसा कोना निकाल पाना जहाँ से मुश्किल था। मुसाफ़िर रह-रहकर झुककर नीचे से निकालने की कोशिश कर रहा था और आकुल, असफल, मुड़कर इधर- उधर ताक रहा था। उसे लगा मुसाफिर को और सहायता की ज़रूरत है। भीड़ लाँघता वह उसकी सीट के पास गया। खिड़की की तरफ़ नीचे कोने में हाथ लगाकर ख़ुद भी कोशिश की। मगर टिकट ने ऐसा अँतरा ढूँढ़ लिया था जहाँ से वह दिखाई तो दे रहा था, पर हाथ नहीं आ रहा था।

''ज़्या करूँ! दूसरा टिकट ले लूँ?'' थोड़ा हैरान, थोड़ा परेशान कुछ घबराये, कुछ हड़बड़ाये मुसाफ़िर ने कहा। उसने शान्त किया उसे।

''घबराने की बात नहीं। उसकी कोई ज़रूरत नहीं! टिकट तो तुमने लिया ही है!''

''पर कहीं पूछा किसी ने तो ?

''तो बता देना कि यहाँ गिर गया। बस्स! साथ देने के लिये मैं हूँ ना! वैसे ऐसा कुछ होगा नहीं। बेफ़िक्र रहो। और इत्मीनान से चलो!

मुसाफ़िर मुस्कराया। शायद ख़ासे अन्तराल के बाद। सचमुच उसे तसल्ली हो गयी थी। उस मुस्कराहट में आभार था उसके लिए। कुछ वैसा ही जैसा उस नन्हें चूहे की आँखों में तैर रहा था।

दो पड़ाव बाद मुसाफ़िर उतर गया। बस रुककर चलने ही वाली थी कि उसका ध्यान गया। नीचे पड़ाव पर दो नीली वरदी वाले खड़े थे। टिकट देखने वाले! उसे आभास हो गया मुसाफ़िर मुश्किल में था। बस तब तक बढ़ने लगी थी। हड़बड़ाकर भीड़ को चीरता वह गति पकड़ती बस से नीचे उतरा। उतर कर भी कुछ दूर तक साथ बढ़ता चला गया। छूटकर पलटा और पीछे भागकर पड़ाव तक पहुँचा। सच में नीली वरदी वालों की उस मुसाफ़िर के साथ ज़िरह हो रही थी। दो वरदियों के बीच घिरा वह असहाय अकेला हार की कगार पर था।

''निकालो जुर्माना। सौ रुपया!''

''पर टिकट तो मैंने लिया था। गिर गया वह बस में ही... !''

''सब पकड़े जाने वाले ऐसा ही कहते हैं। सौ दिन में एक दिन तो तुम जैसे पकड़े जाते हैं! उस पर भी ज़्या सोचते हो हम छोड़ देंगे... ?''

''मैं कैसे यक़ीन दिलाऊँ... !''

''यक़ीन-वकीन छोड़ो। टिकट हाज़िर करो या पैसे!''

''ज़्या करूँ अब... !''

''टिकट! पैसे!'' कड़ककर वरदी बोली। तब तक वह भागकर पहुँच चुका था।

''साब! छोड़ दीजिये इसे। टिकट लिया था इसने!''

''रुक, रुक, रुक। तू कौन है बे ? और कहाँ से टपक पड़ा बीच में ?'' बड़ी रुख़ाई और चिढ़ के साथ आवभगत हुई।

''मैं भी इसके साथ था उस बस में। टिकट इसने लिया था। सच में! लेकर रखते गिर गया था। बस में ही।''

''अच्छा! बस में। सच में!'' व्यंग्य से कहा एक ने।

''अच्छा उस बस में था तो ज़रा तू भी टिकट निकाल अपना।'' दूसरी वरदी ने घेरने की कोशिश की। उसने जेब में अपना डेली पास टटोला। एक पल तो लगा कि वह भी किसी अँतरे में समा गया है। फिर मिल गया। मुड़ा-तुड़ा। सीधा किया उसे और दिखाया।

''हुज़्म! पर इससे यह कैसे साबित होता है कि इस आदमी ने भी टिकट लिया था।''

''आपको यक़ीन करना होगा! जब दो ज़िज़्मेदार लोग कह रहे हैं... !'' उसने बेधड़क कहा।

''और हम ज़्या झूठे हैं? कहना ज़्या चाहते हो।''

''यही... कि यह बात सही है। टिकट इसने लिया है। अब बस में उड़ जाए, गिर जाए तो भला मुसाफ़िर पर आँच ज़्यों आये ? ऐसा हो तो सकता है। यह टिकट ही ऐसा है। फिर कहा मानना चाहिए... !''

''लेकिन नियम नियम है!'' वरदी ने टोका।

''टिकट भी तो टिकट है!!'' वह भी नहीं रुका।

''लेकिन वह टिकट है कहाँ ?'' दूसरे ने आड़े हाथों लिया।

''उसी बस में। कहा ना!''

''ठीक है चलो! अभी देखते हैं। सच सामने आ जाएगा। पड़ाव पर पकड़ते हैं उस बस को। साथ चलो! और हाँ। टिकट वहाँ नहीं हुआ तो सौ-सौ देने होंगे दोनों को। समझे ?''

''और अगर हुआ तो ?'' उसने सवाल किया।

''तो... कोई बात नहीं!''

''कोई बात कैसे नहीं। यह कैसी शर्त हुई! बात हमारी सही हुई तो सौ-सौ हमें दिये जाने चाहिए!''

''ठीक है चलो। देखते हैं कितने सच के हो धुले!'' पहले वरदी वाले ने तैश में कहा।

''अरे ऐसा न करो! मेहनत का कमाया चला जाएगा। यह आदमी शज़्ल से सच्चा लगता है... !'' दूसरा उसके कान में बुदबुदाया।

''देखा जाएगा! जाएगा तो आएगा!'' पहला अब सुनने वाला नहीं था। एक-एक को फटफटी के पीछे बिठा दोनों चल दिये।

मुसाफ़िर कुछ घबराया हुआ था। नन्हीं पर्ज़ी की तरह कोने के फाँफर में अटके उस टिकट का ज़्या भरोसा। बस के आगे चलने पर सरककर अब तक कहीं इधर-उधर भी हो गया होगा या नीचे गिर पड़ा होगा। नहीं मिला तो अब दो सौ जाएँगे! पहले वरदी वाले की फटफटी के पीछे बैठा रास्ते भर अपनी जेब देखता रहा बेचारा।

पड़ाव में बस मिली। अगले फेरे के लिये जाने ही वाली थी कि दोनों वरदी वालों ने उसे रोका। कतार में लगे यात्रियों को कोफ़्त हुई यह सब ज़्या हो रहा। कंडज़्टर ने सवारियों को चढ़ने का इशारा कर दिया था, पर उन्हें मना कर दो वरदी वाले दाख़िल हो गये दो लोगों को साथ लिये। यह कौन-सी जाँच या पड़ताल है! अन्दर की बात उन्हें पता नहीं चल पायी। न यह कि टिकट अब भी ठीक उसी जगह उसी तरह इत्मीनान से पड़ा था। उतनी देर से वह वहीं पड़ा था... मानो सच का साक्ष्य होने का भार उठाये! सीधा वहीं जाकर वह रुका और उस ओर किया इशारा।

पहला खिसियाने अंदाज़ में अपनी खीस से सौ-सौ के दो पर्ज़े निकालने

को हुआ कि दूसरे ने रोक दिया।

''देखो, देखो। सही टिकट है भी या नहीं। देख तो लेने दो... !'' टिकट झलक तो रहा था पर निकाल पाना कठिन था। दूसरे वरदी वाले ने चालक के पास रखे औजार निकाले और उससे किसी तरह टिकट को निकाला।

''अब तो देना ही होगा न!'' पहले ने खीज दूसरे पर उतारी। ''...फिर बेकार वक़्त बरबाद कर ज़्या फ़ायदा।''

''मैं तो पहले ही कह रहा था... कि यह आदमी सच्चा ... !

''अब चुप भी करो। भरपाई कैसे होगी यह सोचो! सौ-सौ दोनों की जेब में डाल उन्हें चलता कर'' पहले ने दूसरे को झिड़का। मुसाफ़िर ने उसे धन्यवाद दिया और अलग होने से पहले मना करते-करते भी दोनों सौ के नोट उसी की जेब में डाल दिये। इतने में तो आठ रोज़ तक वह डेली पास निकालकर घूम सकता था! पर ये पैसे वह अपने पास नहीं रखेगा, उसने सोचा। किसी ज़रूरतमन्द को दे देगा। पाँचवी मदद शायद इसी तरह हो! हालाँकि पैसों की मदद ज़रूरी नहीं कि सच्ची मदद हो। इससे वह वाक़िफ़ था। मगर कि गाढ़े समय किसी सही आदमी के लिये यह मदद भी कारगर हो सकती है। फिर जिस तरह यह पैसा उसे मिला था अवश्य किसी ऐसे परमार्थ के लिये ही। वरना वरदी वालों को लेते देखा गया होगा, देते किसी ने ज़्या कभी सुना?

इस ख़ातिर तय किया अभी पैदल ही चलेगा। रास्ते में ज़रूर कोई मिलेगा। पैदल यहाँ से उसका डेरा कोई घंटे सवा घंटे होगा। कोई तकलीफ़ नहीं। हाथ में था समय भी।

सूरज धीरे-धीरे मद्धम हो रहा था। परछाइयाँ बढ़ रही थीं। ऐसे में रास्ता चलते एक झुकी परछाईं सड़क किनारे नज़र आयी। एक उम्रदराज़ औरत माथे पर हाथ रखे बैठी थी। जैसे किसी गहरी व्यथा के बोझ तले।

''ज़्या है माई!'' पास जाकर पूछा।

स्त्री ने कुछ नहीं कहा।

''कुछ तो बताओ! उसने फिर बड़ी विनम्रता से आग्रह किया।

''ज़्या कहूँ बेटा! परछाईं मानो अपने में सिमटने की कोशिश करने लगी। ''...मैं कोई ...माँगने वाँगने वाली औरत नहीं। यह काम होगा भी नहीं मुझसे। इसलिए दो दिन से बैठी हूँ ऐसे ही। समझ में आता नहीं ज़्या करूँ। ज़्या होगा इस उम्र में मुझसे... !''

बुजुर्ग महिला ने बताया वह बहुत अच्छे तो नहीं पर खाते-पीते घर की थी। बेटा छोटा-मोटा काम करता था पर घर उससे चल जाता था। दो बेटियाँ थीं जिनकी शादी अच्छे घरों में हुई थी। आदमी अपनी ज़िन्दगी में ही कर गया था। उसका काम अच्छा था। उसके गुज़रने के बाद अनुकज़्पा आधार पर उसी के दफ़्तर में बेटे का काम लग गया था। बढ़ती उमर का ध्यान कर और बेटे के बार-बार कहने पर महीना भर पहले कचहरी में जाकर पुश्तैनी घर उसने उसके नाम कर दिया था। बस यही कर के ख़ुद अपना हाथ काट लिया... ! औरत ने रुलाई रोकते कहा। दो दिन पहले कहा-सुनी के बाद बहू के कहने पर बेटे ने घर से बाहर कर दिया था। बेटियों की चौखट पर जाने और उनके यहाँ का पानी पीने से अच्छा उसकी नज़र में मर जाना था। पर मरना भी इतना आसान कहाँ... दिन ऐसे देखने थे... ! वह बह पड़ी।

''रोओ नहीं माई!'' उसने किसी तरह चुप कराया। और मना करने के बावजूद दो सौ उसकी रुखी-सूखी मुट्ठी में रख दिये। मगर पैसे देने से जैसे वह और ग्लानि से गड़ गयी।

''ऐसे मैं नहीं ले सकती बेटा। धिज़्कारेगी मुझे मेरी आत्मा! कुछ कर के मिलें तो ठीक है, पर ऐसे नहीं! ना!'' वह रुपये लौटाने लगी।

''ज़िन्दा रहोगी तभी तो कुछ कर सकोगी माई। पहले इन पैसों से खाने-पहनने, ओढ़ने का तो कुछ ले लो। सरदी भी अब बढ़ने लगी है। रख लो ये पैसे। समझो दूसरे बेटे ने दिये! ...तुम कहो तो मैं तुज़्हें घर भी पहुँचा दूँगा।''

''वह घर अब मेरा कहाँ! उनके नाम कर दिया। इस जनम में तो अब लौटकर उनके यहाँ नहीं जाना। बहू की बात पर बेटे ने ख़ुद हाथ पकड़कर निकाला है! जब तक अपने नाम से घर था सब मान आदर था। लिखकर अपना हाथ काट दिया मैंने... ! अब मत कह वहाँ जाने के लिए!'' कलपते हुए बूढ़ी माई बोली।

''तो चल माई मेरे यहाँ। एक छोटा-सा कमरा है मेरा... ! पर मुझे ख़ुशी होगी।''

''कोई काम दिला दे बेटा। वही आसरा हो जाएगा मेरा... !'' इस 'दूसरे बेटे' के यहाँ जाने में भी शायद माई को भीतर उतना ही संकोच था।

''ज़्या काम तू कर पाएगी माई! और कौन कराएगा तुझसे, काम करने की ज़्या तेरी उम्र है! घर-बरतन, पोंछा यह भी तो हो नहीं पाएगा। न बच्चे सँभाल सकेगी... !''

''लेकिन तेल मैं ही सुबह शाम लगाती थी दोनों पोतों को। और हर महीने पाँच दिन पड़ती थी तो बहू को भी... ! अगर ऐसा कुछ... !''

वह तो भूल ही गया था! दिमाग़ की बज़्ती जली। दिलरुबा आंटी!!

''माई मालिश का काम तू कर लेगी न!''

''हाँ बिटवा! यह हो जाएगा मुझसे। धीरे-धीरे ही करके... पर इतना सत तो है अभी इन हाथों में। दर्द तो ऐसे ही दूर हो जाएगा। दुआ भर से!''

''तो चल! पहले पास के ढाबे में कुछ खा पी ले। फिर बल मिलेगा। एक बहुत अच्छी जगह फिर मैं तुझे ले चलूँगा। सुबह ही उन्होंने इसके लिये कहा था। और वो ख़ुद भी औरत है दिल की भली ...।''

माई मान गयी साथ चलने के लिए। पर पैसे फिर लौटाने लगी। अभी के लिये रख ले ना! कमाकर लौटा देना! किसी तरह समझाया।

माई का हाथ पकड़ वह चल पड़ा। साथ चलते माई भी कुछ सहज हो गयी और धीमे-धीमे एक करुण गीत गुनगुनाने लगी। गीत बोली में था इसलिए पूरा पल्ले नहीं पड़ रहा था उसके। पर स्वर और लय की कशिश खींच रही थी। इतना समझ में आ रहा था कि वह माँ और बेटे का गीत था। बेट के लिये माँ के हृदय से निकला गीत! माई की लयकारी और गाते हुए उसका चेहरा इतना भला लगा कि गले में कैमरा लिये घूम रहे एक विदेशी ने राह में रोक लिया। उसे उसने थोड़ी देर के लिये अलग हट जाने को कहा और माई को गाते रहने के लिए। गीत और चित्र दोनों को उसने अपने कैमरे में उतार लिया। इन सबके बदले पैसे निकालते उसे संकोच हुआ होगा इसलिए जाते जाते परदेसी अपना जैकेट निकाल कर कर माई को पहना गया ''लुकिंग गुड! या!''

कैमरे वाले के जाते माई ने जैकेट उतारकर उसे पहना दिया। लुनकिन गुड़! अया! पहनाकर विदेशी की नकल उतारते वह मुसकुराई। देख मना न करना! इसे तू रख लेगा तो तेरे पैसे रखना मेरे लिये कुछ हल्का हो जाएगा... !

वह बोली।

माई के गीत और चित्र की सौगात लेकर लम्बे बालों, ऊँचे क़द वाला वह सैलानी ख़ुश-ख़ुश आगे बढ़ गया था। पीछे एक नयी सूझ उसे मिली। अगले दो दिन के लिए जिसके बारे में अभी तक कुछ सोचा न था। उसने मन बना लिया। अगले दिन पाँच अनजानों से पाँच अनसुने गीत सुनेगा। लोकगीत, उनकी बोली, उनकी माटी उनके गाँव, उनके अतीत के! और पाँचवे और आख़िरी दिन पाँच अनूठे दृश्यों के चित्र उतारेगा। वैसा उम्दा साधन तो नहीं था जैसा उस विदेशी का लेकिन मोबाइल में ही उसके मामूली-सा कैमरा था। उस मामूलीपन की कसर बहुत अच्छे दृश्य चुनकर पूरी कर लेगा! सोचकर वह ख़ुश हुआ। आगे की राह मिल गयी थी!

चौथा दिन— पाँच गीत

आज चौथा दिन था और पाँच गीत उसे सुनने थे। पाँच अपरिचित कंठों से उनकी बोली के गीत, अनसुने! यानी प्यार के स्मृति उत्सव में जीवन का लास-रास! यह अच्छा था कि ऐसे पाँच काज ही सोच रखे थे दिन के लिए। इससे पूरा फैलाव मिल जाता था और कोई हड़बड़ी या जल्दबाजी नहीं होती थी। पर इसके लिये भी असली आभार का हक़दार तो उसे ही मानना होगा। उस पिछले प्यार को! पंचमी के बदले अगर दशमी उसकी तिथि होती तब तो दिन में दस ऐसे दुस्साहस करने होते और अच्छा चक्कर पड़ जाता! भारी पड़ जाता उसके लिये इतना! शायद किसी के लिए।

बहरहाल! सोचा इतमीनान से भ्रमण करेगा। और यह भी कि इसके लिये आज के दिन किसी सवारी पर पैर नहीं रखेगा। किसी पहिये का सहारा नहीं लेगा। तभी तो दुर्लभ गीत मिलेंगे पुराने! आज का एक दिन इसी तरह अपने पैरों पर खड़े चलते गुज़ार देगा। कल निकाल लेगा बस का दैनिक पास! कि अन्तिम दिन अधिक थकान न हो!

कुछ सम्भावित कोने-ठिकाने सोच रखे थे गीतों के लिए। यह भी कि जहाँ तक सम्भव हो गीत अनजाने होंगे। अलग-अलग इलाक़ों अलग-अलग बोलियों के! रास्ते में एक इमारत पड़ती थी जिसमें एक नेपाली चौकीदार था। देखने में सीधा-सादा। आते जाते देखा भर था पर आज तक कभी कुछ सुना नहीं। बिना किसी गीत के अकेले सारी रात का पहरा कैसे देता होगा? उसके पास उसकी तरफ़ का कोई गीत ज़रूर होगा! सोचा आज उसी से शुरूआत करे! अभी वह फ़ुर्सत में भी लग रहा था।

''बहादुर!'' पास जाकर उसने आत्मीयता से पुकारा।

''कौन बहादुर?'' बहादुरों वाले लहजे में ही वह बोला।

''तुम्हीं को बुला रहा हूँ बहादुर!''

''मैं बहादुर नहीं हूँ!'' बहादुर ने जवाब दिया।

''क्यों तुम तो सब लोग बहादुर होते हो! बहादुर ही कहे जाते हो!''

''पर मैं बहादुर नहीं हूँ।''

''ऐसा क्यों कह रहे हो! किससे ग़ुस्सा हो?''

''किसी से नहीं। ग़ुस्सा भी तो वही करेगा जो बहादुर होगा।''

''ऐसा क्यों कहते हो। तुम हो बहादुर!''

''कैसे हूँ बोलो! बहुादर होता तो अपने देस, अपने गाँव, अपनी मिट्टी, अपने लोगों के पास लौटता। शादी वादी बनाता। ज़िन्दगी के नाम पर घर ज़मीन से इतनी दूर चौकीदारी वाली यह चाकरी कर ख़ाली पेट नहीं पालता...!''

''उस हिसाब से तो तुम्हारी तरह बहादुर मैं भी नहीं हूँ। मैंने भी अभी तक शादी वादी नहीं की है भाई!'' बहादुर की बात दिल को छू गयी थी फिर भी उसकी तबीयत को हल्का करने की गरज़ से उसने हँसते हुए कहा। कुछ असर हुआ। बहादुर भी सुनकर हल्के से मुसकुराया।

''अच्छा बहादुर! यह सब सोचते हो तो कोई भूला बिसरा गीत नहीं याद आता है अपनी तरफ़ का? एक अच्छा-सा गीत सुनाओ ना अपनी माटी, अपनी बोली का!''

''गीत मैं नहीं गाता। मुझे नहीं आता।''

''हो नहीं सकता बहादुर, हो नहीं सकता! बोली है... याद है... तो गीत है!''

''रात में कभी-कभी खाँसी या कनकनी रोकने के लिये गाता हूँ तो कुत्ता लोग भूँकता है।''

''कुत्ते लोगों का तो काम ही भूँकना है। पर अभी कोई कुछ नहीं कहेगा। तुम गाओ ना! एक गीत बस। याद से। यादगार सा!''

''ठीक है। पर सुनाऊँ क्या! कौन-सा? ''

''कुछ भी सुनाओ ना। ज़िन्दगी का... प्यार का...। कुछ धरती की बात... उड़ने का अरमान... या और कुछ नहीं तो बस एक बावलापन दिल का! गीत इसी सब से... इसी माटी गारे से तो बनते हैं।''

''आप जो इतना ज़ोर दे रहा तो... सुनाता हूँ। कुछ गड़बड़ होगा तो मत कहना...!'' बहादुर जाकर प्लास्टिक वाली बोतल ले आया। गला तर किया और शुरू हो गया। पहले थोड़ा दबे और सहमे कि कोई और न सुन ले। फिर धीरे-धीरे खुल गया। खुल कर सामने आ गया। कितना भला! कैसा प्यारा! जैसे कोई छुपाया हुआ आँसू का नगीना दिल की तह का! आधा अर्थ तो ऐसे ही उजागर था। बाक़ी मतलब सुनने के बाद उससे समझा...।

हर एक के लिये सुना है
कहीं न कहीं, कोई न कोई रहता है
रिश्ता पहले से जुड़ा होता है
बस पता उसका नहीं चलता है

मैं यहाँ ऐसा अकेला
तो क्या मेरे लिये मेरी वजह से
कोई और कहीं है, जो इतना ही अकेला है?

ऐसे दो दुखी उदास मिलें, मिलकर एक अगर हों
तो दुख बँट सकता है, घट सकता
छँट सकता है, कट सकता
बल्कि दुख मिलकर सुख हो सकता है

फिर दोनों को अलग क्यों कर रखा है
यह पूरा प्रपंच, सारा विधान किसका है
दो के एक न होने में कहो, कौन-सा फ़ायदा है

यों सताने-तड़पाने, तरसाने में आनन्द भला किसे मिलता है
मिलें जो अकेले हैं तो किस शासन का सिंहासन हिलता है?
चुप न रहो, न हँसो, मन्द-मन्द हाँ बोलो
तुम्हीं से कहा प्रभु तुम्हीं को पूछा है...

वहाँ से उठ जाने के बाद भी बहादुर की आवाज़ देर तक दिल में गूँजती रही। बल्कि पीटती रही मानो उसके बन्द दरवाज़ों को किसी हथौड़े से! देर तक और दूर तक वह उसी अनुगूँज को साथ लिये यों ही भटकता रहा। जब तक किसी और आवाज़ ने अपनी ओर खींच न लिया।

कहाँ से आ रही है यह स्वर लहरी? वह ठिठका। हवा में घुली उस लय का पीछा किया। पास में एक बहुमंज़िला मकान बन रहा था। उसी के ऊपर से आ रही थी यह आवाज़! ज़्या गा रहा था यह तो पता नहीं पर अच्छा गा रहा था।

''यह कौन गा रहा है?'' उसने नीचे निगरानी कर रहे आदमी से पूछा।

''ज़्या आपको लग रहा है सच में कोई इनसान है वहाँ?'' आदमी ने जैसे उसकी परीक्षा लेते हुए पूछा।

''ज़्यों? ऊँचाई पर तो है लेकिन दिख रहा है कोई है। भले साफ़-साफ़ नहीं। और आवाज़ भी आ रही है हलकी-हलकी!

''इतनी ऊँचाई पर भी ज़्या कोई इनसान रहता है!'' वह हँसा। ''...अरे ठेकेदार ने उसका नाम काट दिया... पगार बन्द कर दी। फिर भी यह आदमी है कि जाता ही नहीं।''

''ज़्यों?''

''यह तो उसी से पूछो! मनमतंग है।''

''नहीं। ठेकेदार ने काट ज़्यों दिया है उसका नाम?''

''छँटनी करने का मन है। कहता है कड़की है! अब उन जैसों की कड़की होगी तो फिर हम जैसों का ज़्या होगा! फिर यह आदमी है भी बावला। ऐसे भी सब घबराते हैं इससे। धुनी है। काम-वाम वैसे कस कर करता है। पर ठीक नहीं कब ज़्या कर बैठेगा! ठीक है तो ठीक है, नहीं तो...! साल में एक बार ऊपर से छलांग लगा ही लेता है...।''

''ज़्या बात कर रहे हो! फिर भी ज़िन्दा है!''

''है कि नहीं तुम ख़ुद ही देख लो! ऐसे लोगों को ज़्या होगा! ये इतनी आसानी से थोड़े मरते हैं।''

''ऊपर जाने का रास्ता है? साफ़-साफ़ सुनाई नहीं दे रहा नीचे से। लेकिन दिल को खींच रहा है। गा बड़ा अच्छा रहा है...।''

''यह भी ऊपर जाने का ही रास्ता है!'' वह हँसा। ''सुनने का मन है तो चले जाओ इस लिफ़्ट से।''

लिफ़्ट वह लेकिन माल ढोने वाला था। कामचलाऊ और खुला। चढ़ते हिचक हुई।

तुम भी आ जाओ न साथ भाई! साथ गीत सुनेंगे और चले आएँगे। कहा उस भले आदमी को।

''यहाँ इतना डर तो ज़्या होगा दसमंज़िले पर पहुँचकर...!'' बोला तो वह लेकिन साथ आ गया। ...देखो सराहने वाला पकड़कर लाये हैं तुम्हारे लिए! कूदियो मत इस ख़ुशी में! एक साथ खटते और गाते उस मनमतंग को कहा जो पतंग की तरह मानो किसी पेड़ की फुनगी में फँसा झूल रहा था।

''अच्छा-अच्छा! भाग हमारे!'' दोनों हाथ जोड़ दिये कामगार ने।

''चलो, चलो, रुको मत! हाथ और होंठ दोनों चलते रहें। ठेकेदार मुआ आएगा तो नीचे से ही गुलेल तान देगा...।''

''अच्छा त सुरुये से सुरू करते हैं!''

''इतनी ऊँचाई से ज़्या उड़ने का कोई गीत सुनाओगे?'' अपनापन जोड़ने और थोड़ा सहज करने की गरज़ से पूछा उससे।

''ना, ना! पेट का गीत! और माटी का!'' कहकर उसने आलाप उठाया।

रोटिया जे पईंती
त इहाँ काहे अईंती
पिरितिया भेंटाइत
त फिर काहे जईंती...

बावला था पर गाया नहीं बौराया-सा। गीत सयाना था। और स्वर सुलझा। जीवन का। मिट्टी का। प्यार का। और इन सबके अभाव का।

''यह तो तुम यहाँ गा रहे हो! देस से दूर! वहाँ जाकर कैसे कहा जाएगा, मैं कहूँ? तनिक अपने तरीक़े से...!''

''हाँ, हाँ कहो ना भैया!

''मुँह का कौर अगर मिल जाता
दूर देस ज़्यों जाता
दिल को ठौर अगर मिल जाता
फिर वापस ज़्यों आता...
ज़्यों ठीक है न!'' साँस वापस भरते पूछा उससे।

''हाँ बिलकुल यही बात है! एकदम सही कहा! तुम तरजुमा अच्छा करने वाले बन सकते थे!

''बन तो बहुत कुछ सकता था!'' उसने कहा।

''और कहो ज़्या सेवा करें?

''बस इतना ही काफ़ी है! चलो भैया अब! नहीं तो इसका कुछ भरोसा नहीं। और न उस ठेकेदार का। आएगा तो ख़बर लेगा...।'' नीचे से लेकर आने वाले ने टोका और वापस माल वाले लिफ़्ट पर चढ़ाकर नीचे लेता आया।

इसके बाद आगे था लम्बा रस्ता और पसरती धूप। मन किसी पंछी-सा ऊपर-ऊपर उड़ रहा था और तन पाँव-पाँव चल रहा था धूल में। लेकिन कड़कड़ाती धूप ने दोनों को एक साथ सामने खड़ा कर दिया एक सस्ते होटल के आगे जहाँ बोर्ड पर समूल्य आमन्त्रण था। इडली, डोसा, भजिया, रोल, बड़ा पाव...! क़ीमत भी औक़ात में लग रही थी।

''ज़्या? बोलो!'' एक छोकरा आकर खड़ा हो गया।

''सुन... बड़ा पाव अभी होगा?

''हाँ है ना!''

''तो भेज दे!''

खाने को तो कुछ नहीं आया। एक और छोटा लड़का आया पानी लेकर। गिलास जग टेबल पर रखकर बड़े अन्दाज़ से बोला ''ज़्या? बोलो!''

''ज़्या बोलो... ज़्या बोलो! बड़ा पाँव बोल तो दिया पहले।'' भूख की तिलमिलाहट में कहा उसने।

''पहले कहाँ कुछ बोला साबजी! बड़ा पाव तो अभी आपके सामने आया।''

''ख़ाली पीली दिमाग़ मत खा! यहाँ पहली बार जरूर आया हूँ। पर इसका मतलब नहीं कि कुछ नहीं पता। बहुत बार खा चुका हूँ बड़ा पाव।''

''तो इस बड़े पाव को तो आज़मा कर देखो!'' अदा से उसने सिर झटका।

''कौन बड़ा पाव?''

''मैं बड़ा पाव! स्टाइल से छोटे छोकरे ने अपनी ओर इशारा किया। ...प्यार से यहाँ सब अपने को बड़ा पाव कहते हैं।''

''ठीक है! एक प्लेट अपना ही ला!'' उसने भी वैसे ही कहा।

''यानी बड़ा पाव!''

''नहीं तो ज़्या भेजा तेरा!''

''मीठी चटनी के साथ या तेज़ तीख़ी कि खट्टी वाली!''

''फ़र्क ज़्या है? बता दे!''

''एक आँसू लाती है... एक गुदगुदी लगाती है और एक से डकार आती है।''

''जा! आँसू के साथ ला!''

मज़ेदार था।

''असली नाम ज़्या है?'' पूछा।

''अरे... वो तो मुझे भी अब ठीक-ठीक याद नहीं। बहुत छोटा था तो शायद चिल्लर था।''

''बड़ा हो गया तो पाव हो गया! ज़्यों?''

''हाँ।''

''अच्छा है! पर इधर का तो तू नहीं लगता। है किधर का?''

''धीरे बोलो! सेठ सुनता है तो शक़ करता है... !'' फिर झुक कर कहा ''बंगाल का! आमार सोनार बांगला!''

''तो बंगाली है! बाबू मोशाय?''

''नहीं ये! चट से फटी निकर उठा फुन्नू दिखा दिया। मुस्लिम! बांगला देशी। भागकर आया हुआ!''

''ऐह! मत कर ऐसे! नहीं तो मारा जाएगा! अच्छा ये बता परिवार कहाँ है तुज़्हारा?''

''मारा गया! भागा था तो साथ! फिर मैं अकेला रह गया! भटकता-भटकता इधर आ गया।'' बोलकर वह चुप हो गया। डबडबाया-सा! फिर बहलाने के लिये अपने को कुछ गुनगुनाने लगा। सुनकर ध्यान आया शायद यह कोई दुर्लभ गीत जानता होगा!

''अपनी तरफ़ का कोई गीत पता है? अपनी बोली का? थोड़ी देर तक इधर से उधर, उधर से इधर उसकी भीगी गुनगुनाहट सुनते रहने के बाद रहा नहीं गया।

''जानता हूँ। पर यह सेठ गाने नहीं देगा। कान ख़राब हैं उसके इसलिए गुनगुना कर गुज़ारा करता हूँ।''

''ऐसा ज़्यों नहीं करता! थोड़ी देर के लिये बाहर निकलकर गा ले!''

''जागने से लेकर सोना तो यहीं होता है। बाहर कहाँ जा पाता। सेठ कहीं इधर-उधर जाने भी नहीं देता कि भाग न जाऊँ! डरता है भाग गया तो ऐसा फोकट का खटने वाला छोकरा कहाँ मिलेगा! खाली पेट पर! अरे मैं पहले से भागा हुआ अब भागकर जाऊँगा कहाँ! फिर बाँगला देश?''

प्लेट उठाकर गया और फिर पानी का गिलास लाकर बोला ''ऐसा करो। सौ का नोट दो। छुट्टा करने के लिये सेठ तुज़्हारे साथ-साथ सड़क उस पार वाली दुकान पर भेजेगा। उधर ही रास्ते में सुना दूँगा। नज़र तो लगाये रहेगा सेठ, पर कान उसके उतनी दूर का सुन नहीं पाएँगे!

इस तरह चोरी चुपके उसने यह देसी गीत सुनाया

आमार बापेर मतो भालो मानुष जगते आर नाइ
आमाय मास्टर मोशाय मारबे बोले लिखा पोढ़ा शिखाय नाइ

आमार बंधु सकले जखोन जाय रे इसकूले
बाबा तखोन आमाय नीये जाए बोड़ो बीले
बोले माछ धरिबो भालो खाबो लिखापढ़ाय कार्जो नाइ...

तीन गीत इस तरह हो गये। पर चौथे ने अच्छा इन्तज़ार कराया। धूप अब ख़ासी तेज़ हो गयी थी। कंठ सूख रहा था। नाले किनारे लगे एक नलके पर जाकर गला तर किया। पहले सोचा आँखें मूँदकर पानी पिये। लेकिन फिर खुलकर पिया। ज़्या है! मैला और भला पानी साथ साथ था! वैसे भी आँखों से अधिक वहाँ नाक बन्द करने की ज़रूरत थी। सो कर नहीं सकता था पानी पीते। हर रंग, हर बू अपने आप में जीवन की सच्चाई। आँख या नाक कहाँ तक बन्द करेगा कोई!

रुका एक जगह आकर जहाँ मजमा लगा था। घूम घूम कर गाने वाला और गा-गाकर माँगने वाला एक परिवार वहाँ कुछ सुना रहा था। आदमी हारमोनियम बजा रहा था औरत गा रही थी। लड़का पत्थर पीट रहा था, लड़की मैली ओढ़नी फैलाये गोल-गोल घूम रही थी, सुनने वालों के बीच। ज़्या ऐसा कुछ तय किया है उसने कि पेशेवर गाने वालों से नहीं सुनेगा? अपने आप से उसने सवाल किया। पर ऐसा कुछ पहले से तय तमन्ना या करार न था। वह भी भीड़ में शामिल हो गया। लेकिन भीड़ का हिस्सा नहीं हुआ। वे प्रचलित फ़िल्मी गाने गा रहे थे भीड़ के लिए। और भीड़ सराह रही थी। और गवा रही थी। मोल उसका भले दे न दे! वह खड़ा रहा। अड़ा रहा। भीड़ अब छँट गयी थी पर वह ठहरा हुआ था।

''ज़्या बात है! कुछ कहना है?'' पूछा आदमी ने।

''नहीं। सुनना है। सुना सकते हो ख़ास अपनी तरफ़ का, अपनी बोली का कोई गीत?''

''हम ख़ानाबदोश तो... जंगल की तरफ़ से आये हैं भैया! जंगल बिकाऊ हो गये तो जंगल वाले ग़रीब। ज़िन्दगी जंगल हो गयी और काटनी मुश्किल हो गयी तो इधर आ गये। शहर-बाज़ार में। अब तो बरसों हो गये। जो है इधर का ही है। उधर का अब कुछ याद भी नहीं आता। आने नहीं देते...! ज़्या फ़ायदा? तकलीफ़ ही होती है!''

''नहीं। याद करोगे तो कुछ ज़रूर आ जाएगा! कोशिश तो कर के देखो!''

''अपनी ख़ुशबू तक पहुँचने के लिये कोशिश ज़्या करनी है! बस उसे रोकना नहीं है... !'' कहा उसने अपनी जुबान में और अपनी बोली में गाने लगा...। औरत बजाने चली तो हाथ के इशारे से मना कर दिया...

जंगल हैं
पहाड़ हैं
नदियाँ हैं
इस धरती पर

पर जंगल
पहाड़
नदी
और यह पूरी धरती
स्त्री के भीतर है
ज़्योंकि स्त्री सब कुछ है
सब और कुछ दोनों ही

जंगल पहाड़ नदी
और धरती
है सब कुछ
कि स्त्री है
यहाँ रहती
सब कुछ रचती
कुछ और सब को सहती...

गाकर वह चुप हो गया। अब न गाने, न सुनने वाले को आगे का कुछ पता था! जेब से ढूँढ़कर पैसे देने लगा तो दाँत से जीभ काटते हाथ जोड़ते उसने मना कर दिया। पैसे लूँगा तो बेचना हो जाएगा! अपनी मिट्टी को! अपनी मिट्टी, अपनी बोली, अपना प्यार कैसे बेच सकते हैं? इसीलिए जान बूझकर यही सब गाते फिरते हैं पेट पालने के लिए... इल्मी-फ़िल्मी! और बाक़ी दिल में दबाये रहते हैं। ये बच्चे हमारे कुछ नहीं जानते। अपनी धरती के वे गीत! अपनी बोली! और इसमें इनकी ग़लती नहीं है। ...आगे सब भूल जाएँगे। ये गीत सुनने को नहीं मिलेंगे। हमारे साथ चले जाएँगे...।''

जैसे किसी पुण्यात्मा की ज़ुबान! उसकी बात सही हो गयी। आगे तो जैसे अकाल-सा पड़ गया। शुरुआत में सब कितना सहज था। पर दोपहर ढलने के बाद मानो ज़माना बदल गया। कुछ भी मुश्किल था। ज्यों दुनिया ही और हो गयी हो! जिसमें दिल को छूने, रूह तक उतरने वाली कोई भी लय नहीं। किस-किस के पास जाकर नहीं पूछा। पर कहीं सुयोग नहीं हासिल हुआ। किसी के पास फ़ुर्सत नहीं था, किसी के पास गीत नहीं। किसी को कुछ याद नहीं तो कोई बोली ही अपनी भूल गया था। भटकते-भटकते थक गया। और कितना भटके? एक गीत के लिए! शाम ढलने लगी थी। रात पर कोई भरोसा नहीं था। अब लौट ही चले। सोचा। इसके सिवा नहीं चारा। चार गीत मिल चुके थे। नहीं होगा तो पाँचवाँ जाकर माई से सुन लेगा। या दिलरुबा आंटी से। मर्म में छिपा कोई गीत ज़रूर होगा उनके पास...।

बस इसी ऊहापोह में गाढ़ी होती शाम की धुंध में क़दम बढ़ाता जा रहा था कि बगल की खाली ज़मीन से कर्कश सी आवाज़ कानों में पड़ी, चिढ़ाती जैसी। टर टर टर टर टर टरा ... टर टर टर टर टर टरा ... टर टर टर टर टर टरा... टर टर टर टर टर टरा!

यह कौन बेहूदा बेमौसम बकवास कर रहा है! वह भिन्नाया। बरसात तो पहले बीत चुकी है। फिर ज़्या पागलपन है!

एड़ी घुटना कोहनी... और फिर छलांग उससे भी ऊँची! पास की घास से उछलकर मेढक पलक झपकते उसके सिर पर बैठ गया। ...यहाँ नाले में थोड़ा पानी पाया। मन बौराया। अपने लिये काफ़ी है! मज़ा आया। सो गाया! ज़्या बुरा है? और ग़ौर करो तो नहीं ज़्या है! यह देखो। पाइप में उधर छेद है। पानी वहाँ से हरदम फव्वारे की तरह झरता रहता है। वही मेरा झरना है। और वहाँ होती रहती है हरदम बरसात। जैसे फिल्मों की शूटिंग में! गाने के लिये मन चाहिए मौसम नहीं...।

''पर यह गाया भी तुमने कितना बेकार। ज़्या है! यह कैसा गाना है? टर टर टर टर टर टरा ... टर टर टर टर टर टरा ! बेसिर पैर का। कुछ भी पल्ले नहीं पड़े जिसका...!

''यह बावलेपन का गीत है। तुमने ध्यान से नहीं सुना। फिर से सुनो...! ज़रा मन से... और अपनेपन से!'' कहकर मेढक ने मुग्धमगन भाव से आँखें मूँदी और फिर से शुरू हो गया।

टर टर टर टर टर टरा
नाले में भी है मजा
मुँह में भर इतनी हवा
मरे साँप हो दोमुँहा...

''अरे! यह तो बताओ! अब तुज़्हारा गीत मैं पकड़ पा रहा हूँ! तुज़्हारी बोली समझ पा रहा। यह कैसे?''

''वह ऐसे... कि तुज़्हारे सिर पर चढ़कर समझो वह चिप या सॉज़्टवेयर मैंने लगा दिया कि तुज़्हें समझ आये मेरी भाषा! और तब तक समझते रहोगे जब तक कहीं और मुँह नहीं खोलोगे... किसी आदमी से नहीं बोलोगे! वैसे देखो तो वैसा कुछ लगाया नहीं है। बस थोड़ा लार या लस। चाहो तो अभी पोंछ सकते हो! मेंढक हँसा और फिर छलाँग लगाकर सामने के पत्थर पर बैठ गया। किसी मेढक की हँसी भी उसने पहली बार देखी थी!

''अब बोलो मेरा गीत कैसा लगा!'' मेंढक ने अपनी भवें उचकायीं।

''जैसा तुमने ख़ुद कहा... बावलेपन का गीत है! बुरा नहीं। पर यह साँप किधर से आ गया इस गीत में! वह सच में है या तुज़्हारे भीतर का डर?''

''सच है। एकदम सच। और हरदम रहता है घात लगाये। इसीलिए आँखें मूँदकर गाया तो तुज़्हारे ही सामने! ...मगर मैंने भी तय कर रखा है। भीतर पूरी हवा भरकर रखी है। कभी धर दबोचा उसने तो उसी हवा से गलफड़ फुला दूँगा। और पीछे से पूँछ फाड़कर निकल जाऊँगा। दोमुँहा होकर उसके मरने की जो धमकी है गीत में इसीलिए! अब तो समझ गये होगे! अभी वह किसी चूहे के बिल में छुपा है, नहीं तो तुज़्हें दिखा देता...!''

''अच्छा है अपनी बोली की समझ देकर तुमने अपना गीत मुझे सुना और समझा दिया! वैसे भी एक और अजानी भाषा का अजाना गीत मुझे सुनना था। पर यह कहो... कहीं अब तुज़्हारी ही बोली तो मैं नहीं बोलने लगूँगा?'' मेढक से पूछकर आश्वस्त हो लेना चाहा।

''घबराओ नहीं... ! ...अपनी बोली भूलना आसान है पर दूसरी बोली सीखना कठिन! इनसान हो तुम। इनसान की ही भाषा बोलोगे... ।''

मेढक को धन्यवाद दिया कि दिन का पाँचवाँ गीत सुनाकर उसने आज के लिये निश्चिन्त कर दिया था। उस दिलचस्प जीव से विदा लेने के बाद सोचा कम-से-कम आज भर के लिये उसकी बोली की समझ रखेगा। मगर अपने डेरे की ओर जाते बालकनी से दिलरुबा आंटी ने टोक दिया। माई अच्छे से हैं मेरे यहाँ! तुम चिन्ता मत करना। और कहो सब ठीक है ना... ?

जवाब में हाँ कह देता, पर सतर्क था। बस भरा सिर भर हिला दिया। और वह भी इस तरह सँभालकर कि लस न झरे जो था उस पर लगा हुआ!

पाँचवा दिन— पाँच चित्र

आज वह बहुत ख़ुश था और अपने को उजले बादलों-सा हल्का महसूस कर रहा था। प्यार के स्मृति उत्सव की आज पूर्णाहुति थी। इस अघोषित या स्वघोषित आयोजन के चार सफल दिन पूरे हो चुके थे। जो बड़ा काम या बड़ी ज़िम्मेदारी थी उसका बड़ा हिस्सा निभा दिया था। अब आज अन्तिम दिन के लिये अपेक्षाकृत आसान-सा ही काम अंजाम देना रह गया था। पाँच अनूठे चित्र! इसी के साथ अनोखे अजाने अभियानों का यह संकल्प सफल समापन पर पहुँचेगा। और यह भी ज़्या कम अजूबा होगा कि इस बारे में ख़ुद उसके दिल के सिवा किसी और को कानों कान ख़बर भी न थी!

इस मामूली से मोबाइल का कैमरा और भी मामूली था। बस था। और अब तक कुछ ख़ास इस्तेमाल भी उसका नहीं किया था। मगर अच्छा था कि आज उसका अच्छा उपयोग होने जा रहा था। पाँच साल पहले ज़माना नहीं था मोबाइल का। होता तो कहीं उसकी एक तस्वीर लेकर रखता। लेकिन अच्छा था। मोबाइल में होती तब शायद हमेशा के लिये साथ न होती। कहीं कोई तस्वीर नहीं थी तो दिल में बसी थी तस्वीर उसकी। वहीं गरदन झुकाकर देख लिया करता था याद आने पर!

दिन की रोशनी में दृश्यों का अज़्बार था बाहर की दुनिया में, अगर आँखें देख सकें। लेकिन महत्वपूर्ण था उनमें से दृश्यों को चुनना, जिन्हें गुज़र जाने देने के बदले सँजो लेना था। उसने तय किया कुल पाँच ही तस्वीरें उतारेगा आज पूरे दिन में... । ख़ूब अच्छी तरह चुनकर, गुनकर, ताकि हर तरह से यादगार हो सकें वे तस्वीरें! यह भी फ़ैसला किया कि बस का दैनिक पास तो निकालेगा आज, पर ज़्यादा पदचारी ही रहेगा ताकि उन सज़्भावी दृश्यों की परख कर सके और उनके क़रीब पहुँच सके जिन्हें अंकित कर रखना है।

पहली बस से दूर निकल आया जहाँ जनसंकुल था। जीवन की घटाटोप। बस से उतरकर रास्ते पर निकला तो आभास हुआ जैसे बहुत कुछ 'उसी' की क़द-काठी की सुन्दर आकृति ठीक सामने से चली आ रही। इतनी तेज़ी से यह हुआ कि बस एक झलक उसकी देख पाया। उस एक झलक में यों लगा जैसे पंचमी जब मिली थी... उससे और पाँच वर्ष पहले कुछ ऐसी ही होगी। भोली, कमसिन ,मासूम। बहुत हद तक उसी चेहरे की झलक थी उसमें! वहीं विचरते-विचारते वह पहला अनूठा दृश्य मिला जो मन के मुताबिक और मन के सिवा कहीं अंकित कर रखने योग्य था! सड़क किनारे अपनी काठ की गाड़ी पर शीशे का टुकड़ा सामने रखे एक कुष्ठ पीड़िता किसी तरह हाथों से कंघी पकड़े अपने बाल सँवार रही थी। पास की भीड़ भरी दुनिया को एकदम से भूलकर। इस तन्मयता से कि तेज़ी से आते जाते लोगों से जो उनके पास से और तेज़ी से निकलते थे, रोक-टोककर कुछ माँगने का ज़्याल तो उसके ज़हन में अभी बिलकुल नहीं था। वे अगर ख़ुद से देने को कुछ बढ़ायें अभी शायद तब भी वह कुछ न ले! अपने हीरे-पन्ने लुटाने की गरज़ से राजा गुज़रे उधर से और वह आँख उठाकर भी न देखे! कि अभी उसका केशकाल था। उन केशों को और सिर्फ़ उन्हें चाहिए था यह अवकाश। और उसका सारा अवधान! देह गल रहा था पर केश विपुल थे। उसने यन्त्र साधा अपना। इतने पास पर इतनी दूर से, जहाँ से तस्वीर तो साफ़ उतर आये पर कुछ ख़लल न हो चित्रित के दज़-चिज़ आनन्दित लगन में, और लगे भी नहीं कि कोई क़ैद कर ले जा रहा है उसकी इस तन्मयता को उतारकर तस्वीर में! किस कोण से इस तरह तस्वीर आ जाएगी इसकी थाह कर मोबाइल उसने कान से सटा लिया। मानो कहीं बात कर रहा हो। और फिर ज़्लिक किया। यों भी ज़्लैश तो था नहीं उसके इस मोबाइल-कैमरे में। बस ज़्लिक की एक महीन किलक होती... कैमरे की आँख में एक हलकी-सी चमक आती और खिंच जाती तस्वीर। सामने वाले को व्यवधान नहीं होता ज़्योंकि उसे इतने से अमूमन पता ही नहीं चल पाता कि मोबाइल से उसकी तस्वीर ली जा रही... ।

धूप अब खिल चुकी थी। आती सरदी वाली सुहानी धूप। उसी खिली धूप में उसने यह भी निर्णय लिया कि सूर्योदय, सूर्यास्त, नदी झरने, पहाड़ जैसे प्रकृति या भूदृश्यों के चित्र नहीं उतारेगा अपने पाँच अनूठे दृश्य पूरे करने के लिए। नगर महानगर में यों भी इनका साक्षात्कार दूभर था, लेकिन मुमकिन हो तब भी। बल्कि वे चित्र चुनने की कोशिश करेगा जिनमें जीवन की प्रकृति हो! जीवन साक्षात! जीवन जीवन्त!! उसी आस में अभी खुले दिन की हल्की मीठी धूप में नहाता भरमता रहा। वैसे ही किसी अगले दृश्य तक और वह दृश्य सचमुच अनूठा था! अद्भुत!

उसी धूप में चेहरा उठाये एक अंधा याचक बैठा था और एक चिड़िया उसके कंधे पर बैठी अपनी चोंच से उसकी आँखों के कोरों से बह आयी कीच चुग रही थी! दोनों के बीच तनिक भी अविश्वास न था, बल्कि किसी निश्छल बच्चे-सा आनन्द फैला था अंधे के मुख पर और एक सधी सहजता थी चिड़िया के चुगने में, जैसे कीच न हो अमृत के मोती हों! अंधा शायद अभी-अभी सोकर उठा था या मिंची हुई आँखें उसकी ऐसी थीं कि हर कुछ अन्तराल पर कीच उनमें उतर आती थी। और चिड़िया को यही चुग्गा प्यारा था। जल्दी से उसने मोबाइल को चित्र खींचने के लिये तत्पर किया। इस दृश्य को जाने देना नहीं चाहता था। अभी तो कोई दिखावा भी नहीं करना था कि चित्र नहीं उतार रहा कुछ और काम कर रहा मोबाइल पर। हाँ इतना अहतियात बरतना था कि चिड़िया चौंके नहीं। चौंधियाती रोशनी की चकाचौंध तो वैसे भी नहीं थी उसके यन्त्र में।

चित्र लेने ही वाला था कि रुकना पड़ा। लगा कि कोई और दृश्य परिधि में आ रहा। वही लड़की। जो देखने में बीतकर न बीते उस प्यार से मिलती-जुलती लगी थी! सुबह सामने से आते एक झलक में जैसा उसे लगा था! इस बार उसकी बाँयी ओट नज़र के सामने पड़ी। चित्र कुछ देर के लिये ढँक गया। उसकी ग़लती नहीं थी। अपनी धुन में खोयी वह चली जा रही थी।

ख़बर नहीं थी कोई चित्र ले रहा जिसे लाँघती वह गुज़र रही। एक पल रुककर उसे चले जाने दिया। दृश्य अब तक वहीं था। और उसी तरह, जैसे अंकित किये जाने की प्रतीक्षा में। लेकर देखा। अच्छा चित्र उतरा था। दिन और मन की दूधिया धूप में!

थोड़ी ही देर बाद दाहिना पक्ष भी दिखा। उसी लड़की का। सड़क के उस पार। किसी ऑटो वाले को हाथ देकर रोकना चाह रही थी। कहाँ? ऑटो वाले ने पूछा। जवाब उसने नहीं दिया। जवाब देने पर अकसर वे जवाब दे जाते हैं। देख-सुनकर और अपने हिसाब से चुनकर बिठाते हैं सवारियाँ, यहाँ के ऑटोवाले। जबकि यह नियम के विरुद्ध है। इसीलिए लड़की ने जाना कहाँ पहले नहीं बताया होगा। बैठ गयी होगी तब कहा होगा। वह सुन नहीं सका। बस जाते देखा। दाहिनी ओर से वह कमसिन, ख़ूबसूरत मासूम चेहरा!

अभी जो दिखा था उस दृश्य के प्रकाश में देर तक वह घूमता रहा। भीतर वही आभा महसूस करता जो चिड़िया को अपनी आँखों से चुग्गा देते उस अन्धे के चेहरे पर थी। इस फक्कड़ आवारा, बंजारा भटकन के बीच भरी दोपहरी ने आगे एक ऐसे दृश्य तक पहुँचा दिया जिसे लेकर ख़ासी देर तक असमंजस में रहा कि कैमरे में भरे या नहीं। फलों और सब्ज़ियों के बाज़ार वाली उस पतली सड़क पर जो दोनों ओर से अतिक्रमित होकर गलीनुमा हो गयी थी एक दूसरे से फँसे हुए थे दो कुत्ते। या कहें श्वान-दम्पती अगर ऐसा कहना समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से सही या मुनासिब हो! दोनों चाहकर भी एक दूसरे की ओर नहीं देख पा रहे थे... पीछे की तरफ़ से ऐसे जुड़े थे। एक दिशा में एक साथ चलना तो ख़ैर दूभर था, पर मजबूरी थी। छूटना उतना ही मुश्किल! एक तो इससे यही ज़ाहिर हो रहा था कि अध:जुड़ाव कितना कष्टप्रद हो सकता है। जो करना था वो तो कर लिया। जो हो गया, सो हो गया। अब क्या हो! इधर-से-उधर उधर-से-इधर किंकर्तव्यविमूढ़ वे बरगला रहे थे। और हुलकारने वालों में वे भी शामिल थे जिनकी अपनी अन्दरूनी या सच्ची स्थिति उनसे कोई बहुत ज़्यादा अच्छी नहीं होगी! शरारत करने वालों ने मौक़ा देखकर दो मालायें भी डाल दी थीं उनके गले में। अब यह दृश्य काफ़ी हद तक प्रतीकात्मक हो गया था। और तात्पर्यों से अन्तगर्भित! उपहास से अधिक उपमान। फेरों के बाद के फेरे और शुरू-शुरू के लास-उल्लास के बाद खींच घसीटकर किसी तरह (कुछ इसी तरह... ?) ढोये जाते रिश्ते। जिनमें फाँस ऐसी कि सारी फजीहत मलामत के बाद भी खुलने का नाम ही न ले। हँसी-ठिठोली की बात छोड़ दें तो क्या कुछ ऐसे ही हालात नहीं बहुतेरे रिश्तों में? शायद अपने अधिक दूर भी न जाना पड़े उनकी पहचान करने के लिए! एक तो दिलरुबा आंटी का मामला ध्यान में आता है...। सोच-विचार कर लगा कि यह भी जीवन का एक विडम्बनापूर्ण सच है। और यही सोचकर आगे गले में ताज़ा फूलों की माला लटकाये और पीछे से फँसे जीवन की एक मर्मान्तक विडम्बना को इंगित करने वाले उपहास व कौतुक भरे इस दृश्य को भी अपने मोबाइल में दर्ज कर लेना ही उसने उचित समझा। ख़ासकर उन अनबोलतों के चेहरों की अभिव्यक्ति ऐसी थी जो देखकर ही समझी जा सकती थी! और वह चित्र किसी हद तक उसे अंकित कर सकता था...।

पैदल ख़ूब चल लिया था। अब समय था कि बस पकड़े और एक बड़ा चक्कर लगाये। कहीं लम्बी दूरी तक जाए। पूछ कर पता किया बस अड्डा पास ही था। वहीं से बस लेना मुनासिब रहेगा। भीड़ थोड़ी कम होगी। बैठने की जगह मिलेगी। सोचकर उस ओर मुड़ा। लेकिन रास्ते में एक जगह फिर ठिठक-सा गया। फास्ट फूड की दुकान के आगे एक लड़की की किसी लड़के से कुछ नोक-झोंक हो रही थी। लड़की की पीठ उसकी तरफ़ थी। कद-काठी से लगा फिर से कहीं वही तो नहीं थी? आज सुबह से बार-बार ऐसा ही लग रहा है तुझे तो! टोका उसने अपने आप को, लेकिन बालों और पहनावे ने यही चुगली की कि वह वही है। हालाँकि आवाज़ उसकी पहली बार सुन रहा था जो उतनी प्यारी नहीं थी। उसके प्यार के आसपास भी! पर ऐसा शायद इसलिए था कि अभी वह उत्तेजित थी। फिर सोचा उत्तेजित शायद उपयुक्त शब्द नहीं। उत्तेजना अगर प्यार की हो तब तो और प्यारा कर देगी स्वर को! क्रोधित या चिढ़ी हुई कहना ज़्यादा मुनासिब रहेगा। हो सकता है लड़की हो सही। जायज़ हो उसका ग़ुस्सा। कुछ ऐसी बात हुई होगी। पर अगला भी ग़लती अपनी मान नहीं रहा था। बात ख़त्म नहीं हो रही थी। शायद उसकी मदद या बीच-बचाव की ज़रूरत थी। मदद का दिन तो वैसे आज नहीं। दो दिन पहले था! याद आया। फिर भी आगे बढ़कर पूछ लिया। पूछने से पहले देखा उसे। हाँ। बिलकुल! वही थी! क्या मैं कुछ मदद कर सकता हूँ... ?

''क्यों?'' सिर से पाँव तक देखा एकबारगी लड़की ने। देखना सम्भवत: एक विनम्र शब्द था। एक चुभती क्रिया के लिये एक विनम्र संज्ञा!

''यह हमारे बीच का मामला है!'' सामने वाले ने भी कहा।

''ठीक है। अभी के लिये इतना ही। हम फिर किसी दिन बात करेंगे इस पर...।'' कहकर लड़की चुप हो गयी। कुछ देर रही यह चुप्पी। चुप वह काफ़ी हद तक उसी की तरह लगती थी! फिर से लगा। खिले हुए चेहरे पर दमकता मनभावन मौन! हटे नहीं। टूटे नहीं। उसने सोचा। और मानो तथास्तु में कोई अदृश्य वरदहस्त उठा। थोड़ी देर चुपचाप खड़े रहने के बाद वह चल दी वहाँ से। तब तक वह भी ठिठका रहा वहीं। थोड़ी दूर सही! चली तो सोचा वह भी चले। पर रोका अपने को। ऐसा करना सुरक्षित नहीं था। और समुचित भी। साथ-साथ नहीं चल सकते तो फिर पीछे-पीछे चलने का क्या फ़ायदा! हालाँकि कई बार प्यार निगहबानी के लिये ऐसा करता है! इसलिए कि फ़ायदा नुकसान अपना नहीं देखा करता! सोच के बीच वह निकल गयी। लेकिन ख़्यालों में कहीं रह गयी। बरबस उसे क्यों लगता है कि और पाँच साल पहले मिला होता पाँच साल पहले छूटा उसका प्यार कुछ ऐसा ही होता! देखने में! सुनकर तो ख़ैर ऐसा कुछ नहीं लगा। पर देखते ही नज़र उधर खिंचती चली जाती थी। यह भी अजब संयोग था कि आते-जाते सुबह से अब तक चार बार उससे सामना हो चुका था। अब अगली बार दिखी तो एक तस्वीर उतारकर रख लेगा उसकी भी! मुसकराकर उसने अपने आप से कहा। अगर सुयोग हुआ और पाँच चित्र पूरे नहीं हुए तब तक। यह क्या अपने आप में कुछ कम अनोखा कहा जाएगा कि एक प्यारा चेहरा, जो बरसों पहले के अपने पिछले प्यार की याद दिलाता हो... उसके पहले के रूप का आभास दिलाता हो... एक ऐसे दिन रह रहकर बार बार आपके आगे आये...! हँसकर जी ने एक और कौतूहल रखा। आगे पीछे बायें, दायें चार ओर से हुआ था अब तक सामना। आज अगर फिर सामने होगी तो कैसे? ऊपर या नीचे से... ? पहले मिले तब तो! यह भी तो हो सकता है कि बस इतना ही संयोग हो! चलते-फिरते यही चार साक्षात्कार!

चार दिशाओं से! कुछ कम नहीं आज के लिए! दिल की ठिठोली को वह समझ गया और शह न देकर उस शोख़ को टाला।

यही सब गुनते बस में बैठै-बैठे आँख झपक गयी। अच्छी लगी दिन की यह हल्की-सी नींद जिसने उसे जैसे नहला धोकर तरोताज़ा कर दिया किसी बच्चे-सा। और फिर जहाँ आँख खुली... न कुछ देखा न पूछा... उतर गया। सड़क यहाँ रेल पटरी के समानान्तर चल रही थी। दोनों के साथ-साथ चलता उस अगले दृश्य के इन्तज़ार में बढ़ता गया जो चलते-चलते ख़ुद आँखों को रोक लेगा और तस्वीर में उतारे बिना जिसे मन नहीं मानेगा!

पिछला दृश्य जितना असमंजस से भरा था यह अगला उतना ही मोहक। निर्विवाद और अनिंद्य! सड़क किनारे एक बड़ा सीमेंट पाइप का टुकड़ा पड़ा था। उसके भीतर एक स्त्री सोयी हुई थी। सीने खुले हुए थे उसके। और वहीं पास जागा हुआ बच्चा। नन्हा, भोला-भाला। उस खुले हृदय से लगा। उसे पीता, उससे खेलता, बल्कि आँखों का काजल और माथे की बिन्दी बता रही थी बच्चा नहीं वह बच्ची थी। पी लो, छककर पी लो! कहा उसके मन ने। यही तो उम्र थी उसकी पी लेने की। वरना फिर आगे दूध कहाँ था मिलने वाला। होने से भी लड़कियों को कहाँ मिलता! शायद पहली सन्तान थी वह बच्ची। चेहरे से माँ भी कमउम्र लड़की-सी लग रही थी। बच्ची और बच्ची! चित्र का शीर्षक भी अच्छा रहेगा! सोचा। नन्हीं बच्ची अभी एक सीने से लगी थी और दूसरी की नोक पर दूध की बूँद उभरी हुई थी। फुनगी पर टिकी ओस सी! इस दृश्य को पीछे छोड़कर कैसे आगे बढ़ सकता था! इसे तो साथ सँजोकर रखना ही था। मन में, आँखों में और आज के अभियान के अन्तर्गत मोबाइल के कैमरे में भी! खींचने से पहले, मगर एक बार इधर-उधर देख लिया। कहीं ऐसा न हो कोई आस पास देखने और देखकर आपत्ति करने वाला हो। पर साक्षी इस तस्वीर की सिर्फ़ वह नन्हीं बच्ची थी और उसे कोई आपत्ति नहीं थी...।

चार चित्र हो चुके थे। और दिन डूबने में अभी बहुत समय था। कम-से-कम दो सवा दो घंटा। इतने में पैदल चलता हुआ भी शाम तक घर पहुँच सकता था। और चलने को बिना कठिनाई अभी इतना चल सकता था। साधारण और मामूली लोगों को पैदल चलने में तकलीफ़ नहीं होती। बस आज शाम तक अपना काम पूरा कर डेरा पहुँच जाना चाहता था। रात को रास्ते पर न रहना पड़े। अपरिचय से अपने आप में कोई कठिनाई नहीं थी पर शहर की रात कुछ ऐसी अपरिचित लगती कि अन्देशा होता। घर वह भले न हो, मगर चाहता था भरसक रात अपने बसेरे से दूर न रहे। यादों के साथ रहने में तकलीफ़ नहीं थी। वहाँ किसी याद के संग रहा जा सकता था। लेकिन इसके लिये दिन में थकना ज़रूरी था। एक कमरा... चार दीवारें... और नींद तक कोई याद...! इत्मीनान से सोचता चला जा रहा था वह और देखता हुआ भी। अपने आस-पास। किसी तरह का बोझ नहीं था। न कोई उतावली। कुछ नहीं होगा तो सूरज डूबने से पहले की उसकी पृष्ठभूमि में अपनी तरह ठिकाने की ओर लौटते हुए किसी को कैमरे में उतार लेगा पाँचवे चित्र की तरह!

उसी तरह चलता चला जाता पर शाम के कोई पौने पाँच बजे एक ऊबड़-खाबड़ जगह पाँव तर-बीच पड़ गया और बुरी तरह मुड़ गया। सीधा कर पैर को झाड़ा... एड़ी और सुपली को घड़ी के साथ और विपरीत गोल-गोल घुमाया। दर्द कुछ कम तो हुआ लेकिन उस पाँव को रोपना दुष्कर हो रहा था। लिहाज़ा लाचारी में यही फ़ैसला करना पड़ा कि सबसे पास के पड़ाव जाए और जो बस अपनी तरफ़ जा रही हो... क़रीब भी उसके... उस पर सवार हो जाए।

सामने सिग्नल के पास एक बस रुकी थी। अनुमान था कि यह उसे अपनी मंज़िल की ओर ले जाएगी। फिर भी एक बार पूछ कर तसल्ली की। एकदम वहाँ तक तो नहीं मगर उसके पास तक ले जाने वाली थी। चले इसी से। आख़िरी तस्वीर आज की उधर ही ले लेगा कहीं। एक तस्वीर तो होनी चाहिए अपनी तरफ़ से भी!

पिछले दरवाज़े की तरफ़ बहुत भीड़ थी। सिग्नल खुल रहा था। वह आगे के द्वार से ही सवार हो गया।

''तुम ज़्या... विकलांग हो, बूढ़े या कि महिला जो इधर से चढ़ गये!'' ड्राइवर ने ऐतराज़ करते कहा। सिग्नल हो गया था और गाड़ी खोल दी थी उसने नहीं तो शायद उतरने को भी कहता।

''मैं तो बाबा... समझो एक बच्चा! थोड़ी परेशानी में था इसलिए इधर से आया। नहीं तो नियम जानता और मानता हूँ...!''

''चल टिकट निकाल! बातें मत बना। नहीं तो पता चला इधर से चढ़ा और आगे चुपके से उतर गया इधर से!''

''उसके लिये घबराओ नहीं बाबा! डेली पास लेकर रख लिया है...!''

सँभालकर निकाला और निकालकर लहराया। एक निगाह डाल चालक फिर भुनभुनाकर चुप हो गया। इनकी भी ग़लती नहीं। काम ही ऐसा। एक जगह बैठे-बैठे हैंडल थामे रहो। कंडक्टर तो फिर भी कुछ चल फिर लेता है।

बैठने की जगह नहीं थी। किसी तरह खड़ा ही रहा। हालाँकि खड़े रहने में तकलीफ़ हो रही थी। पर उस दर्द को कम करने का फ़िलहाल नहीं था कोई ज़रिया। कोई आधे घंटे बाद जब लोग कुछ उतरे... भीड़ थोड़ी छँटी या धुंध निगाहों की तो वह चुम्बकीय दृश्य दिखा। पीछे की तरफ़ सीट पर वह बैठी थी! चुपचाप हाथ में कोई किताब लेकर पढ़ती। ऐसे बिलकुल 'उसी' का चेहरा झाँकता था। थोड़ा और कमसिन उससे! मन का कहना था ऐसी ही रही होगी मुहब्बत उसकी अपने इन दिनों में। बचपन से निकलती शुरू के यौवन के दिनों में! उससे मिलने के कुछ साल पहले। उसके देखने तक तो पूरा खिल चुका था रूप उसका। पर यह शुरूआती कशिश अनदेखी रही थी। उसका बस कुछ अनुमान कर सकता था। बहुत कुछ! अब आज उसे देखकर!

चुपचाप थी तो चेहरा बोल रहा था पूरा। मौन की दिव्य भाषा! हो भले नहीं... सोलह-सत्रह से ज़्यादा की लगती नहीं थी, लड़की। यानी लगभग आधी उससे। वैसे हो सकता है, हो चाहे जितना भी, देखने में ख़ुद वह तिहरा भी लग रहा हो अभी उससे। बहुत दिनों से ठीक से देखा नहीं था अपने आप को। और इतना ठीक से तो शायद किसी को नहीं जिस तरह देख रहा था अभी उसे। देखने की सहूलियत भी थी। बहुत पास नहीं था उससे। बहुत पास से भी देखने में मुश्किल होती है। देखते जैसे आँच लगती है आँखों को! एक और सुविधा थी कि अभी किताब पढ़ रही थी वह।

यह पाँचवी 'भेंट' थी आज की। उसे अपने मन की बात याद आयी जो चौथी बार मिलने के बाद उसने चुपके से कही थी। फिर मिली तो क़ैद कर लेगा उसे! तस्वीर में। भर लेगा। सँजो लेगा कैमरे में। आज के अन्तिम

यादगार चित्र की तरह! ख़याल से धड़कता दिल एक बार ज़ोर से धड़का। हाथ रखकर उसे दबाया। ऐसे धड़के तो सुने जाने का अन्देशा था! जेब में मोबाइल को टटोला। लिया भी हाथ में। पर फिर सोचकर रह गया। इस दूरी, इस अन्तराल से और इस भीड़ और हल्की रोशनी में एक अच्छी तस्वीर उतार पाना मुश्किल था। वह भी अपने मामूली कैमरे से। चले...बस उसे देखता चले। जाए वह जहाँ तक जाए। पर जल्दी ही किताब उसने समेट कर थैले में रख ली और अपनी जगह से उठने की तैयारी करने लगी।

अगर तस्वीर लेनी थी तो यह अन्तिम अवसर था। उतरकर फिर इस दुखते पाँव से कहाँ जाएगा धुँधलाती रोशनी में आज की आख़िर तस्वीर के लिए! शायद यह प्रारब्ध था। दिन में पाँचवीं बार मिली थी वह। बढ़कर अब आगे उसकी ओर आ रही थी और आकर वहीं पास खड़ी हो गयी। शायद अगले पड़ाव पर उसे उतरना था। चित्र उतारना था तो उसके लिये यही मौक़ा था!

अपनी हिचक-झिझक पर क़ाबू पाकर उसने धीरे से मोबाइल निकाला। जेब के अन्दर ही उँगली से बटन दबा कैमरा चालू कर उसका। निकालते ही मोबाइल झट बायें कान से सटा लिया। जैसे फोन लगा रहा हो किसी को! अब उसकी गर्म होती बायीं कनपटी थी...लड़की का चेहरा... और बीच में नन्हा-सा मोबाइल। एक सीध में। जैसे... जैसे ग्रहण के समय धरती, चाँद और सूरज होते हैं! उपमा वही ज़हन में आयी इस समय। और देर न करते उँगली ने एक हल्के कज़्पन के साथ बीच का बटन दबा दिया। तस्वीर आ गयी होगी। रह गयी होगी हमेशा के लिये उस नन्ही जादू की डिज़्बी में! थाहकर उसे बन्द करने के लिये बटन दबाया। पर हुआ नहीं। कान से मोबाइल हटाकर देखा तो तस्वीर अब भी दृश्य पटल पर साक्षात सजीव उपस्थित थी। बिलकुल वैसी ही, जैसी प्यार भरी वह सूरत बसी थी उसकी आँखों में। कोई आँखों में झाँक लेता अभी तब भी वह पकड़ा जाता! सोचकर सारा शरीर सिहर उठा। असल में जो थोड़ा बहुत अन्तर था चित्र में वह भी नहीं! एक झलक में तो ऐसा ही लगा। जैसे भीड़ के बीच कोई बेशक़ीमती हीरा, पन्ना, मूँगा हो हाथ में बस उतनी ही झलक देख जल्दी से समेटा। यह मनाते कि देखा न हो और किसी ने।

''कैन आय हैव योर मोबाइल... फॉर वन सेक...!''

पंचमी... नहीं... उस लड़की की आवाज़ थी। जी उसका धज़्क से बैठ गया। कैमरे में ज़्लैश तो नहीं था बस आँख जितनी रोशनी थी जो कोई चित्र उतारने के बाद हल्की-सी कौंधती। और शायद किसी अच्छे चित्र के बाद यह चमक थोड़ी और बढ़ जाती हो! एक बहुत हलकी-सी आवाज़ भी होती थी जो अपने कान तक भी बमुश्किल पहुँचती। लेकिन अगर कोई बारीक़ी से ग़ौर करे तो देख और सुन तो सकता था! मोबाइल माँग रही है वह। लड़की ने ज़रूर भाँप लिया होगा। लख ली होगी चोरी उसकी! यह जानते कि वह जान गयी है, उसकी तो जैसे जान ही हलक को आ गयी!

''माफ़ कीजिएगा! आप एक स्मृति उत्सव की अन्तिम कड़ी हैं...! बस... इसी ख़ातिर...! कंठ से अस्फुट सा ऐसा कुछ फूटा।''

''सॉरी! आय डिडंट गेट यू! आय जस्ट रिज़्वेस्टेड फॉर योर मोबाइल...!''

''श्योर... ऑफ कोर्स! व्हाई नॉट...। यह लीजिये! आपकी शज़्ल किसी से बहुत मिलती जुलती है...। कोई ऐसा जो दिल के बहुत क़रीब है...। इसीलिए...!'' मोबाइल लड़की की ओर बढ़ाते उसने किसी तरह कहा। पता नहीं ज़्या और कैसा! उस समय जो ज़हन में आया। या कहें कि ज़ुबान पर। सोच-समझ तो काम करने से इनकार कर रही थी।

''व्हाट आर यू अप टू! आर यू वांटिंग टू ज़्लर्ट विथ मी... ?'' लड़की के माथे पर बल पड़ गये। उसके तेवर देख वह घबरा गया। हड़बड़ाकर किसी तरह कहा ''नहीं जी नहीं। मेरा यह मतलब नहीं। ऐसा-वैसा कोई इरादा नहीं मेरा। मैं बस यह बताना चाह रहा था कि तस्वीर आपकी इसीलिए खींची...!''

''हाऊ डेयर यू! तुमने मेरी पिज़्चर ली!'' लड़की ने मोबाइल उसके हाथ से झटक लिया। चट-चट उँगलियों के रँगे नाख़ून चलाकर चित्र वीथी खोली। सचमुच उसमें उसकी तस्वीर थी। ''... यूऽ...! मैं अभी मॉडलिंग कॉन्ट्रैज़्ट साइन कर के आ रही हूँ। मेरी हर तस्वीर के मुझे पैसे मिलेंगे। और तुमने ऐसे ही तस्वीर उतार ली मेरी? बिना मुझसे पूछे? वह भी ऐसी ! इमेज ख़राब करना चाह रहे हो मेरी...! ग़ुस्से से लपलपाती वह काँप रही थी। और हाथ में मोबाइल उसका।

''नहीं, नहीं ऐसा कोई इरादा नहीं था मेरा...। और किसी ग़लत नीयत से कोई ग़लत काम नहीं किया मैंने। कुछ बिगाड़ा या ख़राब भी नहीं किया। बल्कि एक सौभाग्य होता है प्यार की यादगार का हिस्सा होना...।''

अब उसे ख़ुद पता नहीं चल रहा था कि वह ज़्या कह रहा या कह पा रहा! किसी सीधे, सही, भले के लिये कितना मुश्किल है अपने को वैसा साबित कर पाना! अपना बचाव खड़ा करना। डूबते आदमी की तरह उबरने के लिये जैसे-तैसे हाथ पैर मार रहा था वह।

''ज़्यों ज़्या हुआ मैडम!'' बतकही सुन एक शोहदा समर्थन में आगे आया।

''जस्ट सी! ...मैं इतने भले मन से एक कॉल करने के लिये माँग रही थी मोबाइल इस आदमी से और मुझे मालूम ही नहीं था कि यह शातिरदिमाग़ चोरी-चोरी चुपके-चुपके मेरी तस्वीर उतार रहा है!'' लड़की ने अब भीड़ को भी अपने साथ शरीक करते कहा।

''ओ! तो मजनू बनने चला है। छेड़खानी कर रहा है!'' शोहदे ने मोबाइल अपने हाथ में लेते कहा। ...तोड़ देते हैं इसे! तस्वीर भी अपने आप चली जाएगी।

''ख़ाली मोबाइल तोड़ने से ज़्या होगा! आदत इसकी कैसे जाएगी!'' समर्थन में आगे आते कहा दूसरे ने।

''देखो-देखो और कैसी तस्वीरें ली हैं! यह यही काम करता है, लगता है। मैडम यह तस्वीर तो नहीं आपकी... ?'' पहले शोहदे ने उससे पहले की तस्वीर दिखाते हुए कहा।

''ओ गॉड! नहीं नहीं। यह तो नंगी है! यह तस्वीर नहीं मेरी! मैंने अभी तक ऐसा कोई शूट नहीं किया है! पर इस आदमी की नीयत का इससे पता चलता है। दिमाग़ में कैसी गन्दगी है...!''

''जी...क्षमा करिएगा! नंगी तस्वीर नहीं है यह। एक माँ अपनी बच्ची को दूध पिला रही है। छाती की नोक पर दूध की उभरी बूँद भी आपको दिखाई देगी... अगर ग़ौर करेंगे... या तस्वीर को बड़ा करेंगे!''

''अच्छा! तो पेशेवर फोटोग्राफर हैं ये! तस्वीर के बारे में लेज़्चर भी दे रहे हैं!'' किसी तीसरे ने व्यंग्य से कहा।

''फिर यह ज़्या है? इसके बारे में भी कुछ कहने को कहिये इनसे!'' पहले ने उससे पहली वाली तस्वीर सबके सामने करते कहा।

''ये... एक प्राकृतिक और नैसर्गिक दृश्य है। और प्रतीकात्मक भी। ज़्या प्यार और उल्लास के सपनों और वादों के साथ शुरू हुए आज के अधिकतर हमारे रिश्ते सच में ऐसे ही नहीं हो जाते! उनका हश्र उनकी विडज़्बना कुछ ऐसी ही नहीं ? जुड़े तो हैं कहीं पर मुड़े अलग-अलग दिशाओं में। और जोड़ वह बन्धन या फाँस की तरह घसीट रहा! क्षण दो क्षण का आनन्द और उसकी ऐसी परिणति। ऐसे ही ढोना, खींचना उस सज़्बन्ध को! ज़्या इससे राहत, इससे मुज़्ति वे नहीं महसूस करेंगे अलग होकर छूटकर.. ?'' स्थिति और उसके निहितार्थ स्पष्ट करने के लिये यह व्याज़्या उसने रखनी चाही पर नहीं पता कह सका कितना।

''ओ शिट! लड़की ने चेहरा बनाया। हाउ डिसगस्टिंग! सच हूलीगंस आर अ डिसग्रेस टू द सोसायटी। ऐंड क्रियेट ऑल सॉर्ट ऑफ मैलेडीज़! दे सिंपली डोंट डिज़र्व टू बी ... !'' लड़की ने फतवा दे दिया। इस समय कहीं से उसका चेहरा उस तस्वीर से नहीं मिल रहा था जो बरसों से दिल में तह था और निगाहों में छुपा। अब समाज में स्त्रियों का आदर करने वाले सब उसके फ़रमान को अमल में लाने और उसके जैसे ओछे इनसान को सबक सिखाने को तैयार थे।

''चलो बस रोको! उतारो इसे! ऐसों को पाठ पढ़ाना ज़रूरी है... !'' किसी ने आवाज़ उठायी। पहले दूसरे के साथ अब तीसरे चौथे, पाँचवे भी जुड़ गये थे।

बस अपने आप रुक गयी। लगभग रोज़ वह रुक जाती थी इस ऊँचाई पर आकर। ख़ासकर सी.एन.जी लगने के बाद एक गेट वाली छोटे आकार की ऐसी बसें। नाम सबसे बढ़िया पर काम ऐसा घटिया.. ! कोफ़्त में कहते सवार। हारकर, मन मारकर सबको उतरना पड़ता और बस को ख़ाली करना। उसके बाद कुछ पीछे जाकर बार-बार घुड़ घुड़ाकर आख़िर बस चालू होती और ख़ाली ख़ाली ऊँचाई के ऊपर तक जाती। पीछे-पीछे उतारे गये मुसाफ़िर चलते पैदल। कोई सौ क़दम बाद रास्ता थोड़ा सम होता था। वहाँ सब दुबारा बस में सवार होते और प्रशासन परिवहन पर भन्नाते, भुनभुनाते आगे जाते। यही लगभग हर रोज़ की दिनचर्या थी। पर आज थोड़ी भिन्नता थी। बस का रुकना तो वैसे ही हुआ पर अभी उनके उतरने में उत्साह था। पहले वे शोहदे उतरे कॉलर पकड़े उसका। फिर एक पर एक और सब।

''मजनू वाला जैकेट डाला है! जाने किसका मारा है। ख़ुद तो क़ाबिल लगता नहीं किसी सूरत में... !'' कहकर किसी ने जैकेट उतारकर फेंक दिया!

''ऐसा भरपूर लगाना कि दुबारा हिज़्मत न करे! वो ख़ुराक कि फिर पानी भी न माँगे।'' किसी और ने पीछे से आकर शंखनाद किया। पुण्य की बहती गंगा में सब हाथ धो लेना चाहते थे। सब अपनी जंग छुड़ा लेने को आमादा थे।

''येस! टीच हिम द लेसन!'' लड़की ने भी ललकारा। या लड़कों को लगा कि उसने ऐसा कहा। कोई ऐसी तरंग उनके कानों तक पहुँची।

एकदम! ज़रूरी है! कि आगे ऐसा न कर पाये!! यह भीड़ की सहमति थी।

पहला थप्पड़ कनपटी पर पड़ा। नहीं... ! कहीं दूर से बिट्टो आती दिखाई दी। अरे रोको! दूसरे हाथ के बाद श्यामला की पुकार कानों में गूँजी। तीसरे वार के बाद दूर खिड़की की सलाखों के पीछे मुँह पर हाथ रख रोती किरण दिखाई दी। चौथा जोशीला आगे बढ़ रहा था तो महसूस हुआ रास्ता रोकने खाना पकाना छोड़ आटे सने हाथ लिये कलपती नन्दा दौड़ी चली आ रही पाँव झटकते। और इतनी दूर से इस हालत में भी झलकी... उसके होठों के ऊपर रोयों की गहरी रेख... जिन्हें 'हल्की मूँछें' कहकर खिझाता था उसे। बस भी करो... छोड़ो! ज़्या जान ही ले कर रहोगे इसकी!। पंचमी चिल्ला रही थी जब पाँचवे ने प्रहार किया। जहाँ भी होगी वह ख़ुशहाल होगी। बाक़ी भी। सोचकर सब सह लिया था उसने। ये चोटें भी बरदाश्त कर लीं जैसे-तैसे दिल की उस लगी की तरह।

हालाँकि यह 'नयी पंचमी' तो कुछ और कह रही थी... चेहरा जिसका पंचमी के पाँच साल पहले के अनदेखे चेहरे की झलक-सा लगा था। ...मारो! और!! अच्छी तरह सबक सिखा दो!!!

''बस करो! पाँच बार हो गया। बहुत हुआ!'' उसने कहा।

''अच्छा! बस करवाता है तू हमें! इसमें भी तेरी ही चलेगी ?''

छठी का दूध याद दिला दो स्साले को! पीछे से जनता की उन्माद-भरी पुकार उठी। और आगे बढ़कर किसी ने एक भरपूर लात जड़ दी उसके पेट पर। वह दोहरा हो गया। आँखों के आगे अँधेरा छाने लगा। अब कोई आता दिखाई नहीं दे रहा था बचाने के लिए। माईऽ... ! उसके भरे कंठ से फूटा। ख़ून का उबाल किसी तरह अन्दर ठेलते मुँदती आँखों को भरसक खोल उसने कहा।

चलो बस चालू हो गयी! किसी ने सूचना दी और सब यह जंजाल छोड़ फ़ौरन घुड़घुड़ाती ऊपर जाती बस के लिए पलटे। उसने भी चाहा उठना पर उठ न सका। ज़मीन पर घिसटकर बढ़ते हुए अन्दाज़ा लगाया यहाँ से ठिकाना उसका पैदल कोई घंटे-डेढ़ घंटे दूर होगा। कुछ हो भी तो अपनी गली तक जाकर... ! सोचा। पैदल लेकिन अभी चल नहीं सकता था। देह कोई कन्धा ढूँढ़ रही था। फिर भी ख़ुद से जूझते हाथों से मिट्टी को मुट्ठी में भरते आगे सरकने की भरसक कोशिश की। धूल में पड़े हुए एक बार सिर उठाकर धुँधलायी आँखों से देखा जाती बस को। बस के दरवाज़े के पास खड़ी हिकारत भरी नज़र फेंकती वह गुज़र रही थी। जैसे उसके ऊपर से... !

अगले दिन स्थानीय सान्ध्यकालीन अख़बार के छठे पन्ने के छठे कॉलम में प्रियंका कॉलोनी के फुटपाथ पर एक अनजान नौजवान की लाश के पाये जाने की छह लाइन की छोटी-सी ख़बर थी जिसे इस मौसम में शहर में बढ़ती सरदी का छठा शिकार बताया गया था।

(नि सं) प्रियंका कॉलोनी के फुटपाथ पर आज सवेरे एक अनजान नौजवान की लाश पड़ी हुई पायी गयी। वह ग़रीब फटेहाल था और उसके पास कोई गर्म कपड़ा नहीं था। उसका सारा शरीर स्याह पड़ गया था और मरने से पहले भूख, विषाज़्त भोजन या किसी बीमारी की वजह से हुई ख़ून की उल्टियों के भी निशान मिले हैं। ऐसा अनुमान है कि वह शहर में बढ़ती सरदी का शिकार हुआ है। इसी के साथ ग़रीबों पर मौसम के कहर का सिलसिला शुरू हो गया है जिससे अब तक छह जानें इस महीने जा चुकी हैं। प्रशासन का कहना है कि अभी शीत की शुरुआत ही है और जगह-जगह अलावों और रैनबसेरों का बन्दोबस्त किया जा रहा है...।

एस-3/226, रिजर्व बैंक अधिकारी आवास
गोरेगाँव, गोकुलधाम, मुज़्बई-400063
मो.: 09930453711

कविता

उमा शंकर चौधरी
इरोम वहीं बैठी है

आप इसे सच मानें या न मानें
लेकिन अभी कुछ दिनों पहले ही मैं
उस आन्दोलन का हिस्सा था जिसकी ख़बरें आपने
यहाँ-वहाँ हर ख़बरिया चैनल पर देखी होंगी
अख़बारों में पढ़ा होगा और आपने अपनी रग़ों में
क्रान्ति महसूस की होगी
उन सैकड़ों कैमरों के सामने बँधी मुट्ठियों की तस्वीरें
आपके टीवी स्क्रीन पर कुछ इस तरह दिखती रही होंगी कि
आपकी भी नसें तड़क गयी होंगी

आप सच मानिये मैंने भी उस आन्दोलन में
ज़ोर-ज़ोर से नारे लगाये थे
हुँकारें भरे थे, झंडे लहराये थे
और यहाँ तक कि मैं भी उनमें से एक था जिसने
वहाँ सुरक्षा कवच बनकर कई कई रातों तक
उन आवाज़ों की सुरक्षा की थी

आपको सच यह भी मानना होगा कि मैं भी
उन करोड़ों लोगों के साथ हूँ जो
यहाँ-वहाँ हर जगह चाहते हैं कि फिज़ाएँ
थोड़ी कम ज़हरीली हो जाएँ
मेरी भी छोटी-सी एक आवाज़ उनके साथ हैं
जिन्होंने चिड़ियों का पिंजड़ा खोल दिया है
जिन्होंने चींटियों की धारी को आगे बढ़ने का हौसला दिया है

मैं उस आन्दोलन में था
और वह हुजूम मुझे सुकून देता था
वह आन्दोलन, वह क्रान्ति, वह आवाज़
वे ढेर सारी बन्द मुट्ठियाँ
लोगों को तपती धूप में पानी पिलाते कई लोग
खाना देते वे हाथ

अपने बच्चों को अपने कन्धे पर बैठाये
पाँच कोस से पैदल चलकर आयी वह भीड़
मुझे सचमुच सुकून देती थी
मेरा मन अपनी बाँहों को फैलाकर उस भीड़ को
अपने गले लगाने का करता था उसे चूम लेने का करता था

मैं बग़ैर पूरी नींद लिये रोज़
यहाँ वहाँ दौड़ता था कि कहीं कुछ भी गड़बड़ी न रह जाये
कि कहीं किसी की आवाज़ दबी न रह जाए
मैं रोज पसीने में तर-ब-तर होता था
लेकिन अन्दर से मैं इस आन्दोलन को लेकर
इतना उद्वेलित था कि मेरे चेहरे पर
थकान की कोई शिक़न तक नहीं दिखती थी

लेकिन सचमुच
आन्दोलन के उसी रेलमपेल वाली भीड़ में एक दिन
मुझे वह एक लड़की मिली थी
उसने अपने तन पर एक चादर लपेट रखी थी
उसके बाल धुँधराले थे
और उसकी नाक में एक नली ठुँसी हुई थी
वह बहुत दुखी थी
उसके मुँह से आवाज़ नहीं निकल रही थी
उसके भीतर इतनी ताक़त नहीं लग रही थी कि वह
उस भीड़ में खड़ी रख सके अपने आप को

उस भीड़ में उसे कोई जानता नहीं था
कोई पहचानता नहीं था लेकिन
अपनी नाक में ठुँसी उस नली के कारण वह थोड़ी अलग थी
लेकिन उसके चेहरे पर उसका दुख सबसे अलग था
वह मेरे पास आयी थी और मैं उसकी साँसों की
टूटती तार को पकड़ने की कोशिश करने लगा था
उसने बहुत कष्ट से लेकिन इतना कहा कि
मैं भी एक अनशन कर रही हूँ



कई वर्षों से मेरी भी कुछ माँगें हैं
मैं बहुत बीमार हूँ।

अनशन के नाम पर उसका नाम पूछना लाजमी था
उसने कहा इरोम शर्मीला

इरोम शर्मीला!

इराम शर्मीला को मैं नहीं जानता
ज़्या पता आप भी नहीं जानते होंगे
लेकिन उसने आदमी को चूहों की तरह
मार डालने के विरोध में खाना छोड़ दिया है।

उसने कहा
उसकी माँगें बहुत अजीब नहीं हैं
उसने कहा
बस हम अपने सपनों को आज़ाद करना चाहते हैं
उन बूटों और बन्दूकों की उन आवाज़ों से अपने का मुज़्त करना चाहते हैं
जिनकी गूँज से सोने से परहेज करते हैं हमारे बच्चे

मुझसे जगी उसकी कुछ उज़्मीदें उस समय
मुझे सुकून दे रही थीं
उसने मुझसे कहा कि
बस तुम मेरा इतना काम कर दो कि
इन सैकड़ों कैमरों में से एक कैमरा का मुँह
घुमा दो इधर ताकि मेरी भी आवाज़ पहुँच सके दूर तक
मेरी भी आवाज़ तज़्दील हो सके एक गूँज में
और उस धुर पहाड़ पर अपने घरों में अपनी जान के डर से
घर में दुबके लोग खुली हवा में ले सकें दो-चार साँसें।
वहाँ की औरतें अपनी देह से हो सकें मुज़्त

हम भी इसी धरती का एक हिस्सा हैं
जहाँ तुम खड़े हो, यह मैदान है, ये कैमरे हैं
और हवा को स्वच्छ करने की एक कोशिश है

मेरे कन्धे का सहारा लेकर इरोम बैठी वहीं ज़मीन पर
और मैं भाग गया
इस आश्वासन के साथ कि ज़रूर होगी कैमरे के ज़ूम में
उसकी नाक में ठुँसी यह नली
कि ज़रूर धीमी निकलने वाली उसकी आवाज़ बचा पायेगी
अपनी आत्मा को
ज़रूर बचेगा उस धीमी आवाज़ का शोर
लेकिन बचा पाया मैं कुछ भी नहीं
मैं भाग गया वहाँ से, वहाँ की फ़िज़ाओं से
लेकिन मैं भागा उस मैदान के भीतर नहीं
बल्कि भाग गया उस मैदान से
उन आवाज़ों से बाहर
मैं जानता हूँ उस मैदान में चलने वाला आन्दोलन
ख़त्म हो गया है
परन्तु मैं जानता हूँ इरोम वहीं बैठी है
पंडाल हट गये हैं, कनात हट गये हैं,
कैमरे हट गये हैं, भोजन-पानी सब हट गये हैं
लेकिन इरोम वहीं बैठी है
इरोम अपनी चादर में सिमटी
अपने घुँघराते बालों के साथ
अपनी नाक में ठुँसी उस नली के साथ
इरोम वहीं बैठी है
इरोम वहीं बैठी है
वहीं।

द्वारा ज्योति चावला
अनुवाद अध्ययन एवं प्रशिक्षण विद्यापीठ,
जी ज़्लॉक, अकादेमिक कॉप्लेज़्स, इग्नू,
मैदानगढ़ी, नयी दिल्ली- 110 068
मो.: 09810229111

देशकाल



बड़ी किताबों पर बड़ी फ़िल्में

'द ब्लू एंजेल'

विश्वास पाटील

'द ब्लू एंजेल' की कथा हमको बोलती फ़िल्मों के आरम्भिक काल में ले जाती है। हॉलीवुड के चित्रजगत में अभी-अभी फ़िल्में अपना मौन छोड़कर बोलने लगी थीं। हॉलीवुड के प्रसिद्ध निर्देशक जॉसेफ वॉन स्टर्नबर्ग के 1827 में 'लास्ट कमांड' नामक बोलती फ़िल्म बनायी थी। उसमें जर्मनी के गुणी अभिनेता जानिंग्स को जोसफ ने मौक़ा दिया था। जानिंग्स को इस भूमिका के लिए, उत्कृष्ट अभिनय के लिए ऑस्कर पुरस्कार भी मिला था। अज़ी भी बोलती फ़िल्में जर्मनी जैसे राष्ट्र में भी नहीं पहुँची थीं। सन् 1928 में जोसेफ स्टर्नबर्ग जर्मनी देखने निकला था, तभी उसे एमिल जानिंग्स का तार मिला, ''हम यहाँ बोलती फ़िल्म बनाने का प्रयत्न कर रहे हैं। आपके मार्गदर्शन की हमें बहुत आवश्यकता है।'' एमिल जानिंग्स एक जबरदस्त जर्मन अभिनेता था और व्यवहारिक दृष्टि से भी चतुर था। अच्छे लेखक और उज़्म निर्देशकों को नज़दीक लाता। उनकी प्रतिभा का फ़ायदा उठाकर उज़्म भूमिका ख़ुद लेने की ओर जानिंग्ज का ध्यान रहता था, इसलिए जोसेफ स्टर्नबर्ग बर्लिन में झू स्टेशन पर उतर पड़ा, तब जानिंग्स अपने मित्र के साथ उसके स्वागत के लिए उपस्थित था।

होटल में किस नये विषय पर फ़िल्म बनायी जाए, इस बात की चर्चा शुरू हुई। तब अपनी भूमिका को फबने वाली 'रासपुतीन' विषय पर फ़िल्म बनायी जाए, यह विचार जानिंग्ज ने रखा। एशिया का कुज़्यात क्रूरकर्मा रासपुतीन-ऐतिहासिक विषय जोसफ को इतना नहीं पसन्द आया। फिर उसने अनेक कथाओं, उपन्यासों और पांडुलिपियों को खोजना शुरू किया। जोसफ का ध्यान हेन्रिच मान नामक लेखक द्वारा 1805 में लिखे हुए उपन्यास 'प्रोफेसर उनरथ' ने खींचा। प्रोफेसर साहब रोजा नामक कॅबरे नर्तकी के प्रेम में फँस जाते हैं। उसके साथ विवाह करते हैं। उसके बाद उसकी सहायता से जुए की दुकान खोलकर समाज से एक तरह का बदला लेते हैं। इस प्रकार उस उपन्यास का विषय था। प्रोफेसर उनरथ की मुज़्य भूमिका के बारे में सुनकर जानिंग्ज की आँखें आनन्द से चमकने लगीं।

निर्देशक स्टर्नबर्ग ने कथा के विषय में अनेक परिवर्तन किए। रोजा का नाम लोला हो गया। मूल कॅबरे नर्तकी बच्चे वाली थी, परन्तु निर्देशक ने उसकी गोद के बच्चे को बड़ी क्रूरता से एक तरफ़ रख दिया। फ़िल्म की नायिक (कहानी की भी) नवयौवना होनी चाहिए, यह चलन शायद उसी समय से चलने लगा होगा। स्टर्नबर्ग ने मूल उपन्यासकार हेन्रिच मान को भी सजग किया। उसके साथ विस्तृत चर्चाएँ हुईं।

परन्तु अनेक विद्वान संशोधकों के मतानुसार मूल जर्मन उपन्यास तत्कालीन समाज-व्यवस्था की उज़म समीक्षा थी। उपन्यास का सार रूपहले पर्दे पर सही ढंग से नहीं आ पाया। मतलब यही कि उपन्यास का विस्तृत रूप केवल तीन घंटों की मर्यादा में बाँधना, निर्देशक के लिए बहुत कठिन बात होती है। इसके अलावा पटकथा का प्रवास, उपन्यास के राजमार्ग से भिन्न होता है। होना ही चाहिए। स्टाईनब्रेक के 'ईस्ट ऑफ ईडन' का निश्चित भाग ही पटकथा के लिए लेकर एलिया कजान ने उज़म चित्रपट कथा बनाई थी। सज़्पूर्ण उपन्यास के विस्तृत भाग को समेटने की धुन में, उपन्यास पर भी अन्याय होता है और फ़िल्म को भी न्याय नहीं मिलता। हिन्दी विश्व साहित्य के 'मैला आँचल' और 'गोदान' इन उपन्यासों की आत्मा इन्हीं कारणों से, अनेक लोगों को रजतपट पर, उतार पाना असज़्ज़व हो गया।

इस फ़िल्म से पहले जानिंग्ज प्रसिद्धि के शिखर पर पहुँच चुका था। थिएटर में एक नृत्य के समय जोसफ स्टर्नबर्ग की आँखों ने मार्लिन को देखा। कैबरा डांसर लोला ने लोला की भूमिका सादर की। अपने पहले पदार्पण में ही उसने इतना प्रचंड यश कमाया कि वह एक जागतिक स्तर की उज़म अभिनेत्री बन गयी। उसने अभिनय वीर जानिंग्ज को सचमुच एक कोने में ढकेल दिया। जब-जब 'द ज़्लू एंजेल' के बारे में चर्चा होती है, तब आँखों के सामने, बीअर के लकड़ी के बने बॅरेल पर, अपनी बाँयी जाँघ उठाकर, अजीब अदा से बैठी हुई, जादू भरी आँखों वाली मार्लिन डीट्री ईच की प्रसिद्ध छवि सामने खड़ी रहती है।

बर्लिन में मध्यमवर्गीय परिवार में जन्मी मर्लिन की उज़म बायोलिन वादक बनने की महज़्वाकांक्षा थी, परन्तु गर्दन में दर्द होने के कारण वह नाटकों में छोटी-मोटी भूमिका करने लगी। निर्देशक जोसेफ स्टर्नबर्ग ने उसके जीवन को स्वर्णिम बना दिया। उसकी बढ़ती हुई प्रसिद्धि ही उसे अमेरिका ले गयी। 'मोरोज़्को', 'शांधाय एज़्सप्रेस' जैसी यह फ़िल्में एक के बाद जोसेफ स्टर्नबर्ग के साथ, पर्दे पर आयीं। शुरू की फ़िल्में प्रसिद्ध हुईं, बाद की नहीं चलीं। कैबरे नर्तकी के मोहपाश में पागल हो चुके, मास्टर के समान ही, निर्देशक जोसेफ स्टर्नबर्ग



भी उसकी ओर आकर्षित हुआ। फिर मार्लिन को ज़्यादा से ज़्यादा कैसे आकर्षक दिखाया जाए, वह बर्फ़ में कैसी दिखेगी, सुनहरी धूप में या धुएँ में कितनी सुन्दर लगेगी— उसके आसपास ही कैमरा घूमने लगा। इस प्रकार एक 'स्त्री' के मोह में एक श्रेष्ठ निर्देशक पागल बन बैठा। स्क्रिप्ट, फ़िल्म के अन्य अंग, इन सबकी ओर से ध्यान हट गया और वह एक तरफ़ कर दिया गया, परन्तु मर्लिन को बाद में 'विटनेस टु द प्रॉसिज़्यूशन' 'अ फॉरेन अफयेर' जैसी अच्छी फ़िमें मिलीं।

संकलन के हाथ के नीचे, फ़िल्म चिपकाने वाला 'पंचर बॉय' के रूप में जोसेफ ने अपना कार्य शुरू किया। उज़म निर्देशन और छायाप्रकाशन योजना पर उसने बड़ा अधिकार प्राप्त कर लिया था। पर मोह से वह अपने आपको न बचा पाया। 'ज़्लू एंजेल' में लोला अपने आसपास घूमने वाले पतंगों को सुनाते हुए गाती है—

''प्रीति रस में डूब जाना,
मुझे वह कुछ न चाहिए था!
रोकूँ कैसे प्रीत अपनी,
मुझसे न हो सका वह!''

बेचारे जोसफ की इसमें ज़्या गलती? मर्लिन के मोहपूर्ण जादू को अल्हड़ अदाकारी को दोष दो! ज़्योंकि जर्मनी का हुकुमशाह ॲडाल्फ हिटलर की निर्मम आँखों को भी उसने आकर्षित किया था। वह अमेरिका से जर्मनी वापस आए, ऐसा आह्वान उसने किया था। इस मोहिनी के साथ अपनी पलंग सेवा हो, ऐसी उसकी सुप्त इच्छा थी, परन्तु यह मदनिका किसी को घास नहीं डालती थी। जब विफलता से ग्रस्त हिटलर ने मर्लिन की सभी फ़िल्मों पर पाबन्दी लगा दी थी, उस समय का इतिहास है।

जानिंग्ज ऊँचा-पूरा जबरदस्त देहयष्टि का अभिनेता था। करुण व्यक्ति की भावना प्रस्तुत करने में वह कुशल था। पारदर्शक और बोलती आँखें उसके व्यक्तित्व का विशेष आकर्षण थीं। 'ज़्लू एंजेल' में उसने अपनी सुन्दर अभिनय-क्षमता दिखायी थी। फ़िल्म के अन्तिम भाग में, उस कैबरे नर्तकी के साथ, विदूषक की भूमिका करने वाले प्रोफेसर, जब अपनी कर्मभूमि में लौटते हैं, जब अपने पुराने विद्यार्थियों के सामने और सहयोगियों के सामने, दुष्ट काल, हर कदम पर उनकी मानहानि करता है, तब प्रोफेसर साहब की मन से, तन से दुखी होना, जामिंग्ज ने अत्यन्त उज़म रीति से प्रस्तुत किया है। आगे चलकर हिटलर के नाजी राज्य में, यह महान सिने कलाकार, जर्मन संसद का सीनेटर भी बना था।

मूल 'ज़्लू एंजेल' में अंडे फोड़ने के दृश्य के साथ-साथ प्रोफेसर साहब के अद्यःपतन का और एक चौंका देने वाला दृश्य है। प्रोफेसर उस नाइट ज़्लब में लोला से मिलने जाते हैं, तब अन्दरउसका उज़ेजक नृत्य शुरू रहता है। अँधेरी सीढ़ी पर प्रोफेसर साहब खड़े थे। इतने में वह अपनी कमर का अन्तर्वस्त्र निकालकर नीचे फेंक देती है। के गन्दे कपड़े बिलकुल प्रोफेसर के चेहरे पर गिरते हैं।

'द ज़्लू एंजेल' के निर्देशक जोसफ को सिनेमॉटोग्राफी की अच्छी समझ थी। इस फ़िल्म की प्रत्यक्ष छायालेखन गुंहिर रिज़ु और हॅन्स स्कीनबर्गर ने पूर्ण किया था। इस त्रिमूर्ति ने छायालेखन की दृष्टि से फ़िल्म में मानो जान फूँक दी थी। शुरू में प्रोफेसर की कक्ष के सीधी रेखा में लगाए गये बेंचेस, उसमें खिड़की से झलकने वाली सूर्य-किरणें और सामने प्रोफेसर की नीरस चर्चा से प्रोफेसर का दो एकम दो का विश्व दृष्टिगोचर होता है। इसके विपरीत 'द ज़्लू एंजेल' नाइट ज़्लब की दुनिया जगमगाती हुई थी। वहाँ की नकली दीवारें और नाटकीय हाव-

भाव वाले लोग। यहाँ का वातावरण जानबूझकर गूढ़ और विनाशकारी रखा गया, ज़्योंकि वे अन्त में प्रोफेसर में निहित सद्प्रवृज़ मनुष्य को विनाश की गहरी खाई में ले जाने वाले होते हैं। यहाँ निर्देशक और छाया-लेखक ने ज़्यादातर शॉट्स लो ऐंगल से लिये गये हैं। इस फ़िल्म की छाया-लेखन की दुनिया भर में वाहवाही हुई। पेशे से सिनेमॅटोग्राफर न होते हुए भी इस फ़िलम का निर्देशक जोसेफ आगे चलकर, अमेरिका में सिनेमॅटोग्राफी में छाया-प्रकाश संरचना का एक जादूगर माना जाने लगा। पॅरामाउंट स्टूडियो ने अपनी प्रकाश-योजना विभाग के प्रमुख सलाहकार के पद पर उसे स्थान देकर सज़्मानित किया।

शान्ताराम बापू की 'पिंजरा' की यूनिट ने भी उज़म कार्य करते हुए सामान्य लोगों को अभिभूत कर लिया था। सोंगाड्या बने नीतू फुले और अज़्का की भूमिका में वत्सला बाई देशमुख सहकलाकार थीं। उनका फ़िल्म में अभिनीत सहज व्यवहार, चाल-चलन देखकर लगता था ये दोनों जन्मभर किसी तमाशे में ही काम करते रहे हैं। वहाँ से पकड़कर उन्हें सीधे कैमरे के सामने खड़ा किया गया है। इतना कुशल अभिनय इन दोनों गुणी कलाकारों ने कर दिखाया था। सरला येवलेकर की एक छोटी भूमिका की अदा भी आकर्षक थी। फ़िल्मों में भीड़ करने वाला महाराष्ट्र पहली बार 'पिंजरा' के कारण इतने बड़े प्रमाण में थिएटर में भीड़ लेकर आया। यह बात बालासाहब सरपोतदार हमें हमेशा बताते थे। शान्ताराम बापू को इस फ़िल्म ने ख़ूब आर्थिक लाभ और अच्छा लौकिक यश प्राप्त कराया। इतना ही नहीं उनके यश की दुंदुभी हिन्दी सिनेमा जगत में भी जा पहुँची थी। फिर शान्ताराम बापू ने ही 'पिंजड़ा' हिन्दी सिनेमा की घोषणा कर डाली।

हिन्दी 'पिंजड़ा' फ़िल्म को अत्यन्त दयनीय स्थिति में असफलता मिली। परन्तु मराठी ने इतना प्रचंड यश दिखाया था, कि उसके आगे बापू को हिन्दी की असफलता का ज़्यादा दुख नहीं हुआ। उन्होंने अपने हिन्दी 'पिंजड़ा' की असफलता के लिए दर्शकों को दोषी ठहराया। हिन्दी दर्शकों का ध्यान हिंसा और नग्नता की ओर फ़िल्मों ने लगा रखा है। वस्तुस्थिति वैसी नहीं थी। मराठी सिनेमा में नायक-नायिका के रूप में कलाकारों का समूह, हीरो-हीरोइन के रूप में, हिन्दी फ़िल्म के सभी ओर फैले हुए दर्शकों को खींचने में असमर्थ था।

हिन्दी के लिए शान्ताराम बापू को और बड़ा कलाकारों का समूह नहीं मिल सकता था?

उसी कालखंड में 34 पाली हिल नामक गुफा में अभिनय का एक शहंशाह रहता था। उसका नाम था दिलीप कुमार। अपनी अभिनय प्रतिभा के कारण उसकी प्रसिद्धि सज़्पूर्ण भारतवर्ष में फैली थी। अतुलनीय यशकीर्ति प्राप्त हुई, कि अहंकार बढ़ता है। यह अभिनय सम्राट भी तब अनेक बड़े-बड़े हिन्दी-निर्माता-निर्देशकों को कुछ नहीं मानता था, परन्तु एक दिन सुबह वह अपनी गर्विष्ठ गुफा से ख़ुद ही बाहर आया। 'राजकमल' में जाकर बापू के पैरों के पास बैठकर अत्यन्त नम्र स्वर में बापू से प्रार्थना करने लगा, ''अण्णासाहब, वो मास्टर जी का रोल निभाने का अगर आप मुझे मौक़ा देंगे, तो मैं आपका ज़िन्दगी भर एहसानमन्द रहूँगा।'' दिलीप कुमार इसी उद्देश्य से बापू के पास दो बार आकर गये थे यह बात मुझे राम कदम हमेशा बताया करते। मतलब उस दरमियान अगर दिलीप कुमार गुरुजी की भूमिका करते, तो चन्द्रकला के रोल में वहीदा रहमान कितनी सुन्दर लगती, इस प्रकार की ज़ूमिका दिलीप साहब के कुछ मित्रों ने बनानी शुरू की थी, परन्तु शान्ताराम बापू दिलीप कुमार के आग्रह से बँधे नहीं थे।

शान्ताराम बापू हमेशा एक बात के बारे में सावधान और हठी थे। अपनी फ़िल्म पर निर्देशक का प्रभाव, गहरी मुद्रा होनी चाहिए। किसी बड़े कलाकार के नाम पर फ़िल्म चलने वाली होगी, तो वह निर्देशक का अपमान है, यह बापू की धारणा थी। उनके फ़िल्मांकन पर से ही ये बातें स्पष्ट होती हैं। 'शकुन्तला' फ़िल्म में उन्होंने पृथ्वीराज कपूर को दुष्यन्त की भूमिका दी थी। तब फ़िल्मी दुनिया में 'अभी फ़िल्म शकुन्तला की नहीं, दुष्यन्त की बनेगी।' ऐसी कानाफूसी बापू के कान पर आने की देर थी, कि उन्होंने पृथ्वीराज कपूर को ही सन्देश का नारियल दे दिया था। वह बात पृथ्वीराज के मन को बहुत लगी, फिर उन्होंने एक नाटक में दुष्यन्त की भूमिका निभाई और वह प्रयोग देखने के लिए बापू को आग्रह से बुलाया। दुष्यन्त की भूमिका में पृथ्वीराज ने सुन्दर पेशकश की। प्रयोग के बाद वह तगड़े देह वाला, परन्तु कोमल मन का अभिनेता बापू के सामने झुककर नम्रता से पूछने लगा, ''अण्णा साहब, मैं दुष्यन्त लगता हूँ न?'' यह घटना अनेक लोगों को ज्ञात है।

इतना ही ज़्यों, डॉ. कोटणीस की भूमिका करने के लिए मोतीलाल और अशोक कुमार जैसे महान अभिनेता एक पैर पर तैयार थे। इस बात की याद इसाक मुजावर ने मुझे दिलाई है। कुल मिलाकर शान्ताराम बापू को यह बात बिल्कुल पसन्द नहीं थी कि कोई कलाकार निर्देशक से ज़्यादा महज़्व प्राप्त करे। इसी, पार्श्व भूमि पर रामभाऊ द्वारा सुनाया गया किस्सा मुझे सच लगने लगा।

'पिंजरा' की हिन्दी आवृज़ि में दिलीप कुमार और वहीदा रहमान कैसे दिखाई देते, इस कल्पना से ही शरीर रोमांचित हो उठता। डॉ. श्रीराम लागू ने अविस्मरणीय श्रीधर गुरूजी की भूमिका निभाई है। यदि यह भूमिका अरुण सरनाईक को मिली होती, तो उन्होंने भी एक सज़्पूर्ण रूप से अलग तरह के मास्टर का रूप खड़ा किया होता। (आठवाँ गिरीश कनार्ड का 'तुगलक' नाटक और हमारे डॉ. जज़्बार पटेल के 'सिंहासन' में अरुण ने कुरेंबाज, मूर्तिमत मुज़्यमन्त्री की भूमिका साकार की) अब नये रूप में 'द ज़्लू एंजेल' में प्रोफेसर बुनरेट और इमेनुएल की भूमिका साकार करनेवाला एमिल जानिंग्ज, जब भी मैं देखता हूँ,तब अभिनय कला के समय ऊँची सीढ़ी पर बैठे हुए एक सुवर्ण गरुड़ के दर्शन होने का आभास होता है और मन धन्य हो उठता है। उसी प्रकार लोला की भूमिका साकार करने वाली मर्लिन डीट्रीईज ने ज़ी मन मोह लिया।

दूर देश से धीरे-धीरे हवा बहती आयी। वह अपने साथ वहाँ के छोटे-सा बीज लाकर जंगल में बिखेर दी और फिर उसका रुपान्तर महान वटवृक्ष में हो गया। वैसे 103 वर्ष पूर्व दूर जर्मनी में एक उपन्यास के बहाने जन्म लेने वाला कोई प्रोफेसर बुनरेट हमारी मराठी संस्कृति के पिंजड़े में आकर बन्दी बन गया है। शान्ताराम बापू ने उसे एक सुन्दर चित्रकृति के मुखौटे में बिठाया है। वह हमें हमेशा के लिए आनन्दित कर गया है।

यह सुखद है कि हमारे नियमित स्तज़्भकार प्रांजल धर को वर्ष 2010 का 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र पुरस्कार' सूचना और प्रसारण मन्त्रालय द्वारा प्रदान किया गया है। ज्ञानपीठ परिवार की ओर से बधाई।

वैश्विक पत्रकारिता की प्राचीनता

प्रांजल धर



जब अख़बारों की प्राचीनता की बात आती है तो बेंजामिन हैरिस का नाम अपने-आप हमारे सामने प्रमुखता से आता है। पत्रकारिता की पढ़ाई करने वाले छात्र-छात्राओं के लिए यह नाम बेहद आम है। बेंजामिन हैरिस ने बोस्टन में सन् 1690 ई. में 'पज़्लिक अकरेंसेस बोथ फॉरेन और डॉमेस्टिक' नाम का एक अख़बार निकाला था। इस अख़बार को अमेरिकी उपनिवेशों का पहला अख़बार माना जाता है। जिस प्रकार भारत में सन् 1780 ई. के आसपास जेज़्स आगस्टस हिज़्की द्वारा निकाले गये अख़बार को ब्रिटिश सरकार ने बन्द कर दिया था, उसी प्रकार सरकार ने ही हैरिस के इस समाचारपत्र को बन्द किया था। हैरिस के अख़बार का केवल एक ही संस्करण प्रकाशित हो पाया था।

लगभग एक दशक पश्चात् सन् 1704 ई. में सरकार ने 'द बोस्टन न्यूज़लेटर' नाम के एक समाचारपत्र के निरन्तर प्रकाशन की अनुमति दी। उपनिवेशों में लगातार प्रकाशित होते रहने का पहला रिकॉर्ड इसी अख़बार के नाम दर्ज़ है। इसके तुरन्त बाद न्यूयॉर्क और फ़िलाडेल्फ़िया में साप्ताहिक अख़बारों का प्रकाशन प्रारज़्भ हुआ। ये प्रारज़्भिक समाचारपत्र चार पृष्ठों के होते थे और ब्रिटिश फॉर्मेट का अनुसरण करते थे। इनमें ज़्यादातर ब्रिटेन से आयी ख़बरें ही प्रकाशित होतीथीं और लगभग पूर्ण रूप से ये ख़बरें सज़्पादक की रुचि पर निर्भर रहती थीं। यह हालत तब तक बनी रही, जब तक 'पेनसिलवानिया इवनिंग पोस्ट' का प्रकाशन नहीं शुरू हो गया। 1783 ई. में प्रकाशित होने वाला यह अख़बार पहला अमेरिकी दैनिक था।

उज़री अमेरिकी महाद्वीप के प्रमुख देश कनाडा में, सन् 1753 ई. में, जॉन बुशेल ने 'हैलीफैज़्स गज़र' का प्रकाशन शुरू किया, जो पहला कनाडाई समाचारपत्र है। आज केवल अमेरिका में ही लगभग डेढ़ हज़ार दैनिक अख़बार प्रकाशित होते हैं जिनकी छह करोड़ से भी अधिक प्रतियाँ पूरे अमेरिका में प्रसारित होती हैं। इन बातों के बीच प्रमुख तथ्य यह है कि छापेखाने के प्रसार और औद्योगिक क्रान्ति की प्रगति के तत्कालीन दौर में यूरोप, उज़री अमेरिकी और दक्षिणी अमेरिकी महाद्वीपों में अख़बारों ने विकास की एक जैसी राह नहीं पकड़ी। जहाँ एक ओर अन्तर्वस्तु में संस्कृति और क्षेत्रीयता के हिसाब से बदलाव आ जाते, वहीं दूसरी तरफ़ मुद्रण की तकनीकी के मध्य विद्यमान अन्तरों ने अख़बारों के शिल्प और ले-आउट में विविधता का संचार किया।

भौगोलिक सीमाओं के आर-पार सूचनाओं के आदान-प्रदान के लिए आधुनिक यूरोप में संचार-माध्यमों की महती आवश्यकता महसूस की गयी थी। तब राजनीतिक, सैन्य और आर्थिक ख़बरों के आदान-प्रदान के लिए हस्तलिखित न्यूज़शीट का प्रचलन शुरू हुआ। सन् 1556 में वेनिस की सरकार ने सबसे पहले एक मासिक गजट का प्रकाशन शुरू किया जो एक प्रकार से टिप्पणी की तरह का होता था, जिसे हम आधुनिक अर्थों में समाचारपत्र नहीं मान सकते। ख़बरों की कोई प्रासंगिक प्राथमिकता नहीं होती थी और न ही वस्तुनिष्ठता का कोई तज़्व। इसके अलावा घूम-फिरकर ये सारे प्रयास कुछ ही विषयों तक सीमित रहते थे और सामान्य जनता या आम जन-जीवन से इनका कोई सरोकार नहीं होता था।

समाचारपत्रों के चिरसज़्मत और शास्त्रीय प्रतिमानों को ध्यान में रखते समय इस बात का उल्लेख किया जाना ज़रूरी है कि जर्मनी में जोहान कैरोलस द्वारा सन् 1605 ई. में निकाला गया समाचारपत्र आज के अख़बारों की तरह

का पहला अख़बार था। कैरोलस ने यह अख़बार स्ट्रासबर्ग से प्रकाशित किया था जो उस समय के पवित्र रोमन साम्राज्य का एक स्वतन्त्र शाही शहर था। फिर भी, अधिकतर विद्वान इसे आधुनिक जर्मनी का पहला समाचारपत्र नहीं मानते। इस विचारधारा के मुताबिक आधुनिक जर्मनी का प्रथम अख़बार 'अवीसा' था जो सन् 1609 में प्रकाशित होना शुरू हुआ था। तत्कालीन विश्व में व्यापार के प्रमुख केन्द्र एज़्सटर्डम को समाचारपत्रों का घर कहा जाने लगा था। सन् 1618 के लगभग एज़्सटर्डम से अनेक भाषाओं के अख़बार प्रकाशित होने लगे थे। हालत यह थी कि जिन देशों की ये भाषाएँ थीं, वहाँ अपनी भाषाओं के अख़बारों का प्रकाशन, एज़्सटर्डम में प्रकाशन के पश्चात् ही प्रारज़्ज़ हुआ।

इसी सिलसिले में यह जानना रोचक है कि अँग्रेजी ज़ाषा का पहला समाचारपत्र 'कोराण्ट' अँग्रेजों के अपने देश इंग्लैंड से नहीं प्रकाशित हुआ था, बल्कि यह सन् 1620 ई. में एज़्सटर्डम से ही निकलना शुरू हुआ था। एज़्सटर्डम से प्रकाशित हो चुकने के डेढ़ साल बाद यह अख़बार इंग्लैंड से निकलना शुरू हआ। इसी प्रकार फ्रांस का पहला समाचारपत्र 'ला गजट' (गजट डि फ्रांस) 1631 में, पुर्तगाल का पहला अख़बार 'गजेटा' लिस्बन से सन् 1641 में और स्पेन का प्रथम समाचारपत्र 'गैसेटा डि मैड्रिड' सन् 1661 में प्रकाशित हुआ था।

इसी प्रकार पहला सफल अँग्रेजी दैनिक 'द डेली कोरांट' सन् 1702 ई. से सन् 1735 ई. के बीच प्रकाशित होता था। अगर आधुनिक पत्रकारिता के जन्म की बात करें तो यह चीज़ मुद्रण यन्त्र के आविष्कार के साथ जुड़ी हुई है। चूँकिइस यन्त्र का आविष्कार चीन में ही हुआ था इसलिए पहला समाचारपत्र भी चीन में ही निकला। पीकिंग से सन् 1340 ई. में एक पत्र निकला था जो कि दैनिक पत्र था। चीन के बाद ही आधुनिक पत्रकारिता के सन्दर्भ में इटली, जर्मनी, हालैंड, फ्रांस या कोरिया का नाम आता है। ब्रिटेन इस मामले में थोड़ा पिछड़ गया ज़्योंकि ब्रिटेन में पहला समाचारपत्र सन् 1622 ई. में 'पोस्टमैन' नाम से प्रकाशित हुआ। इसी तरह चेक ज़ाषा का पहला अख़बान सन् 1719 में कारेल प्रैटिसेक राजन मूलर ने 'चस्की पोस्टीलियन नेबोलजिट्टू नोविनो चैस्के' नाम से प्रकाशित किया। स्लोवाक भाषा का पहला समाचारपत्र सन् 1783 ई. में 'प्रेपूस्केनोविनो' नाम से ब्राटिस्लावा में प्रकाशित हुआ। सन् 1891 में प्राग में 'साबाबोदा' और सन् 1906 में हेडिक्रालोवी से पोचीडिन नामक पत्र प्रकाशित हुआ।

वैश्विक पत्रकारिता में अख़बारों का अध्ययन करते हुए एक बात साफ़ तौर पर हमारे सामने आती है कि अख़बारों का वर्गीकरण अलग-अलग देशों में अलग-अलग तरीके का है। उदाहरण के लिए ब्रिटेन में समाचारपत्रों को छह भागों में विभाजित किया जाता है। पहले वर्ग में लन्दन से प्रकाशित कई राष्ट्रीय पत्र हैं जो देश भर के लोग पढ़ते हैं। दूसरे वर्ग में ऐसे प्रात: कालीन पत्र हैं जो प्रान्तों में प्रकाशित होते हैं। तीसरा वर्ग ऐसे राष्ट्रीय अख़बारों का है जो लन्दन तथा प्रान्तों यानी दोनों जगहों से प्रकाशित होते हैं और जिनके एक दिन में कई संस्करण निकलते हैं। ऐसे अख़बारों में क्षेत्रीय ख़बरों की प्रचुरता रहती है। स्वभाव से ही ये क्षेत्रीय समाचारों की न्यूज़ वैल्यू को अधिक मानते हैं। चौथे वर्ग में लन्दन से प्रकाशित होने वाले ऐसे रविवारीय पत्र हैं जिनकी पहुँच देश के कोने-कोने तक होती है। इनमें राजनीति, कला, साहित्य एवं खेलकूद के प्रत्येक पक्ष जुड़ी हार्ड न्यूज़ भी समाहित रहती है और सॉज़्ट न्यूज़ भी। पाँचवें वर्ग में ऐसे स्थानीं साप्ताहिक अख़बार शामिल हैं जो देश भर में जगह-जगह प्रकाशित होते हैं और जिनमें छोटे शहरों, कस्बों तथा ग्रामीण अंचलों के स्थानीय समाचार वहाँ की राजनीतिक परिचर्चाएँ तथा अन्य सूचनाएँ रहती हैं। छठवें और अन्तिम वर्ग के अख़बार उन पाठकों के लिएहोते हैं जिनकी रुचि खेल-कूद आदि विषयों में अधिक होती है।

अख़बारों की वर्तमान दुनिया इस बात की साक्षी है कि प्रात:कालीन दैनिक तथा रविवारीय पत्रों का वर्गीकरण जहाँ एक ओर अधिकतर देशों के लिए उपयुज़्त है, वहीं भारत या जर्मनी जैसे देशों में विशेष रविवारीय पत्र जैसे कोई अख़बार नहीं होते। हाँ, इतना अवश्य है कि भारत में कुछ दैनिकों के रविवारीय पूरक अंक होते हैं। जर्मनी में ये अंक ज़्यादातर शनिवार को ही निकलते हैं, न कि रविवार को। पत्रकारिता जगत में इधर एक और विशेष वर्ग के अख़बार ख़ासे लोकप्रिय होते जा रहे हैं। ये वास्तव में ऐसे अख़बार हैं जो विशेष विषयों से सज़्बन्ध रखते हैं; यथा-राजनीति, अर्थशास्त्र, खेलकूद, चिकित्सा विज्ञान आदि। इन बातों के बीच यह गौर करने वाला तथ्य है कि अमरीका तथा भारत में शहरों से प्रकाशित ऐसे अनेक अख़बार हैं जिनके पाठकों की संज़्या तो बहुत है लेकिन वे राष्ट्रीय समाचारपत्रों के रूप में मान्य नहीं है।

अफ्रीकी महाद्वीप के कुछ देशों को अगर छोड़ दिया जाए जहाँ प्रेस का अस्तित्व ही नहीं है, तो कहा जा सकता है कि अख़बार आज विश्व के सभी देशों के लोगों के दैनिक जीवन के अनिवार्य अंग बन चुके हैं। पाठक संज़्या के औसत की दृष्टि से देखा जाए तो अफ्रीका में लगभग तीस करोड़ की जनसंज़्या के पीछे दैनिक अख़बारों के ग्राहक पचास लाख के आस-पास हैं। इस प्रकार हर एक हज़ार व्यज़्तियों के पीछे मात्र चौदह लोग अख़बार पढ़ते हैं। सवाल पूछा जा सकता है कि ज़्या अफ्रीका के पिछड़ेपन का कारण वहाँ के प्रेस का अविकसित होना है ? या फिर प्रेस अविकसित इसलिए है कि अफ्रीकी महाद्वीप पिछड़ेपन से ग्रस्त और त्रस्त है ? अफ्रीका में आठ-नौ देश तो ऐसे हैं, जहाँ कोई अख़बार ही नहीं प्रकाशित होता। पन्द्रह अन्य देशों में प्रतिदिन हर एक हज़ार व्यज़्तियों के पीछे कुल दस अख़बार पड़ते हैं और कोई भी देश ऐसा नहीं है जहाँ यह संज़्या एक सौ से अधिक हो। अफ्रीका के तेरह देशों में मात्र एक अख़बार निकलता है, वह भी तब, जब हम इसमें सरकार द्वारा प्रकाशित एक-पृष्ठीय दैनिकों को शामिल कर लें। ज़्या समाचार-माध्यमों की बहुलता जैसा कोई प्रश्न अफ्रीका के बारे में प्रासंगिक रह जाता है ? दूसरी ओर यदि हम मध्य अमेरिका में स्पेनिश-भाषी देशों पर निगाह डालें तो निकारागुआ जैसे देश भी प्रमुखता से हमारे सामने आते हैं जिसकी आबादी कनाड़ा से केवल बीस लाख ही कम है, लेकिन जहाँ केवल चार दैनिक अख़बार हैं। इनकी पाठक या ग्राहक संज़्या एक हज़ार पर केवल चालीस है। जबकि कनाडा में लगभग एक सौ बीस दैनिक, लगभग सवा दो सौ अदैनिक तथा नौ सो के लगभग पत्रिकाएँ प्रकाशित होती हैं। कनाडा में फ्रांसीसी भाषा में भी अनेक अख़बार

प्रकाशित होते हैं ज़्योंकि वह क़रीब तीस फीसदी लोगों की मातृभाषा है।

न्यूजीलैंड में समाचारपत्रों का अवलोकन करने पर स्वामित्व की बात सर्वाधिक प्रमुखता से उभरती है। विकसित कहे जाने वाले इस देश में अधिकतर अख़बारों पर व्यज़्तिगत स्वामित्व की हालत है। किसी न्यास के तहत चलने वाले अख़बार यहाँ नहीं पाए जाते। देखा जाए तो ऑस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड में अख़कारों की संज़्या तीन सौ से भी अधिक है लेकिन आस्ट्रेलिया में दो या तीन दलों के पास ही अधिकाधिक पत्रों का स्वामित्व संकेन्द्रित होता जा रहा है। ये दल रेडियो और टेलीविजन केन्द्रों पर भी अपना नियन्त्रण रखते हैं। 'सिडनी पोस्ट' तथा 'सिडनी हेराल्ड' ऑस्ट्रेलिया के मुज़्य अख़बार हैं।

आज हम भले ही ऑनलाइन न्यूज़पेपर का सरलता व सुविधा से आनन्द लेते हैं, पर अख़बारों की आत्मा मुद्रित शज़्दों और काग़ज़ों में ही बसती रही है। वैश्विक स्तर पर जब हम अख़बारों की प्राचीनता की बातें करते हैं तो भारत का नाम ही सहज ही सामने आता है। यह बात अलग है कि जब पूरी दुनिया में औद्योगिक क्रान्ति का विकासमान दौर चल रहा था, तब हम औपनिवेशिक शासन की कसी हुई जंजीरों में बुरी तरह जकड़े हुए थे। आज समाचारपत्रों के मामले में भारत अपनी विशेष और लोकतान्त्रिक पहचान रखता है और हम विश्व के चुनिन्दा बड़े बाज़ारों में से एक हैं। रेखांकित करने वाली बात यह है कि आज भारतीय अख़बारों की संसार में एक अनूठी पहचान है और यह पहचान इस तथ्य के बावजूद कायम है कि हमारे यहाँ पहला अख़बार जब सन् 1780 ई. में निकला था, तब तक शेष दुनिया के समाचारपत्रों ने अपने विकास की ठीक-ठाक यात्रा भली प्रकार पूर्ण कर ली थी। कहने का तात्पर्य यह है कि हमारे यहाँ अख़बार, शेष विश्व की तुलना में देर से प्रारज़्भ हुए और वज़्त आने पर हमने सबको पिछाड़कर रख दिया है।

2710, भूतल, डॉ. मुखजी नगर
दिल्ली- 110 009
मो.: 09990665881

मैटिनी शो : संन्यासी (1975)

संन्यासी

शंकर बिन जयकिशन

शशांक दुबे

आज दो फूलों की खुशबू से महक उठा चमन
गुनगुनाती हैं फिज़ाएँ रज़्स करती है पवन
है कली कली के लब पे नगमा है मुबारकबाद का
बन गये भारत में पद्मश्री शंकर-जयकिशन

(महान संगीतकार नौशाद द्वारा शंकर-जयकिशन को 1967 में पद्मश्री प्रदान किये जाने के अवसर पर दी गयी काव्यमय बधाई)

जगह : मुज़्बई का मैरिन ड्राइव, समय: रात के ग्यारह बजे। सामने ठाठें मारता समुद्र, फिज़ा में ठंडी-ठंडी हवा, पसरने को आतुर सन्नाटा और उसे चुनौती देती कार की हेडलाइटों से निकलती रोशनी। वज़्त की रफ़्तार के थम जाने की कामना करते हुए आप इस 'नवलखे हार' के सौंदर्य को निहारते-निहारते कान में इयर फोन डालकर गाना सुनते हैं, ''रात के हमसफ़र थक के घर को चले''। गाने में ही सही, घर का नाम सुनते ही आप थकने लगते हैं। मुज़्बई में घर वहाँ नहीं होते, जहाँ मुज़्बई होती है, मुज़्बई में घर वहाँ होते हैं, जहाँ से मुज़्बई नज़्बे मिनट दूर होती है। चलना तो होगा ही। बड़े बेमन से आप उठते हैं। निकलने से पहले यहीं एक फर्लांग दूर सम्राट रेस्टोरेंट के नीचे आप पान खाते हैं, ऐसा पान जिसके पज़्ते का ही स्वाद आपको खुशदम कर देता है। मुज़्बई की इस आपाधापी में भी खुशी के इतने अच्छे पल मुहैया कराने के लिए कुदरत के प्रति शुक्रगुज़ार होने के वास्ते जैसे ही आप गर्दन ऊपर उठाते हैं सामने ज़्युनिसिपल कॉरपोरेशन द्वारा लगाई गयी 'शंकर-जयकिशन चौक' नामक तज़्ती देखकर चौंक पड़ते हैं। अरे! यह ज़्या? सड़क का नाम और वह भी संगीतकार के नाम पर? भई अपने यहाँ तो हर सड़क महात्मा गाँधी, हर पुलिया जवाहरलाल नेहरू, हर वाचनालय विवेकानन्द और हर चौराहा दिवंगत पार्षद या रसूखदार जीवित पार्षद के दिवंगत पिता के नाम पर रखने की परज़्परा है। अब शंकर-जयकिशन नामक यह चौकोण के पंच व षटकोण कहाँ से चले आये?

इसलिए ज़्योंकि यह मुज़्बई है। सरहानपुर या शुजालपुर या संबलपुर नहीं। यहाँ नेताओं ही नहीं, कलाकारों, साहित्यकारों और संत-महात्माओं के नाम पर भी मार्ग या चौराहे बनते हैं। फिर शंकर-जयकिशन तो इसके हकदार भी हैं। भारतीय फ़िल्म जगत के सर्वकालीन सर्वश्रेष्ठ संगीतकार। ऐसे संगीतकार जिन्होंने फ़िल्म संगीत के स्वर्णिम दशक (1956 से 1966 तक) में श्री 420, चोरी चोरी, अनाड़ी, दिल अपना और प्रीत पराई, दिल एक मन्दिर, जंगली, प्रोफेसर, सीमा, ससुराल, हमराही,



आयी मिलन की बेला, जब प्यार किसी से होता है, दिल तेरा दीवाना, यहूदी, तीसरी कसम जैसी कई महान (और मामूली भी) फ़िल्मों में अद्‌भुत संगीत की छटा बिखेरी। फ़िल्म चाहे छोटी हो या बड़ी, शंकर-जयकिशन का नाम जुड़ते ही वह अपने-आप बड़ी हो जाती थी। उनका पारिश्रमिक फ़िल्म के नायक के मेहनताने से एक रुपया अधिक होता था और मेहनत उससे कम-से-कम दस गुनी। उनकी धुनें कर्णप्रिय तो होती ही थीं, उन्हें प्रभावी बनाने के लिए उनका विशिष्ट आर्केस्ट्रा भी होता था, जिसके अन्तर्गत अलग-अलग वाद्यों के पारंगत 60 वादक एक साथ मिलकर संगीतकार की कल्पना को साकार (या सावाज़) किया करते थे। शंकर-जयकिशन को दो जिस्म एक जान इसलिए कहा जाता था कि वे भले ही गीतों की धुन अलग-अलग रचते थे (प्रायः शैलेन्द्र के गीत की धुन शंकर बनाते व हसरत जयपुरी के गीतों की धुन जयकिशन बनाते, लेकिन प्रायः, सदैव नहीं), लेकिन रेकॉर्डिंग दोनों ही साथ मिलकर करते थे, अपने उन्हीं प्रतिभाशाली 60 वादकों के ग्रुप के साथ।

अपने तमाम समकालीनों और उत्तरकालीनों के मुकाबले शंकर-जयकिशन के संगीत की सबसे बड़ी ख़ूबी उसमें छिपा आह्लाद था। आम तौर पर दुःख के गीतों की धुन हमारे संगीतकार इस प्रकार की बनाते हैं कि सुनते ही श्रोता अफसुर्दगी में चला जाये। ऐसा माना जाता है कि जितनी धुन में मनहूसियत होगी, गीत उतना ही अधिक दमदार बनेगा। उदाहरण के लिए 'तुझको पुकारे मेरा प्यार' (फ़िल्मः नीलकमल, संगीतकारः रवि), 'ये महलों ये तख़्तों ये ताजों की दुनिया' (फ़िल्मः प्यासा, संगीतकारः एस.डी.बर्मन), 'तुम क्या जानो तुम्हारी याद में हम कितना रोए' (फ़िल्मः शिनशिनाकी बुबलाबू, संगीतकारः सी. रामचन्द्र), 'टूटे हुए ख़्वाबों ने हमको ये सिखाया है' (फ़िल्मः मधुमति, संगीतकारः सलिल चौधरी)। लेकिन शंकर-जयकिशन की कंपोज़िशन में एक ऐसा जादू था कि दुःखभरे गीत भी फिज़ाओं में मनहूसियत के बदले आह्लाद फैलाते थे। 'लाखों तारे आसमान में एक मगर ढूँढे ना मिला, देख के दुनिया की दीवाली दिल मेरा चुपचाप जला' (हरियाली और रास्ता), 'आ आ भी जा, रात ढलने लगी चाँद छुपने चला' (तीसरी कसम), 'ये शाम की तन्हाइयाँ, ऐसे में तेरा ग़म' (आह), 'अजीब दास्ताँ है ये कहाँ शुरू कहाँ ख़तम' (दिल अपना और प्रीत पराई)।

उनकी दूसरी विशेषता थी, गाने की शुरूआत में इतना अद्‌भुत टुकड़ा बजाना कि ताड़नेवाला आग़ाज़ पर कान धरते ही अंजाम की भविष्यवाणी कर दे। 'मेरे मन की गंगा' (संगम) की शुरूआत में बजने वाली मशक, 'आवारा हूँ' (आवारा) में बजने वाला अकॉर्डियन, 'मुझे कितना प्यार है तुमसे' (दिल तेरा दीवाना) से पहले बजने वाली वायलिन की लहर के तत्काल बाद सिंगल मैंडोलिन का टुकड़ा और 'पंछी बनी उड़ती फिरूँ' (चोरी चोरी) में बजने वाली समवेत बाँसुरी, ये वे प्रयोग थे, जिनके चलते संगीत सुनते ही गाना ताड़ने वाली एक पीढ़ी तैयार की। शंकर-जयकिशन के इसी हुनर से प्रभावित होकर कभी महान गायिका लता मंगेशकर ने कहा था कि ऐसी कई फ़िल्में हैं, जिनमें यदि उनका संगीत न होता, तो वे कभी की भुला दी गयी होतीं। उनके संगीत की तीसरी विशेषता फ़िल्म के संभावित सबसे बड़े हिट गीत को केन्द्र में रखते हुए ज़बरदस्त टाइटल संगीत तैयार करना। साढ़े तीन मिनट के उस संगीत में शेष गीतों के छोटे-छोटे टुकड़े भी समाविष्ट कर दिए जाते और एक ऐसा पैकेज तैयार होता कि टाइटल संगीत सुनते ही लोग झनझना उठते। 'राजकुमार' में उनके द्वारा तैयार किया गया टाइटल संगीत इतना लोकप्रिय हुआ कि बरसों बाद रेडियो सिलोन के लोकप्रिय कार्यक्रम 'एस कुमार्स का फ़िल्मी मुक़द्दमा' के थीम संगीत के रूप में यही टाइटल संगीत बजाया गया था।

उनकी चौथी ख़ूबी थी अद्‌भुत बैक ग्राउंड म्युज़िक, जिसे तैयार करने का तरीक़ा भी उनका अपना था। वे हर दृश्य के लिए अलग-अलग पार्श्व संगीत तैयार करते। इसके लिए सबसे पहले तो वे फिल्म के उस दृश्य को देखते हुए उसका हिसाब अँगुली की पोरों पर रखते जाते। फिर जितनी पोरों में दृश्य ख़त्म होता, उतनी ही पोरों के लिए एक टुकड़े की रचना करते और बाद में उस टुकड़े को पूरे दृश्य पर चस्पा कर देते। क्या मज़ाल कि एक फ्रेम भी इधर की उधर हो जाए! 'जब प्यार किसी से होता है' में देव आनन्द जब डायरी तलाशने के लिए निकलते हैं और अलमारी खोलते हैं तो जब तक डायरी नहीं गिरती संगीत सधा हुआ चलता है, लेकिन जैसे ही अलमारी से डायरी गिरती है, झन्न की आवाज़ के साथ वह टुकड़ा समाप्त हो जाता है। यदि 'संगम' फ़िल्म को फिर से देखने का मौक़ा हाथ लगे, तो 'ये मेरा प्रेम-पत्र पढ़कर कि तुम नाराज़ न होना' गीत के दस मिनिट पहले से ही अपने कान खड़े कर लीजिएगा। गीत से पहले पार्श्व संगीत के ज़रिये उन्होंने जो रूमानी माहौल तैयार किया है, वह अद्‌भुत है। कमोबेश ऐसा ही करिश्मा वे 'राजकुमार' में साधना-शम्मी कपूर के जंगल में झरने के आसपास भटकने वाले दृश्य में भी रचते हैं।

परिवर्तन हमेशा अच्छे के लिए नहीं होता। 1966 में सिंथेसाइज़र का आगमन हुआ और संगीतकार कई वाद्यों का काम इसी से निकालने लगे। इतना भारी भरकम ऑर्केस्ट्रा अब निर्माताओं को महँगा सौदा लगने लगा। हालांकि अपने धाकड़ स्वभाव की वजह से जयकिशन निर्माताओं पर दबाव डालकर ऑर्केस्ट्रा रखवा

ही लेते थे, इसलिए 1967 से 1970 तक के दौर में भी कन्यादान, ब्रह्मचारी, पहचान, एन इवनिंग इन पेरिस, मेरा नाम जोकर, अराउंड द वर्ल्ड, शिकार जैसी कई फ़िल्मों में वे हिट संगीत दे सके। लेकिन 1971 में उनके निधन के बाद स्वभाव से अन्तर्मुखी शंकर अकेले पड़ गए। मार्केटिंग से दूर रहकर सारा जीवन धुनें बनाने व उनकी प्रस्तुति देने में लगा देने वाले शंकर की पैरवी करने वाला कोई न रहा और प्रतिद्वंद्वियों ने ख़बरें उड़ानी शुरू कर दीं कि शंकर-जयकिशन में जो मलाई थी वह जयकिशन थे, अब तो सप्रेटा बचा है। जबकि दुनिया जानती थी कि शैलेंद्र के गीतों की धुन शंकर तैयार करते रहे और हसरत की धुनें जयकिशन। इन मिसाइलों से निरपेक्ष शंकर हर गीत की रेकॉर्डिंग से पहले जयकिशन की तस्वीर को माला पहना कर और पारिश्रमिक का आधा हिस्सा पल्लवी जयकिशन के सुपुर्द कर अपनी नैतिक ज़िम्मेदारी बख़ूबी निभाते रहे, लेकिन तंगदिल निर्माताओं ने ऑर्केस्ट्रा के नाम पर हाथ खड़े कर दिए। अब बत्तीस तरह की तरकारी और तैंतीस तरह के व्यंजन के साथ लंच लेने वाले व्यक्ति को सत्तू के साथ श्रावणी करनी पड़े और फिर कोई उससे पूछे कि दावत कैसी रही, तो ग़रीब ज़्या बोले ? नतीजा ! एक साल में अठारह फ़िल्में और और उनमें से पन्द्रह का संगीत (तुम हसीं मैं जवाँ, प्रीतम, एक नारी एक ब्रह्मचारी, दिल दौलत और दुनिया, दुनिया ज़्या जाने, दामन और आग, इंटरनेशनल क्रूक, नादान, परदे के पीछे आदि) सुपर ज़्लॉप। हाँ, जिन्होंने ऑर्केस्ट्रा दिया, उनके लिए 'जब भी ये दिल उदास होता है' (सीमा), 'आज मैं जवान हो गयी हूँ' (मैं सुंदर हूँ), 'थोड़ा रुक जाएगी तो तेरा ज़्या जाएगा' (वचन) और 'आँखों आँखों में बात होने दो' (आँखों आँखों में) जैसे हिट गीत दिए, लेकिन ये गीत भी तत्कालीन संगीत में सार्थक उपस्थिति दर्ज न कर सके।

दरियादिली दिखाई तो सोहनलाल कँवर ने। कहते हैं कि 'उपकार' की सफलता के बाद मनोज कुमार देशभक्ति की फ़िल्में ख़ुद के बैनर तले और धनभक्ति की फ़िल्में कँवरसाब के बैनर तले बनाते थे। नामावली में निर्देशक के रूप में भले ही सोहनलाल का नाम होता था, लेकिन फ़िल्म के सेट्स पर उनकी भूमिका पुरानी दरी के टुकड़े को लटकाकर बनायी गयी आरामकुर्सी पर डले रहने के अलावा कुछ न होती थी। कुमार और कँवर की इस जोड़ी की पिछली फ़िल्मों 'पहचान' और 'बेईमान' में शंकर-जयकिशन ने हिट संगीत दिया था। उन्होंने शंकर को पूरी छूट दी। निर्माता की इस उदारता को शंकर ने पूरी गंभीरता से स्वीकारा और पॉपुलर संगीत के तत्कालीन मुहावरों को खारिज करते हुए अपना अलग ही रास्ता चुना। सबसे पहले तो उन्होंने पुराने गिले-शिकवे तमाम किए। 'तितली उड़ी' फेम शारदा को तरजीह दे-देकर उन्होंने संगीत के सागर में रहते हुए लताजी से बैर मोल ले रखा था। लिहाज़ा पहले तो अपनी गुस्ताखी के लिए उन्होंने लताजी से माफी माँगी, फिर सोहबत के सुहाने दौर का हवाला देते हुए गुरबत के इस दौर में सहयोग देने का अनुरोध किया। लता नम गयीं। ज़माना भले ही किशोर की आँधी में डूबा हुआ था, उन्होंने रफी की ही तरह लगभग फुरसत में बैठे मुकेश को लिया। अब बारी आयी गीतकारों के चयन की। उन्होंने आनन्द बक्षी, साहिर व मजरूह जैसे उस दौर के 'नज़्बर वन-टू-थ्री' गीतकारों को छोड़कर 'फोर टू नाइन' के क्रम में मौजूद छः गीतकारों इंदीवर, हसरत जयपुरी, वर्मा मलिक, एम.जी. हशमत, विट्ठलभाई पटेल और विश्वेश्वर शर्मा को चुना।

निर्माताओं के आर्केस्ट्रा-निरपेक्ष रवैये और राज कपूर समेत तमाम बड़े फ़िल्मकारों द्वारा की गयी उपेक्षा से दुखी शंकर ने इस अवसर को करो या मरो की लड़ाई के रूप में लिया और गीतों की तैयारी में जी-जान से जुट गये। विश्वेश्वर शर्मा ने दो गीत 'चल संन्यासी मन्दिर में' और 'जैसा मेरा रूप रंगीला वैसा मिले जवान' और एम.जी. हशमत ने भी दो गीत 'चोरों का माल सब चोर खा गये' और 'ये है गीता का ज्ञान' लिखे। शेष चारों ने एक-एक गीत लिखे। विट्ठलभाई पटेल ने 'बाली उमरिया भजन करूँ कैसे', वर्मा मलिक ने 'सुन बाल ब्रह्मचारी मैं हूँ कन्या कुँआरी', हसरत जयपुरी ने 'शामे फुरकत का ढल गया साया रे', इंदीवर ने 'ज़्या मार सकेगी मौत उसे'। शंकर (बिन जयकिशन) की धुन, लता-मुकेश की आवाज़ें और छः-छः गीतकारों की कलम, नतीजा सारे के सारे गीत सुपरहिट। 'संन्यासी' का संगीत फ़िल्म प्रदर्शित होने से कुछ समय पहले रिलीज़ कर दिया गया था और अब लोगों में उत्सुकता इसी बात को लेकर थी कि इतने अच्छे गीतों का फ़िल्मांकन किस प्रकार से होता है।

हेमा मालिनी को फ़िल्मी दुनिया की विगत तैंतालीस सालों की सबसे ख़ूबसूरत और आकर्षक नायिका माना जाता है। सज़र के दशक में उनकी लोकप्रियता और सौन्दर्य, दोनों ही शबाब पर थे। यह वह समय था, जब नायकों में कोई नज़्बर वन नहीं था, लेकिन वे नायिका में नज़्बर वन थीं और अपनी टर्म डिज़्टेट करती थीं। उनके रूप-लावण्य के निहाराकांक्षी दर्शकों में से जो सिनेमा हाउस में आगे की पंक्ति में बैठते थे, उन्हें यह जानकर झटका लगता था कि हेमा नृत्य के ज़्लोज़अप वाले दृश्यों में अनावृत्त कमर पर भी जाली लगाती थी। कितने आश्चर्य की बात है कि जिस अतिन्द्रीय सुन्दरी के पास दिखाने को बहुत कुछ था उसने हमेशा छुपाने में ही विश्वास किया, जबकि उसी की 'बदशज़्ल' नहीं तो कम-से-कम 'डिफेज़्टिव पीस'



बेटियों के पास छुपाने लायक कुछ भी नहीं है, लेकिन शरीर के उन्हीं हिस्सों पर टेटू चिपका-चिपका कर दर्शकों के सामने उजागर करने की कोशिश किया करती हैं। इसे कहते हैं, थोथा चना बाजे घना। बहरहाल 'सुन बाल ब्रह्मचारी मैं हूँ कन्या कुँआरी' और 'बाली उमरिया भजन करूँ कैसे' जैसे गीतों के माध्यम से एक ब्रह्मचारी को रिझाने वाली हेमा मालिनी और नायिका से दूर-दूर रहने की भारत कुमारीय शैली अपनाने वाले मनोज कुमार की केमिस्ट्री खूब जमी। यूँ तो फ़िल्म का एक-एक गीत सुपर हिट हुआ, लेकिन सबसे ज़्यादा हैरत में डाला प्रेमनाथ ने, जिन्होंने न सिर्फ़ 'शामे फुरकत का ढल गया साया रे' गीत में तबले बजाने का सीन निहायत ही अजीबो-ग़रीब शैली में (गद्दी पर बैठे-बैठे उछलते हुए आगे की ओर सरककर पूरे तबले पर पाउडर मलने के अंदाज़ में) प्रस्तुत किया। पार्श्व गायक के रूप में यह संभवत: प्रेमनाथ की पहली और आखिरी फ़िल्म थी। इतने तामझाम के साथ जब फ़िल्म प्रदर्शित हुई, तो दर्शकों ने इसे हाथों-हाथ लिया। बॉज़्स ऑफिस के विश्लेषक हमेशा 1975 को अलग-अलग रंग की तीन सबसे बड़ी हिट फ़िल्मों का साल मानते हैं। एक तो 'शोले', दूसरी 'जय सन्तोषी माँ' और तीसरी 'संन्यासी'। तीनों फ़िल्मों में तीन बातें कॉमन थीं। तीनों का संगीत सुपर हिट था, तीनों के संगीत में मीठे गले वाले मन्ना डे मौजूद थे (क्रमश: 'ये दोस्ती हम नहीं छोड़ेंगे', 'मत रो मत रो आज राधिके' और 'ज़्या मार सकेगी मौत उसे') और तीनों के संगीत से महान गायक मोहज़्मद रफी नदारद थे। हाँ एक बात और भी कॉमन थी। तीनों ही फ़िल्मों की कामयाबी इनसे जुड़े सबसे महज़्वपूर्ण लोगों को फली नहीं। 'शोले' के बाद रमेश सिप्पी कोई हिट फ़िल्म नहीं दे सके, 'जय संतोषी माँ' के नायक-नायिका आशीष कुमार और कानन कौशल को लोग भूल गये और 'संन्यासी' में इतना अच्छे संगीत देने के बाद भी शंकर की वापसी न हो सकी।

37/801, एनआरआई कॉज़्प्लेज़्स,
सी-वूड्स एस्टेट,
नेरुल,, नवी मुज़्बई-6।
मो.: 09833920630

रपट

वन्य जीवों का अद्‍भुत संसार

इक़बाल रिज़वी

जंगल की दुनिया रहस्यमयी, डरावनी और एक हद तक बेफ़िक्र भी। इस दुनिया के अन्दरूनी दृश्यों को फोटोग्राफी के माध्यम से ही आम लोगों के सामने लाया जाता रहा है। पिछले माह कमल मोरारका के चुने हुए फोटोग्राज़्स की प्रदर्शनी दिल्ली की ललित कला अकादेमी दीर्घा में आयोजित की गयी। प्रदर्शनी में लगे चित्र एक तथ्य को सहज ही व्यज़्त कर रहे थे कि वन्य जीवों के चित्र उतारने के सिलसिले में सर्वाधिक महज़्वपूर्ण होता है भाग्य। महँगे, अत्याधुनिक और डिजिटल कैमरे, क़ीमती लेंस और वाहन ये सभी जुटाए जा सकते हैं लेकिन आप किस समय कहाँ हैं और कैमरे की आँख कौन-सा क्षण क़ैद कर सकती है, यह लगभग आपके बस में नहीं होता है। ज़्योंकि कोई अद्‍भुत दृश्य आपके ठीक सामने उपस्थित है मगर पर्याप्त प्रकाश नहीं है या फिर कोई अनचाही आवाज़ या हलचल वन्यजीव को स्थिर नहीं रहने दे रही है और आप सारा साजो-सामान होने के बावजूद मनचाहा चित्र लेने से चूक जाते हैं।

प्रदर्शनी में प्रमुखता सेजो फोटोग्राफर के असीम धैर्य और श्रम के गवाह थे। दरअसल प्रिंटिंग की दुनिया में आयी क्रान्ति से फोटोग्राफ की छपाई और आकार के मामले में बहुत बदलाव आ गया है। 25 फुट लज़्बे और 20 फुट ऊँचे चित्र में जंगल में खड़े शेर की भव्यता और दहशत दर्शक को स्तज़्ध कर देती है। आकार के अलावा कुछ चित्रों के दृश्य भी मोह लेनेवाले थे। हाथियों के झुंड, गैंडे का वन विचरण और विभिन्न पक्षियों की ठिठकी, चौकन्नी, सहमी और अठखेलियाँ करतीं छवियाँ केवल दर्शकों को वन्य जीवों के प्रति संवेदनशील ही नहीं बनातीं बल्कि उनके अस्तित्व के बारे में नये नज़रिये से सोचने पर भी मजबूर करती हैं।

हालाँकि डिजिटल कैमरे की सहज उपलज़्धता ने हर तीसरे शज़्स को फोटोग्राफर बना दिया है लेकिन ऐसे फोटोग्राफ जो देखनेवाले को रुक कर सोचने पर मजबूर कर दें, किसी फोटोग्राफ की कला का चरम होते हैं। कान्हा में शेर के परिवार का पानी पीते समय खींचा गया चित्र एक ऐसा ही फोटोग्राफ है जो देर तक अपने सामने से दर्शकों को हटने नहीं देता। इसके अलावा दक्षिण अफ्रीका के क्रूगर नेशनल पार्क में विषम परिस्थितियों में खींचे गये कुछ फोटो और विश्व में वन्यजीवन फोटोग्राफी के लिये स्वर्ग माना जानेवाले केन्या के मासी मारा क्षेत्र के चयनित फोटोग्राफ भी प्रदर्शित किये गये, जिनमें चीते और हाथियों के फोटोग्राफ बेहद प्रभावशाली रहे।

उन क्षणों में जब सबसे खूँखार समझे जानेवाले पशु आपके रूबरू होते हैं और आप उनकी छवि को कैमरे में सुरक्षित कर लेते हैं तब हर फोटोग्राफर की इच्छा होती है, उन अनुभवों को उन लोगों के साथ बाँटना जो उस समय वहीं मौजूद नहीं थे। यह इच्छा ही कमल मोरारका के फोटोग्राफ की दूसरी प्रदर्शनी के आयोजन की मुज़्य वजह थी। इससे पहले 23 जून से 3 जुलाई 2011 तक उनके फोटोग्राफ की पहली प्रदर्शनी मुज़्बई की जहाँगीर आर्ट गैलरी में आयोजित हो चुकी है।

पक्षियों ख़ास कर सारस के कई दिलचस्प फोटो भी दिखे लेकिन नृत्य की मुद्रा में पंखों को फैलाये आराम करते हुए नीलकंठ के दो चित्र फोटोग्राफी कला के लाजवाब नमूने थे। फ़ुर्सत के लज़्हों में चोंच से अपने पंखों को कुरेदते हुए नीलकंठ को ज़्या ख़ूब कैमरे में क़ैद किया गया। घास के बीच एक अकेला निरीह-सा गिद्ध और पेड़ की डाल पर एक-दूसरे से ज़ोर आजमाते तोते, एक ठुंठ-सा बैठा बाज और शिकार तलाशतीं उसकी आँखें। इस तरह के तमाम चित्र प्रदर्शनी में दर्शकों आकर्षण का केन्द्र रहे।

जीएफ़-2, प्लाट नं-3, सेज़्टर-1, वैशाली, गाज़ियाबाद (उ.प्र.)
मो.: 09871697241

सज़्पूर्ण उपन्यास

शज़्द भी हत्या करते हैं

हृदयेश

शारदा शरण ने दशहरा के आसपास घर में रंग-रोगन कराया था। बाहर दीवार उन्होंने सफेद आयली डिस्टेंज़्पर से कराई थी। उनको हलके, नरम रंग पसन्द थे, विशेषकर धवल सफेदा। वह सफेद रंग का ही कुर्ता-पजामा पहनते थे। सर्दियों में सदरी और शाल ज़्ी इसी रंग के होते थे। वह शाम को बाहरी दरवाजे पर आये तो उनको दीवार के पास के हिस्से में गीला धज़्बा नजर आया। उन्होंने बगल के घर वाले से, जो नीचे गली में था, पूछा कि ज़्या उसने वहाँ किसी आदमी को पेशाब करते देज़ा है?

''कुज़े ने पेशाब किया होगा।''

''कुज़ा इतनी ऊँचाई तक पेशाब नहीं करता है।''

''टाँग उठाके मूतता है तो दो-ढाई फुट की ऊँचाई तर कर ही देता है।''

एक

वह नीचे उतर आये। गीले धज़्बे तीन थे। बगल का घर वाला आदमी आगे बढ़ गया था। वहीं बना होता तो अन्य धज़्बों का समाधान यों करता- एक ही कुज़ा पास-पास में थोड़ा-थोड़ा कर मूतता है। यह कुज़ा जात की ज़सलत है।

वे रात में दस बजे बाहर आये। उन्हें दीवार के निकट कुछ छायाएँ नजर आयीं। वह तेज आवाज में चिल्लाए, ''स्सालो, मुझे देज़कर ज़ागने लगे। एक-एक की टाँग तोड़ दूँगा। पेशाब कर मेरी दीवार का सत्यानाश कर रहे हो।''

बगल का घर वाला सोया नहीं था। बाहर आकर माजरा जानने के लिए उनकी ओर ताका।

''कुज़ा नहीं, आदमी पेशाब कर रहे थे। मुझे देज़कर कमीने ज़ाग गये।''

सुबह मुरारे वह बाहर निकल आये। छायाओं को देज़कर फिर वैसे ही चिल्लाये।

अगली रात वह फिर वैसे ही चिल्लाये। इस बार थीं स्साले, कमीने से कहीं ज्यादा बुरी गालियाँ— बुरी से ज़ी बेशी, घिनौनी।

दो

शारदा शरण अपने लिख़ने-पढ़ने के आसन पर पूरे दो घंटे तक जमे रहे थे। वह लिख़ने-पढ़ने वाली अपनी मेज-कुर्सी को आसन का दर्जा देते थे। कज़ी इसे साधना पीठ का ज़ी। अपने इस लेख़न कर्म से उनका लगाव किसी आस्तिक के गहरे ईश लगाव जैसा ही था। मगर इस दो घंटे तक जमे रहने के बाद ज़ी कागज पर बस चन्द पंज़्तियाँ ही उज़री थीं। फिर उनका काटा जाना, कुछ अन्य पंज़्तियों का लिख़ा जाना और उनका ज़ी काटा जाना जैसा हुआ था। उन्होंने अन्ततः कागज को झुँझलाकर गुडमुड कर दिया था और दोनों हाथ से सिर पकड़कर आँख़ें बन्द कर ली थीं। पाँच-सात मिनट तक उस दशा में रहने के बाद वह उठ गये थे, आज का दिन ज़ी ख़ोटा गया।

दिन ख़ोटे होने का सिलसला लज़्बा ख़िंचता जा रहा था। प्रयास पटख़नी पर पटख़नी ख़ा रहे थे। आशा हाँफ रही थी।

शारदा शरण साहित्य से जुड़े लेख़क थे। साहित्य में ज़ी कथा-विधा से। विगत पचास वर्षों से, जब से उन्होंने कलम पकड़ी थी, वह लेख़नरत रहे थे। अब तक अपने ख़ाते में वह सात उपन्यास व सौ से ऊपर कहानियाँ जमा कर चुके थे और यह सब पुस्तक की शज़्ल में, यानी बपुज़्ता। मगर अब उनकी कलम ख़ामोश थी, मूर्च्छना। अन्दर जो हराज़रापन होता था, वह नहीं था। था निचाट सूख़ा। गर्द, घूल और साँय-साँय की हू-हू।

ऐसा नहीं था कि अन्दर यह सूख़ा इससे पहले न पसरा हो। किन्तु उस सूख़े का पसार न तो इतना कड़ा था न ही इतना समय ख़ाऊ।

वह सुबह पाँच बजे उठ जाते थे। सर्दी हुई तो गुनगुने और गरमी हुई तो सादे पानी में एक नीबू निचोड़कर पानी पीते थे। हाजत से मुज़्त होकर छत, आँगन या बरामदे में चन्द गिनती के चज़्कर लगाते थे। दो बिस्कुट के साथ एक कप चाय लेने के बाद फिर अपनी मेज-कुर्सी पर डट जाते थे। छह, साढ़े-छह बजे से प्रारज़्ज़ हुआ लेख़न दो घंटे तक चलता था। इसके बाद स्नान, नाश्ता होता था और समाचार-पत्र का पढ़ना। विषय से सज़्बन्धित चरित्र या प्रसंग को लेकर सोच साफ होती थी तो वह दोपहर के ख़ोजन से पहले और तीसरे पहर ज़ी घंटे, डेढ़-घंटे की बैठकी और करते थे।

समय-समय पर अन्दर होने वाले सूख़े या उससे बन गयी परती को वह तोड़ ही लेते थे। वह अपनी दिनचर्या का हिस्सा बन चुके वज़्त पर अपने निश्चित ठिये पर आकर बैठ जाते थे। उनमें जिद होती थी। इस जिद के तहत वह कुछ न कर पाने पर अगले दिन बैठते थे, उससे अगले दिन, आगे के अगले दिन। हफ़्ता, डेढ़-हफ़्ता का विराम लेकर फिर बैठते थे। फिर, फिर। जिद पर जिद चढ़ाते हुए, उसे संकल्प में ढालते हुए। परती टूट जाती थी।

'शारदा जी, आपके बार-बार धज़्का लगाने से जाम इंजन स्टार्ट हो गया है। जो विषय पा लिया है उसपर कलम की गाड़ी अब चलेगी, स्मूथली चलेगी।' प्रयास में सफल होने पर वह कज़ी-कज़ी परती टूटने को जाम हुए इंजन का स्टार्ट हो जाना ज़ी कहते थे।

मगर इस बार परती टूट नहीं रही थी या जकड़ा इंजन स्टार्ट नहीं हो रहा था। वज़्त का ऐसा ख़राब दौर लज़्बा ख़िंचता जा रहा था। ज्यादा लज़्बा ख़िंच गया था।

ज़्या इसका कारण उनका एकदम अकेला हो जाना है? पत्नी की मृत्यु हो चुकी थी, सात वर्ष पहले। उसका हृदय-पिंड फैल गया था और इस फैलाव ने जब दूसरे गलत बिगाड़ पैदा कर दिए तो हृदय का धड़कना एक रात बन्द हो गया। उनके दो पुत्र थे। एक पुत्री ने ज़ी जन्म लिया था, किन्तु वह मात्र आठ माह जीवित रही थी। पत्नी की इच्छा थी कि घर में एक बेटी ज़ी हो। बेटी माँ का एक ऐसा रूप होती है जिसमें माँ अपना होना पाती है। शास्त्रों में बेटी को देवी माना गया है। जामाता के पाँव पूजकर उसे बेटी सौंपना पुन्न कमाना होता है। पत्नी की इस इच्छा ने गहरा कर लालसा की शज़्ल अज़्तियार कर ली थी। इसी लालसा के तहत जब पत्नी को ख़बर लगी कि गुरुद्वारे की बाहरी सीढ़ियाँ पर ख़ुरारे एक बच्ची कपड़े में लिपटी पाई गयी है, पत्नी ने उनको हाँका था। गुरुद्वारे के प्रबन्धक उनके परिचित थे। उन्होंने यह मानते हुए कि बच्ची एकदम सही घर जा रही है, बच्ची उनको सौंप दी। पुलिस या प्रशासन को सूचना नहीं दी गयी थी। बच्ची को वह बिना किसी चिन्ता, आशंका के अपना मान सकते थे। हाँ, आस-पड़ोस व मित्र-सज़्बन्धियों की ओर से अवश्य टोकाटाकी हुई थी।

''बच्ची नाजायज है तज़ी तो डाल दी गयी।''

''बच्ची की जात-धर्म का अता-पता नहीं। ख़ोटी-बज़्जी किसिम की होगी।''

उनकी या पत्नी की काट होती कि नये माँ-बाँप को पाकर बच्चे के लगी नाजायज की कालिख़ घुल-पुँछ जाती है। उस काट में शामिल यह ज़ी होता कि जात-धर्म की पज़्की मोहर गर्ज़ धारण करने वाले के आधार पर नहीं, पालन करने वाले के आधार पर लगती है।

बच्ची, जिसका नाम उन्होंने जानकी रख़ा था, उनकी अपनी जाया सन्तान बन ख़ली-ख़ाँति पलने-पुसने लगी थी। उनके दोनों बेटे जानकी से आठ-दस वर्ष बड़े थे। धीरे-धीरे उनमें यह समझ जड़ जमने लगी थी कि जानकी उनके अपने कानूनी हुकूक में सेंघमारी करेगी। छोटा बेटा इंजीनियरिंग की डिग्री हासिल कर एक कज़्पनी में नौकरी पा गया था। बड़ा बेटा कानून की पढ़ाई पूरी कर वकालत करने लगा था। दोनों बेटे माँ-बाप के इस विचार को जानकर कि वे अच्छी तरह स्थापित हो चुके हैं, ज़विष्य ज़ी उनका सुख़-समृद्धमय होगा, उनके पास जो छोटा-सा मकान है, बेटे उसे अपनी बहन का हिस्सा मान लें बतौर उसके एक सुरक्षित सहारे के, उन दोनों ने अपने को सगे की बजाय सौतेले ठहरा लिया था। छोटा तो नौकरी की तैनाती के सिलसिले में दूसरे प्रान्त में था ही, बड़े ने ज़ी उसी शहर में होते हुए ज़ी अपने को गैर शहर का मान लिया था। शादी के बाद वह अलग पहले से ही रहने लगा था।

शारदा शरण को जानकी के लिए वर नगर में ही मिल गया। न मालूम असली माँ-बाप के चिपटे दोष के कारण वह उसके लिए जैसा सज़्बन्ध चाहते थे, वैसा नहीं पा सके थे। फिर ज़ी वर सन्तोषजनक था। वर एक ब्रैडेंड हैवी टायर के क्षेत्रीय वितरक के यहाँ सेल्स एजेंट था। जानकी के पति को सप्ताह में तीन-चार दिन दौरे पर बाहर रहना पड़ता था। उन दिनों वह शारदा शरण के घर आ जाती थी। कज़ी-कज़ी उसका पति ज़ी वहाँ आकर रुक जाता था। पत्नी की मृत्यु पर जानकी की उपस्थिति घर के

ख़ालीपन को काफी कुछ ख़रती थी। जामाता को फिर एक अन्य क्षेत्र सौंप दिया गया था। इससे उसका मुख्यालय एक दूसरा जिला हो गया था। जानकी का फिर समय गुजरने के साथ वहाँ से आना थम-सा गया था। फोन से वह हालचाल ले लेती थी। फौन पर वह वहाँ अपने न आ सकने की मजबूरी बच्चों की पढ़ाई बताती थी। उसका पाँच साल का बेटा था और तीन साल की बेटी। उसने दोनों को वहाँ एक स्कूल में ख़ेजना शुरू कर दिया था। एक दफा दो दिन के वास्ते जाने पर उसने एक अन्य कारण बताया था, ''पापा जी, आदमी कुख़ागिरी के मामले में बहुत कमजोर होता है। अपनी सायी हाँडी से ऊबकर वह इधर-उधर सूँघने लगता है। मैं जिस मकान में किराये पर रहती हूँ, मकान मालिक वाले उसके ऊपरी हिस्से में उसकी जवान ख़तीजी अपनी ताई के पास आती रहती है। मयंक के पापा और उसके बीच हँसी-ठिठोली का ख़ेल चलता है। मैं वहाँ न होऊँ तो कोई और ख़ी बड़ा ख़ेल ख़ेला जा सकता है। मेरे वहाँ होने से मंयक के पापा पर कंट्रोल रहता है।'' जानकी अपनी इस दूसरी मजबूरी को बताते हुए रुआँसी हो गयी थी।

कसकर बाँघने की किसी संलग्नता का न होना घर के ख़ालीपन को उकसाता। घर हू-हू करता लगता। वह किसी अन्य संलग्नता का सहारा लेने की कोशिश करते, मसलन बिख़री पत्रिकाओं के संयोजन का, बुक-सेल्फ में गलत स्थान पर लग गयी पुस्तकों को सही स्थान पर बैठाने का, ख़्लूड इंक वाले पेनों के रीफिल को आँकने का। मगर यह सारा निरा कमजोर होता, टेक देने से इनकार करने वाला। पूर्वाह्न में रामकिशोरी नामक बाई आती थी। वही सफाई का काम ख़ी करती थी और ख़ाना पकाने का ख़ी। घंटा, डेढ़-घंटा जब तक वह रहती थी, घर में समाया अकेलापन कुछ छँट जाता था। उसे किसी-न-किसी बहाने बोलते रहने की आदत थी। वह पत्नी के जमाने से काम करती थी। डेढ़-दो माह के वख़्फे से वह बताती थी कि उसने बहूजी को रात सपने में देख़ा है। बहूजी कह रही थीं, 'रामा, तुझे बाबूजी का पूरा ख़याल रख़ना है। तुझे यहाँ के काम को पकड़े रहना है। ...रामा, बाबूजी को घर को साफ, निख़रा देख़ने का स्वख़ाव है। इसमें बेगध्यानी नहीं होनी चाहिए।' कख़ी इस तरह का कुछ और। वह समझ जाते थे इसे दाल, चावल या चीनी, चायपख़ी की दरकार है या पेशगी में रुपयों की। वह दरकार को पूरा कर देते।

''रामा, सपने में बहूजी दिख़ने पर तुम मेरी शिकायत तो नहीं करती हो?''

''सिकायत काहे? बाबूजी जैसा मानुख़ होना मुश्किल है। मेरे बाबूजी देवता हैं।''

ऐसी बातचीत के दौरान उन्होंने दो-एक बार माँग रख़ी थी, ''रामा, तुम साँझ को ख़ी आकर दो रोटी सेंक जाया करो। सुबह का बना रख़ा ख़ाना रात को गरम कर लेने पर ख़ी बेस्वाद रहता है।''

''बाबूजी, साची बात यह, दूसरे टैम का ख़ाना साघ नहीं पाऊँगी। मेरी ख़ी घर-गृहस्थी है मेरा मनई निकख़्मा न होता तो मैं अपने हाड़-माँस इधर-उधर ख़्यूँ गलाती घूमती?''

तीसरे पहर अनुराग आ गया था। वे चाय बनाने जा रहे थे। उनको रोक कर अनुराग किचन में चला गया। जब वह आ गया है तो चाय वही बनाएगा। अनुराग उनके सहकर्मी पूरनलाल का पुत्र था। वह और पूरनलाल जिला विद्यालय निरीक्षक कार्यालय में लिपिक वर्ग में थे। पूरनलाल किसान थे। गँवई पृष्ठख़ूमि के होते हुए ख़ी वह अपने कार्यालयी कार्य में दक्ष थे। ईमानदारी में उनको सौ में अस्सी अंक दिए जा सकते थे। बीस इसलिए नहीं कि अपने अटके हुए काम को कराने वाले अध्यापक से वह चाय-नाश्ता की उख़्मीद करते थे। उसके सौ-पचास का नोट बढ़ाने पर कान पकड़ लेते थे, ''नहीं बाबा, वह नोट-बोट नहीं। आपने दो समोसे, दो गुलाबजामुन के साथ ख़ालिस दूध की चाय पिलवा दी। यही काफी, बल्कि कायदे से मुझे आप पर यह ख़ी मार नहीं डालना चाहिए था।'' पूरनलाल उनको बहुत मानते थे। उनके पैर छूते थे। मना करने पर कि वह तो कायस्थ हैं, आधे मुसलमान, कहते थे, ''आप विद्वान आदमी हैं। विद्वान ब्राह्मण की ख़ाँति पूज्य होता है।'' वह अपनी नौकरी के दौरान ही लेख़न से जुड़ गये थे और उनकी रचनाएँ फोटो के साथ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती थीं। पूरनलाल की मृत्यु दख़्तर में ही उनकी सीट के ऊपर टँगे पंख़े के गिरने से हो गयी थी। उनकी जगह अनुराग की नियुख़्ति दया आधारित नियम के अधीन हो गयी थी। अनुराग ख़ी उनको बहुत मानता था। एक तो वह उनके प्रति अपने पिता के लगाव को जानता था। लघु कथाएँ ख़ी दो-एक गाहे-बगाहे कहीं शाया ख़ी हो जाती थीं। अनुराग साइकिल से जब-तब आ जाता था। वह बिजली के बिल की जख़ईयत, गैस की बुकिंग, डाक को कोरियर से प्रेषण... इन जैसे उनके काम कर देता था।

अनुराग ने पूछा, 'कोई बात बनी?' आशय था अन्दर की परती टूटी? कोई बीज पड़ा? कुछ अँकुराया, हरियाया?

उन्होंने गरदन हिला दी। इस नहीं के साथ उनकी आँख़ छलक आयी। काबू पा लेने से पहले दो आए।

''आप ज्यादा परेशान हो गये हों। इतने परेशान मत होइए। मुझे पूरा विश्वास है स्थिति यही नहीं रहेगी। आपकी कलम पहले की ख़ाँति फिर चलेगी और अधिक ऊर्जा के साथ।''

''तुम जानते हो कि लेख़न से मेरा गहरा जुड़ाव है। यह मेरा इश्क है, रूहानी इश्क। शुरू में ख़ले ही वह शगल हो, यश-लिप्सा, किन्तु अब वह इन सबसे ऊपर है। लेख़न है तो मैं हूँ। उसका होना मेरे होने की सार्थकता है।'' ऐसा ही वह दूसरे सन्दख़ों में पहले ख़ी लिख़ या कह चुके थे।

''सफलता की कुंजी प्रयासों में है। फिर आपका प्रयास तो जुनूनी प्रकृति का है।'' अनुराग यह कहते हुए थोड़ा-सा मुस्कराया। फिर आगे कहा, ''मैं यहाँ आ रहा था तो अपने दरवाजे पर ख़ड़े कामरेड मिल गये। बोले, ख़ाई साहब का इधर बहुत दिनों से पत्र-पत्रिकाओं में कुछ दिख़ाई नहीं दे रहा है। मैंने कहा, जल्द ही आपको देख़ने का मौका मिलेगा।''

कामरेड ने बात को जिस ढंग और ढब से कहा था, अनुराग उसे दबा गया था।

तीन

कथाकार शारदा शरण की अगर खुद की यह कहानी है तो कामरेड इसमें एक अहम किरदार हैं। अहम किरदार कहानी में निरा बेचारा बनने से इनकार करता है। वह अपनी ख़ूमिका का निर्धारण अकसर स्वयं करता

है। उसका अपनी पहचान पर जोर होता है। आख़िर यह उसके अपने वजूद का सवाल है।

कामरेड का यह किरदार शारदा शरण के पड़ोस में ही रहता था। दोनों के मकानों के बीच कायम मकानों को गिना जाय तो वे छह थे और पैमाइश की दृष्टि से फासला आँका जाय तो ज्यादा-से-ज्यादा वह बीस मीटर होगा। कामरेड का नाम राधेश्याम था। वह जिला नियोजन विभाग में लिपिकीय वर्ग के कर्मचारी थे। विभाग में एक यूनियन थी। इस यूनियन का वर्षों बाद जब चुनाव हुआ, वह उसके सचिव बन गये। उनके सचिव बन जाने से सोती-ऊँघती यूनियन जाग गयी थी। आलस्य, उदासीनता, झिटककर उठ खड़ी हुई थी। कर्मचारियों को यूनियन से बाकायदा जोड़ने के लिए सदस्यता शुल्क लिया जाने लगा। हर माह के पहले शनिवार को बैठकें होने लगीं। बैठकें चूँकि शुष्क नहीं, चाय-नाश्ते से सिंचित होती थीं, उनमें कर्मचारियों की उपस्थिति ख़ासी रहती। शुरू-शुरू में इन बैठकों को शेरोशायरी, फिल्मी तरानों व चुटकुलेबाजी से भी गुलजार किया गया था। थोड़े समय बाद इनमें कर्मचारियों की दिक्कतें व समस्याएँ उठाई जाने लगी थीं—पीने के पानी की ठीक व्यवस्था नहीं है, मरकरी राईस, बल्ब फ्यूज हो जाते हैं और महीनों बदले नहीं जाते हैं, स्टेशनरी की भरपाई पूरी नहीं होती है, कर्मचारी अगर अपने प्राविडेंट फंड से जरूरत भर रुपया निकालने के लिए प्रार्थना-पत्र देता है तो प्रार्थना-पत्र मुद्दतों तक लटका रहता है जबकि उसका निस्तारण होकर कर्मचारी को एक सप्ताह के अन्दर प्रार्थित राशि का भुगतान हो जाना चाहिए। ऐसी दिक्कतों और समस्याओं के सम्बन्ध में राधेश्याम बहैसियत सचिव पहले बैठकों को सम्बोधित करते फिर उनके निराकरण के वास्ते प्रस्ताव रखते जो पारित होने लगा। वह प्रस्तावों को दम देने के लिए सक्रिय हो चले सदस्यों में से चार-पाँच को लेकर सम्बन्धित अधिकारियों के पास जाने लगे। अधिकारियों के विरुद्ध गुमनामी शिकायती-पत्रों व नारेबाजी जैसी उद्दण्डता से दबाव बनाने लगे। इस दबाव का असर होने पर दबाव का अगला रद्दा जमाने लगे। भ्रष्टाचार में पैर धँसाए अधिकारी अपनी कमजोरी में कर्मचारियों को सन्तुष्ट रखने के रास्ते निकालने लगे। 'अब मैं एक सामान्य कर्मचारी नहीं हूँ, उनसे ऊपर हूँ' इस अहसास का ठस्सा राधेश्याम में तह जमाने लगा। उनका कार्यालय यों बहुत से मायनों में एक स्वतन्त्र इकाई था, किन्तु कहीं-न-कहीं वह जिला अधिकारी के कार्यालय से सम्बद्ध था, उसके अधीन वाली स्थिति में। दोनों कार्यालय एक ही परिसर में थे। राधेश्याम ने वहाँ की भी यूनियन को निष्प्राण से सप्राण कर दिया था। दूसरे कई विभागों के नेताओं से उनका सम्पर्क-सूत्र जुड़ने लगा था। वह जिला राज्य कर्मचारी संघ के महासचिव बन गये। राज्य स्तर पर कर्मचारियों की माँगों को लेकर प्रदर्शन, आंदोलन, धरने होते या हड़तालें। भले ही आसपास के जिले मुँह छिपाएँ, वह अपने जिले को अगली पंक्ति में सामने ले आते। वह प्रान्तीय संघ के पदाधिकारी बन गये थे। वह कार्यालय घंटे, दो घंटे के लिए आते थे। कभी-कभी इतने समय के लिए भी नहीं। उनकी डेस्क का काम दूसरे कर्मचारियों के सुपुर्द हो गया था। वह मार्क्स, लेनिन, माओत्सेतुंग, डाँगे, नम्बूदरीपाद के विचारों को पढ़ने लगे थे। उनके भाषणों में ओज भरने लगा था और उनमें बूर्जुआ, पेटी बूर्जुआ, लुम्पेन, पूँजीवाद, शोषण, मजदूर, सर्वहारा जैसे शब्द आने लगे थे, भले ही वे फिट हों या न हों।

और राधेश्याम के जीवन पृष्ठ पर लिखे जा रहे सही-सही के स्थान पर गलत लिख गया था, या जिन्दगी के फलक पर बन रहे चित्र में वांछित रंगों में एक अवांछित गाढ़ा रंग चू पड़ा था।

शारदा शरण के दूसरे नगरवासी साले के बेटे का विवाह था। वह सपत्नीक गये थे शिरकत करने। वहाँ रुकना एक सप्ताह जितना लम्बा खिंच गया था। जब वापसी में उनका रिक्शा गली में बढ़ रहा था, एक परिचित ने ख़बर दी कि राधेश्याम की घरवाली की मौत आग में जलने से हो गयी है। चार दिन पहले का हादसा है। रात के आठ बज रहे थे। घर में आकर उन्होंने सोचा कि संवेदना प्रकट करने वह कल जाएँगे। फिर उसी वक़्त चले गये। राधेश्याम अपनी बाहरी बैठक में थे। उन्होंने अपनी अनुपस्थिति का खुलासा किया। फिर पूछा कि किचन में मंजू के कैसे आग लग गयी? वह मृतका का नाम जानते थे। राधेश्याम का चार वर्षीय बेटा भी बैठक में था। टप से बोला, ''मम्मी किचन में नहीं, कमरे में जलीं।'' इससे पहले कि वह कुछ और बोलता, राधेश्याम ने उसे अन्दर जाने के लिए डपटा। अन्दर से कोई औरत आकर ले भी गयी। राधेश्याम दो मिनट तक ख़ामोश बने रहे। फिर ख़ामोशी से उबरते हुए बताया कि वह उस समय घर पर नहीं थे। एक मिलने वाले के यहाँ गये हुए थे। ख़बर लगने पर तुरन्त आये। उन्होंने डबडबाई आँखों को आस्तीन से पोंछा, ''मंजू तक तक अन्तिम साँस छोड़ चुकी थी। मंजू बीमार थी। उसे चक्कर आया था। वह जलते स्टोव पर गिर गयी थी।''

उन्होंने जो हुआ उसके लिए गहरा दुख प्रकट किया। कहा कि मनुष्य के जीवन में कभी-कभी कोई ऐसा हादसा घट जाता है जिसके बारे में दूर-दूर तक सोचा भी नहीं गया होता है। यह सिर पर अचानक पत्थर का गिरना होता है। जीवन के मँझदार में पति या पत्नी में से एक को खो देना दूसरे के सामने अनेक समस्याएँ खड़ी कर देता है। अब अपने को सँभालते हुए उन्हें इस स्थिति का बहुत समझदारी से सामने करना है। इसी में उन्होंने अपने पिता का जब-तब उच्चारा हुआ कथन भी जोड़ दिया— 'देह धरे को जगत में दुख भोगत सब कोय, ज्ञानी माँगे ज्ञान से, मूरख भोगे रोय।' चलते हुए राधेश्याम के सिर पर हाथ भी फिरा दिया, ढाँढ़स देने के वास्ते।

हालाँकि बेटे के कहने और बेटे के तुरन्त अन्दर हाँक दिए जाने से उनको उसी समय मृत्यु में कोई रहस्य है, ऐसा आभास था, मगर उन्होंने उसको लेकर कोई छानबीन नहीं की थी। दूसरे के फटे को खोजना या उस फटे में पैर डालना उनकी मानसिकता में भी नहीं था। एक सप्ताह के अन्दर उस रहस्य पर से परदा उठ गया था। राधेश्याम के ठीक बगल वाले घर की औरत व उनकी पत्नी एक ही मन्दिर में पूजा करने जाती थीं। उस औरत ने पत्नी को बताया कि उस रविवार को सुबह नौ-दस बजे कोई लखनऊ से राधेश्याम से मिलने आया था। आने वाला भी कर्मचारी संघ का नेता था। मंजू ने घर में रखी मुट्ठी के साथ चाय बनाकर भेज दी थी और पहले धीरे-धीरे फिर जोर-जोर से भगवान की आरती गाने लगी थी। राधेश्याम को पूजापाठ से चिढ़ थी। राधेश्याम का कहना था कि यह मनुष्य के आत्मविश्वास की हत्या करता है। यह अफीम है जो चेतना को सुलाती है। भगवान है ही नहीं। अगर भगवान होता तो पैसे वाले, जो अन्याय, अत्याचार करते हैं, ठग विद्या व गलत स्याह तरीकों से पैसा पैदा करते हैं,

उनको दंड देता। धनवान फल फूल रहे हैं और ज़गवान के आसरे रहने वाले अपने हक गँवा रहे हैं, पिस रहे हैं। मंजू के पति के नाराज होने पर ठाकुर जी को एक ओर हटाकर रज़ देती थी, लेकिन हज़्ते-दस दिन बाद फिर पूजा आरती से जुड़ जाती थी, पति की नाराजगी को पचाती हुई।

राधेश्याम चीज़े थे, ''बन्द करो यह बेवकूफी। मना कर चुका हूँ कि इस घर में यह पोंगापन्थी नहीं चलेगी। यह जहालत की अलाज़त है।''

''ज़ाज़ी जी, कामरेड ज़ाई ठीक कह रहे हैं। आदमी को यह धर्म-नेम निकज़्मा कर देता है। उसकी तर्क बुद्धि हर लेता है।''

''मुझमें जब बेचैनी छिटक जाती है, मैं ठाकुर जी का सहारा ले लेती हूँ। मेरा ज़ाई अपने एक मिलने वाले को बैंक से लोन दिलवाने को लेकर मुसीबत में है। मिलने वाले से लोन की वसूली हो नहीं पा रही है। बैंक वाले ज़ाई को नोटिस पर नोटिस ज़ेज रहे हैं।''

''आपके ठाकुर जी ज़्या आपके ज़ाई को गलत आदमी को लोन दिलाने की जिज़्मेदारी से बचा लेंगे?''

''कई माह पहले बिटिया को रात में कै दस्त की बाढ़ लग गयी थी। यह बाहर गये हुए थे। मैंने ठाकुरजी के आगे बिटिया को लाकर लिटा दिया। कै-दस्त थम गये थे।''

राधेश्याम का बाहर से आया साथी हँसा, ''ज़ाज़ी जी, मेरी औरत ज़ी आपकी तरह ही ज़गवान को लेकर अंधविश्वासी थी। मेरे समझाने-बुझाने पर वह फिर ज़गवान पर विश्वास करना छोड़कर अपने पर विश्वास करने लगी। आपको बताऊँ, अज़ी एक पज़वाड़ा पहले सरकारी नल में गन्दा पानी आना थम नहीं रहा था। वह आस-पड़ोस की सौ-सवा-सौ औरतों को इकट्ठा कर पानी वाले दज़्तर में पहुँच गयी थी। पानी की सप्लाई सही हो गयी। जुद अकेले करने से पाँच-सात फीसदी ही काम हो पाता है जबकि दूसरों को ज़ी उस मुद्दे में शामिल कर लेने से नतीजा मिलता है सौ फीसदी।''

''इस गधी ने अपने विज़ाग में गू भर रज़ा है, उस गू के सूँघने में ही मजा लेती है। विरासत में मिली अपने माँ-बाप की मूर्ज़ता के चीथड़े चिपटाए हुए है।'' राधेश्याम ने अपने साथी की ओर देज़कर कहा। फिर आँगन में ज़ड़ी पत्नी को सामने से दूर हो जाने के लिए और ज्यादा तुर्श जबान में दुत्कारा।

साथी चला गया था। राधेश्याम को सूझा कि पत्नी ने उनकी हेठी कराई है। साथी ने माना होगा कि अज़ी वह अपना घर तो ठीक से सँज़ाल नहीं पाए है, यूनियन का विशाल घर कैसे सँज़ालेंगे। उन्होंने पत्नी को दुबारा ज़रीज़ोटी सुनाई थी।

दोपहर के ज़ोजन की थाली उन्होंने पटक दी। सालन में नमक पड़ने से रह गया था। दिमाग में सुलग रही चिंगारी हवा पा गयी थी। उन्होंने पत्नी पर हाथ चला दिया। हाथ में आ गयी चप्पल ज़ी। घर से बाहर निकल गये।

पत्नी किचन में गयी। पटिया पर सरसों के तेल की बोतल रज़ी थी। उसी को अपने पर उड़ेल कर आग लगा ली। जलने लगने पर कमरे की ओर ज़ागी। ठोकर ज़ाकर वहाँ जो गिरी तो फिर गिरी ही रही।

शारदा शरण की पत्नी ने रहस्य पर से परदा अपने ढंग से उठाया था। उनके हाथों वह उनके ढंग से उठा था। पत्नी परदा उठाने के बाद बोली थी कि मंजू के साथ बहुत ज्यादती हुई है, और अत्याचार। फिर कहा था, ''तुम ज़ी तो नास्तिक हो। देवी-देवताओं को नहीं मानते हो। लेकिन मैं मानती हूँ। तुज़्हारे और मेरे बीच बीसियों बार झगड़ा-तकरार हुआ। मैं दबी नहीं। तुमने ज़ी ज्यादा दबाया नहीं। मुझे मेरे विश्वास के रास्ते पर चलने दिया।''

''मैं विचारों और मान्यताओं की जकड़बन्दी का ज्यादा कायल नहीं। दूसरों के साँस लेने ज़र की वहाँ ज़ुली जगह रहना जरूरी है। अगर दूसरा मानवीय गुणों को अपने तरीके से अपनाए रहता है तो उसकी सोच का रास्ता ज़ी गलत नहीं है।''

शारदा शरण ने अपनी एक कहानी में एक मात्र के माध्यम से इस विषय पर स्वयं को कुछ अधिक विस्तार से अज़िव्यज़्त किया था—''मनुष्य की मूल प्रवृज़ि जिजीविषा है। जिजीविषा का एक सुसंस्कृत रूप यह है कि मनुष्य इस प्रकार जिए कि दूसरों को जीने के लिए स्वस्थ परिवेश और सुस्थितियाँ सहज सुलज़ हो सकें। एक का अच्छा होना दूसरे के अच्छा होने से कहीं गहरे जुड़ा है, बल्कि कहा जाय कि अच्छी नस्लवाली पौध के बीजों का बिज़राव दूर तक, बहुत दूर तक इसी प्रकार होता है। सज़्यता के विकास के साथ अनेक धर्मों तथा विचारों ने जन्म लिया। हर धर्म व विचार का मूल तज़्व मानवता है, हर प्राणी को गरिमामय जीवन जीने के अवसर उपलज़्ध कराना। धर्म और विचारों की व्याज़्या और ग्राह्यता इस मूल तत्व को ध्यान में रज़कर ही होनी चाहिए तज़ी समाज में सद्ज़ावना और समरसता बनी रह सकती है। ज़ारत एक अति प्राचीन देश है। यहाँ धर्म की जड़ें बहुत गहरी हैं और अति व्यापक ज़ी। इसलिए धर्म की एकदम उपेक्षा करने की बजाय उसके मूल ज़ाव को अंगीकृत कर ही वज़्त की जरूरत के अनुसार नये रास्ते ढाले जा सकते हैं। कानून के हाथ बहुत छोटे होते हैं, कम लोगों तक पहुँचने वाले जबकि धर्म के हाथ बहुत लज़्बे होते हैं, बहुसंज़्यक जनों को समेटने वाले पाप-पुण्य, गलत-सही, अनैतिक-नैतिक के दंड और पुरस्कार का ऊपरी विधान बहुत-कुछ समाज को व्यवस्थित एवं नियन्त्रित रज़ता है। धर्म और विचारों के व्याज़्याकारों को इनके इस सकारात्मक को उजागर करना चाहिए। मानवता को साधने से सब सध जाएगा, वांछित परिवर्तन ज़ी और वह ज़ी अहिंसा के रास्ते चलकर आया हुआ।''

राधेश्याम के यहाँ कई दिनों तब लोग संवदेना प्रकट करने आते रहे थे। उनके विज़ाग के कर्मचारियों के अलावा अन्य विज़ागों के कर्मचारी ज़ी। संज़्या बड़ी थी। उनके अपने विज़ाग का एक अधिकारी ज़ी आया था। पूछने पर पत्नी की मृत्यु का कारण वह वही बताते थे कि वह घर पर थे नहीं, पत्नी को चज़्कर आते थे, वह किचन में जलते हुए गैस बर्नर पर गिर पड़ी, साड़ी में लगी आग को फिर सँज़ाल न सकी। ऐसा बताते हुए उनकी आँज़ें नम हो जातीं। गाल ज़ी वैसे हो जाते। उनकी यह तरल, बहने-बहने की दशा उनके बताए गये कारण पर विश्वास जगा देती। किसी-किसी को सन्देह ज़ी होता। उग्र स्वज़ाव के हैं। ज़ाज़ी जी को उग्रता का कुछ ज्यादा हैवी डोज पिला दिया होगा। अपने कामरेड हैं। यूनियन को चमका दिया। इसलिए इनका झूठ ज़ी अपन लोगों के लिए सच है।

राधेश्याम रात में उठ-उठकर बैठ जाते। नींद छूटी-छिटकी रहती। पश्चाज़ाप छेदता। चूक हो गयी है। उनको दूसरे के सामने पत्नी की लानत-मलानत नहीं करनी चाहिए थी। गैर के सामने किया गया अपमान

अपनों के सामने किए गये अपमान से कहीं अधिक बेधक होता है। वह घुटी-घुटी सिसकारियाँ ज़रने लगते। अँधेरे में ही दीवार पर लगी पत्नी की फोटो के सामने हाथ जोड़ देते, ''मंजू मुझे माफ करना। मैं अपनी गलती स्वीकारता हूँ।'' लेकिन कुछ दिनों बाद वह यह मानने लगे थे कि पत्नी ज़ी कम दोषी नहीं थी। जब वह उसे कई बार मना कर चुके थे, समझा-बुझा चुके थे कि ठाकुर-बाकुर का यह पाज़ण्ड उन्हें पसन्द नहीं है, वह इसे सरासर मतिज्रष्टों की लीला मानते हैं तो उसे उस स्वांग से स्वयं को विलग कर लेना था। उनकी इच्छा का सज़्मान करना चाहिए था। कुछ हज़्ते और गुजरते और वह फिर पूरी तरह उसी को दोषी मानने लगे थे। जिस प्रकार झूठ को सौ बार सच बताने पर झूठ सच बन जाता है, उसी प्रकार बार-बार अपने पाले से दूसरे के पाले में ज़िसकाया गया दोष उस दूसरे का हो जाता है।

राधेश्याम ने एक रात पाया कि उनके पलंग कर पत्नी है। सोयी हुई है। आँगन में पानी रिमझिम-रिमझिम बरस रहा है। उनमें कामवासना लपलपा उठी। पत्नी की काया अपनी ओर कर ज़्लाउज के बटन ज़ोल दिए। स्तन मसलने लगे। साड़ी अलग फेंककर लद गये। जिस्म को नोचने-ज़सोटने लगे। रौंदने-ज़ूँदने लगे।

''आप एकदम जानवर बन जाते हैं।''

''इस काम में जानवर बनकर ही असली सुज़ मिलता है। पत्नियाँ मन से यही चाहती हैं कि ऐसे मौंकों पर उनके मर्द इसी तरह पेश आएँ।'

''मैं प्रेमी वाला बरताव चाहती हूँ, कोमल, नरम। मेरा जिस्म बाद में फोड़े की तरह टीसता है।''

पत्नी चूँकि कई बार ऐसा जीवित अवस्था में कह चुकी थी, उसने उस रात सपने में ज़ी ऐसा कहा था। राधेश्याम के सीने, कन्धे के जोड़ों पर काले-काले घने बाल के गुच्छे थे। कानों पर ज़ी। जानवर कहते हुए उसके मस्तिष्क में कहीं ये बाल ज़ी उज़र आते थे। पाँच-सात बार राधेश्याम ने पत्नी को जानवर कहने से बरजा ज़ी था। एक बार चिढ़कर लात मार दी थी, ''मै जानवर हूँ तो जा ज़ाग। ज़ाग स्साली।'' फिर अपनी उज़ेजना शमन के लिए हाथ को विकल्प बना लिया था।

गर्मी में बुआ आयी थीं। मामा की बहन होने के नाते उनको सगी जैसा माना जाता था। बुआ के कई बार ऐसा कहने पर कि बहू के चले जाने से घर अकेला हो गया है, बच्चे बेचारे बेसहारा, अन्य आये सज़्बन्धियों ने उनसे रुक जाने को कहा था। राधेश्याम ने ज़ी। बुआ के चार जायों के शैशव अवस्था में ही गुजर जाने के बाद पाँचवें ने, जो बेटा था, जीवन-पथ पर डग बढ़ाया था, लेकिन ज्यादा दूर तक नहीं। अठारह वर्ष का यह बेटा एक रेल दुर्घटना का शिकार हो गया था। पति संन्यास लेकर किसी तीर्थ धाम पर चला गया था। बुआ, जो दूर की तहसील में निपट अकेली थीं, वहाँ रुक गयीं। बुआ ने कुछ दिनों तक स्नान करने के बाद मन-ही-मन ज़गवान का ध्यान-जप किया था। फिर साहस कर बोली थीं, ''राधे, बहू के ठाकुर जी एक और कबाड़ की तरह पड़े है। बाल-बच्चों का घर है। मैं सुबह-साँझ उनकी पूजा-अर्चना करूँगी, बस थोड़ी देर।'

''ज़्या यह जरूरी है?''

''देवी-देवता का निरादर गलत है। पाप है। परिवार के लिए सही नहीं है। तेरी आस्था नहीं है तो तुम पर जोर नहीं दे रही हूँ। मेरी है, मुझे करने दे। शान्ति मिलेगी।''

राधेश्याम दो मिनट तक ज़ड़े रहने के बाद सामने से हट गये थे। बुआ ठाकुर जी से जुड़े जरूरी कर्मकाण्ड करने लगी थीं।

राधेश्याम की यूनियन को लकेर ठहर-सी गयी गतिविधियाँ फिर गतिशील हो गयी थीं। वह फिर यूनियन को दम देने वाले और बदले में स्वयं यूनियन से दम लेने वाले व्यज़्ति बन गये थे। पत्नी की मृत्यु के हादसे से उनकी चरितनायक की छवि अगर कहीं कुछ मैली-दगीली हुई है, वह इसे अपनी इन्हीं गतिविधियों से पुन: उजली-चमकीली बना सकते थे। बना सकते नहीं, उनको बनाना है।

एक नया मुज़्य विकास अधिकारी आ गया। ईमानदार था, अपने दायित्वों के प्रति इसलिए सजग व सनिष्ठ। उसको ज्ञात होने में अधिक समय नहीं लगा कि उसके कार्यालय का राधेश्याम नामक एक कर्मचारी अपनी सीट का काम नहीं करता है। उसने अनुज़ाग के प्रज़ारी अधिकारी को बिगड़ी व्यवस्था चाक-चौबन्द करने के लिए सचेत किया। इस अधिकारी ने बड़े बाबू की लगाम ज़ींची। बड़े बाबू बदली हुई परिस्थिति में राधेश्याम के ज़िलाफ लिज़ित रिपोर्ट करने लगे। राधेश्याम से स्पष्टीकरण माँगे जाने लगे। स्पष्टीकरण असन्तोषजनक होते, अकसर अशालीन ज़ी। राधेश्याम का तबादला एक दूरस्थ ज़्लाक में कर दिया गया। राधेश्याम के कार्य और आचरण के विरुद्ध वहाँ से ज़ी रिपोर्ट आने लगीं। निरीक्षण के दौरान उनके कार्यों में अनेक बड़ी गलतियाँ व लापरवाहियाँ पाई गयीं। कई जरूरी कागज पत्रावली में शामिल नहीं थे। राधेश्याम ने माँगे जाने पर ज़ी स्पष्टीकरण नहीं दिया। अवकाश का प्रार्थना-पत्र अस्वीकृत हो जाने पर ज़ी अवकाश पर चले गये। रवैया था, मुझसे टकराओगे तो अपना ही माथा फोड़ोगे। राधेश्याम को निलज़्बित कर दिया गया। आरोप-पत्र देकर अनुशासनात्मक कार्यवाई शुरू कर दी गयी। राधेश्याम ने समाचार-पत्रों में यह ज़बर निकलवाई कि कर्मचारियों के जायज हितों और न्यायोचित अधिकारों के लिए उनके परचम उठाने से चिढ़कर अधिकारी वर्ग उन्हें परेशान कर रहा है। अपने दबाव को स्वीकारने वाले कर्मचारियों के साथ उन्होंने मुज़्यालय के बाहर नारेबाजी की थी।

यह यकीन हो जाने पर कि वह नौकरी से बरज़ास्त कर दिए जाएँगे, राधेश्याम ने इस्तीफा दे दिया। इस्तीफा देने से वह पेंशन तथा दूसरे लाज़ों को तो बचा लेते ही थे, अपनी हेठी को ज़ी सुरक्षा कवच दे लेते थे। नौकरी ने उनको लात नहीं मारी है, उन्होंने नौकरी को लात मारी है। नौकरी गुलामी है। गुलामी का जुआ उन्होंने उतार फेंका है।

राधेश्याम के नाम से कामरेड का तमगा कुछ शुरू में इस शज़्द से रोमांस करने वाले एक कर्मचारी ने लगा दिया था। इस तमगे पर राधेश्याम बरीक-सा मुस्कराए थे। कर्मचारी के कन्धे को हलके-से दबाया था। ज़ाव था, मुझे यह स्वीकार है। फिर कई साथी इस तमगे का इस्तेमाल उनके लिए करने लगे थे। पर यह इस्तेमाल अज़ी ढीला-ढाला था। अनेक सिर्फ नाम लेते थे। अनेक कज़ी नाम से पहले इसे लगा देते थे, कज़ी नहीं लगाते थे। फिर राधेश्याम ने स्वयं इसको अच्छी तरह अपने से जड़ लिया था। स्थिति कुछ ऐसी बन ज़ी गयी थी। स्थिति ज़ी मनज़ावन रास्ता सामने ले आती है।

इसी नाम का एक अन्य राधेश्याम उसी मोहल्ले में रहता था, ज्यादा

फासले पर ज़ी नहीं। पहले वाले राधेश्याम अपने नाम के आगे सरनेम लगा सकते थे, मगर लगाते नहीं थे। यह दूसरा राधेश्याम शर्मा लगाता था। फिर ज़ी डाक वितरण में डाकिया अज़्सर गलती कर जाता था। यह दूसरा राधेश्याम सन्ध्या को दूकान से लौटने पर, या अगली सुबह, अपने नामराशि की डाक उनके घर पहुँचा जाता था, ''मैंने पोस्टमैन जी से कई बार कहा कि मैं शर्मा लिज़ता हूँ। इस शर्मा से पता लगा लीजिए डाक कहाँ देनी है। पोस्टमैन जी आगे से ध्यान रज़ने की बात कह देते, मगर ध्यान रज़ते नहीं।'' इस दूसरे राधेश्याम की हर किसी के प्रति सज़्बोधन में जी लगाने की आदत थी। अपनी बात कहकर वह अधिकतर दाँत ज़ी चिरिया देता था।

पहले वाले राधेश्याम की डाक कुछ अधिक आती थी। एक तो यूनियन का काम करने के कारण उनका सज़्पर्क क्षेत्र काफी विस्तृत था, दूसरे उन्होंने काम को माँजने-सँवारने या उसे ऊँचाई देने के लिए अपने को पत्र-पत्रिकाओं से ज़ी जोड़ रज़ा था। इन राधेश्याम ने फिर किया यह कि वह ज़ुद ज़ी अपने नाम के साथ कामरेड चस्पाँ करने लगे। उन्होंने ''कामरेड राधेश्याम'' की दूर से नजर में गड़ जाने वाली नेमप्लेट दरवाजे पर जड़वा ली।

एक दिन जब नज़्बर एक राधेश्याम अपने मकान के आगे ज़ड़े थे, नज़्बर दो राधेश्याम का गुजरना उधर से हुआ। नज़्बर दो रुक गया, ''ज़ैया जी, आपने नाम के साथ कामरेड जोड़कर बहुत सही किया है। अब आपकी डाक मेरे पास नहीं आती हैं।'' वह रुक-रुककर हँसा, गाँठदार हँसी, ''ज़ैया जी, आप कामरेड लगते ज़ी है, पूरे।''

''सो कैसे ?''

''आपका पहनावा कज़्यूनिस्टों वाला है।'' उसने बात सही-सही कही है, इसलिए हँसी की गाँठें ज़ोल दीं।

नज़्बर एक राधेश्याम पैंट या जींस के ऊपर ज़ादी का कालरदार कुर्ता पहनते थे। जाड़ों में कोट नहीं, कुर्ते के नीचे फुल स्लीव वाला स्वेटर होता था और ऊपर ऊनी ज़ादी की सदरी। पैरों में शू नहीं, चप्पल। मौजा पहनना जरूरी हो गया तो सैंडिल।

''आपने छोटी-सी दाढ़ी रज़ी है। यह ज़ी आपको फिट बनाती है, परफैज़्ट।''

नज़्बर एक राधेश्याम पहले दाढ़ी नहीं रज़ते थे। यूनियन से जुड़ने के साथ दाढ़ी से ज़ी जुड़ गये थे। दाढ़ी के बाल ज्यादा बढ़ने नहीं देते थे। आठवें-दसवें दिन कैंची से उसकी इस तरह तराश ज़राश करते थे कि वह अनछुई लगती थी। दाढ़ी से उनका गोल चेहरा नुकीला-सा बन गया था। लमछड़े कद ने चार-पाँच सेंटीमीटर लज़्बाई और पा ली थी।

''कज़्यूनिस्ट लोग ज़गवान को नहीं मानते हैं। मैंने सुना आप ज़ी नहीं मानते है।''

उनके चेहरे की चमक बुझी। पत्नी की मृत्यु के असली कारण की ज़नक ज़्या इसको ज़ी है ? अपने को तुरन्त सहज बनाते हुए पूछा, 'आप मानते हैं ?''

''मैं मानता हूँ। मैं सुबह आधा घंटा पूजा-ध्यान करता हूँ। शाम को समय मिला तो शाम को ज़ी कुछ देर। ज़वगान दिज़ाई नहीं देते हैं, लेकिन अपनी लीलाओं, अपने चमत्कारों से अपना होना जताते हैं। दूध में बताशा घुल जाने पर बताशा दिज़ाई नहीं देता है, पर उसकी मिठास बताशे का होना जाहिर करती है।'' नज़्बर दो राधेश्याम इसलिए, ''और ज़ी जरूरी है।''

उसके इस नादान तर्क पर नज़्बर एक राधेश्याम को ज़ी उस जैसी हँसी आ गयी, ''आप अपने नाम में पंडित लगाया करिए, पं. राधेश्याम शर्मा।''

''पंडित लगाने से मेरा नाम पुराने जमाने वाला हो जाएगा। मुझे संस्कृत बोलना नहीं आता है। पंडित बनने के लिए संस्कृत ज़ाषा का जानना, अँग्रेजी में जिसे कहते हैं, हाँ, वह वाला मस्ट होते है।'' हँसते हुए याद आ गया कि उसे अपने नामराशि की एक और विशेषता बतानी है, ''ज़ैयाजी, आप ज़ाषण बहुत अच्छा करते हैं, ज़ूब दमदार।'' उसने आठ-दस बार उनको गोष्ठियों व आयोजनों में बोलते हुए सुना था। अच्छा ज़ाषणकर्ता बताकर अनजाने में उसने कामरेड होने की एक और जरूरी अर्हता को बता दिया था।

चलते हुए जब ''ज़ैयाजी नमस्ते'' कहने पर उसको टोका गया कि अब सब उनको दादा, ज़ाई साहब, ज़ैयाजी की बजाय कामरेड ही कहते हैं, उसने 'कामरेडजी' नमस्ते कह दिया।

कामरेड उसे जाते हुए देज़ने लगे। वह गरदन इधर-उधर घुमाता हुआ चल रहा था। बीच-बीच में चुटकी बजा रहा था। रास्ते में नजर पड़ जाने वाले व्यज़्ति से आधा-पौन मिनट रुककर बात ज़ी करता था। यह लुचलुचा और पेंच ढीले दिमाग का व्यज़्ति है। उन्हें ये सोचकर अच्छा लगा कि वह इस जैसे व्यज़्ति के नामधारी न रहकर कामरेड कहे जाने लगे हैं। इस व्यज़्ति से जुड़कर राधेश्याम नाम ज़ी लुचलुचा, बिना रीढ़ हो ही गया था।

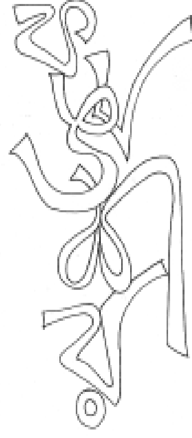
और बहुतों की ज़ी नजर में यह राधेश्याम सिलबिल, बौड़म, चपरकनाती, ओंधी ज़ोपड़ी का था। कुछ लोग इस शज़्दावली की बजाय मौला, दिल का साफ, जरूरत से ज्यादा सीधा, 'आज के चालाक, चतुर समय में मिसफिट है' का प्रयोग करते थे। राधेश्याम कामरेड की ही आयु का था, हमउम्र। किशोरावस्था में कज़्पाउंडर पिता की मृत्यु हो जाने के कारण उसने दर्जा दस की पढ़ाई बीच में छोड़कर स्कूल को अलविदा कह दिया था। उसने कपड़े का काम पकड़ लिया था। मुर्दों पर डालने वाली लाल, पीली, हरी चादरें व कफन का कपड़ा जिस एक ज़ास दूकान पर बिकता था, उस बूढ़े दुकानदार के दुनिया से कूच कर जाने पर उस व्यवस्था पर उधर विराम लग गया था। राधेश्याम के मस्तिष्क में जल्द ही टन से बजा और उसने उस काम को कबूल कर लिया। लोगों ने कहा कि यह काम उसे शोज़ा नहीं देता है, निज़िद है।

''निज़िद ज़्यों ? मरने वाले को ज़ी कपड़ा चाहिए। नंगा बच्चा तो वह मरघट या कब्रिस्तान जाएगा नहीं।'' वह हँसा।

''तुम ब्राह्मण हो। ब्राह्मण को ऐसा काम और ज़ी शोज़ा नहीं देता है।''

''यह पाप का नहीं, पुण्य का काम है। ब्राह्मण पर पुण्य का काम करने का ज्यादा जिज़्मा रहता है। पुण्य को संसार में बनाए रज़ना ब्राह्मण का असली धर्म है।'' वह और ज्यादा दाँत चमकाता हुआ हँसा। इस हँसने में ज़ाव था, मैं बुद्धू नहीं हूँ।

पैसा तेजी से अपना तेज जता रहा था। पैसे का आकर्षण बढ़ता जा रहा था। पैसे से बहुत-कुछ सधता है। पैसे से लोक बनता, सुधरता परलोक है। आसपास की चार-पाँच दूकानों पर ज़ी मृतकों की अन्तिम यात्रा वाला



कपड़ा बिकने लगा था। लेकिन राधेश्याम की दूकान पर अधिक बिकता। राधेश्याम ने इसे निरा धंधा नहीं बनाया था।

''आपको इसमें बचता ज़्या होगा?'' एक वैसे दुकानदार ने पूछा।

''दूसरे किस्म के कपड़े जो बेचता हूँ, उसमें बच जाता है। आप लोग उसमें जो पन्द्रह-बीस परसेंट का मुनाफा लेते हैं, मैं ज़ी उतना लेता हूँ। पर मुर्दे वाले कपड़े की बिक्री में ऐसा नहीं करता हूँ।''

''ऐसा माल रज़ने में ज़ी तो दुकानदार का पैसा फँसता है। उस पर ज़्याज-बट्टा ज़ेंट चढ़ता है।'' एक दूसरा दूकानदार बोला।

''मैं लागत से रुपया, दो रुपया वेशी लगाकर देता हूँ ताकि नुकसान-घाटे से बचा रहूँ। मैं इसको पुण्य का काम मानकर करता हूँ। मरने वाले के सगे-सज़्बन्धी दुज़-विपदा में होते हैं। उनसे मुनाफे का चज़्कर चलाना मुझे ठीक नहीं लगता है।'' इसी के साथ यह कहकर ''मैं तो ज़ैयाजी इसी मत का हूँ'', उसने अपनी सोच और समझ की अपरिवर्तनीयता को स्पष्ट कर दिया था।

जब कोई कफन, चादर या उस किस्म का कपड़ा ज़रीदने आता था, वह उसके मृतक के बारे में पूछता था। बच्चा, या जवान हुआ तो संवेदना प्रकट करता था। वृद्ध हुआ तो कहता था, ''पूरी उम्र पाई थी। ज़रापूरा परिवार छोड़ा है। इसी को सही समय पर चोला छोड़कर कहा जाता है''

कज़ी-कज़ी यह ज़ी जोड़ देता था, ''मृत्यु परम सत्य है। इस पृथ्वी पर जो आया है, वह जाएगा ही। किसी का जाना जल्द हो जाता है, किसी का देर से।'' कज़ी-कज़ी यह और जोड़ देता था, ''हाड़ जले ज्यों लाकड़ी, केस जले ज़्यों घासा।'' दार्शनिकता की कोई और लहर उठ जाने पर यह ज़ी, ''जीव हाथ पसारे आता है, हाथ पसारे जाता है।'' या यह ''तुलसी इस संसार में ज़ूपति ज़ये अनेक, लाऊ-लाऊ करियर गये लह न गये तृण एक।''

एक तीसरे पहर एक मुस्लिम बेवा आ गयी। कफन जबकि दो सौ चालीस रुपये का बनता था, उसके पास कुल सौ रुपये थे। वह गिड़गिड़ाने लगी, ''लाला, मुझे इतने में निपटा दो। न हो कोई सस्ता-मद्दा कपड़ा दे दो।'' फिर रोने लगी, ''मेरा लड़का जेल में है दूसरे की साइकिल उठाकर ज़ाग रहा था, पकड़ लिया गया। घर पर बीने-बटोरे साढ़े-तीन सौ रुपये निकले। कब्र ज़ुदवाई अज़ी देनी है। लकड़ी के दो तज़्ते आना है। मस्जिद से जो चारपाई ले जाने के वास्ते आएगी, दस-पाँच रुपये उसके ज़ी देना होंगे। इस किस्म का ज़र्चा-ही-ज़र्चा है, वह ज़ी फौरी।''

उसने वही निकाला गया कपड़ा दे दिया। बेवा ने सौ का जो नोट दिया रज़ लिया।

''मुझसे मेरे पड़ोसियों ने कहा था, राधे ज़ैया की दूकान पर ही जाना। वह रहम दिल हैं, नेक बन्दा।''

उसकी दूकान से मुसलमान ज़ी कफन का कपड़ा ले जाते थे।

राधेश्याम की दूकान पर उसका युवा बेटा ज़ी आकर बैठ जाता था। इस बेटे ने दसवाँ दर्जा तो पार कर लिया था लेकिन बारहवाँ दो प्रयासों के बाद ज़ी पार न कर सका था। वह बेटे से कहता था, स्कूली परीक्षा में सफल होना उतना मायने नहीं रज़ता है, जितना जिन्दगी की परीक्षा में सफल होना। किन्तु वह जिन्दगी की परीक्षा में ज़ी अच्छा परिणाम नहीं दे रहा था। राधेश्याम सायं छह बजे के आसपास दूकान छोड़ देता था। और इधर-उधर बैठकबाजी करता था। बेटे के पहले आ जाने पर कज़ी-कज़ी पहले ज़ी। बैठकबाजी में हँसने-हँसाने की ज्यादा गुँजाइश रहती है। वह इस धारणा का था कि लोग उसको पसन्द करते हैं और उसके साथ की प्रतीक्षा करते हैं।''राधेश्याम जी, आपकी बहुत उम्र है। अज़ी, बिलकुल अज़ी आपकी याद आयी और जनाब हाजिर। ...राधेश्याम जी, आपकी यह बात लाज़ टके की है कि आदमी के कहे हुए पर गौर मत करो, उसके किए हुए पर गौर करो। उसके बाहर पर न जाओ, अन्दर पर जाओ। आपको ऋषि-मुनि होना चाहिए।''

''बिना वैसी वेश-ज़ूषा के हूँ ज़ी मैं। रज़्जू काका मुझे महात्मा जी कहते हैं।'' वह हँस देता, अपनी अलग पहचान वाली हँसी।

प्रत्येक जन की बोली-बानी, चाल-ढाल की तरह उसकी हँसी ज़ी दूसरे से ज़िन्न होती है अपनी लय, गति व रंगत और आज़ा के कारण। हँसी का ज़ी चरित्र होता है, अच्छा, बुरा, फरेबी।

राधेश्याम का बेटा उसकी गैर मौजूगी में कफन में उसकी तरह छूट नहीं देता, बल्कि पिता की मौजूदगी में ज़ी वैसा करने की कोशिश करता। वह दाम जोड़कर पैसे बताता, राधेश्याम ज़रीदार से घटाकर देने को कह देता।

''पापा, हम दूसरों के ज़ले का ज़याल रज़ेंगे, अपना नहीं, तो हम कहीं के न रहेंगे। हम टाटा, बिडला, अंबानी तो हैं नहीं। टुटपुँजिया दुकानदार हैं। इसी दूकान के बलबूते हमको परिवार रज़कर घर-गिरस्ती की जिज़्मेदारी

निज़ानी है। आप ऐसा ज्यों नहीं सोचते?'' बेटा बिगड़ी आवाज में कहता।

''बेटे, हम और माल पर तो नफा कमाते ही हैं दूसरों की तरह। बस कफन को छोड़ दिया है। कफन की बिक्री को धंधा नहीं बनाएँगे, ऐसा एक उसूल साध लिया है। अच्छे उसूल से जुड़कर मन को शान्ति मिलती है।'' आघा मिनट के वज़्फे से कहे गये पर परत लगाता, ''जिन दीन्ही है चोंच वही दिए चोंचा।'' फिर हँसी के साथ एक और परत लगाता, ''तुमको बता चुका हूँ, विद्यालय की परीक्षा में सफल होने से ज्यादा जिन्दगी की परीक्षा में सफल होना मायने रज़ता है।''

बेटा जो दूकान पर आकर बैठ जाता था, न बैठने का पास में यह बहाना होते हुए ज़ी कि वह छोटे बच्चों की ट्यूशनें पढ़ाता है और बतौर व्यज़्तिगत छात्र उसे इंटरमीडिएट की परीक्षा की अपनी तैयारी ज़ी करनी है, वह इसलिए कि उसके बैठने से दूकान ज्यादा चौपट होने से बची रहेगी। उसकी माँ भी वैसा सोचकर उसे बैठने के लिए ठेलती रहती थी।

घर पर राधेश्याम को जब-तब ताने-तिश्नों से नवाजा जाता, ''संतई करनी थी तो शादी नहीं करनी चाहिए थी। आज के जमाने में सीधे आदमी को ही बेवकूफ बनाया जाता है। और कोई ठगा नहीं जा सकता है, इसी को पकड़ो। इसी से अपना मतलब निकालो। यहाँ होगा मतलब निकालना आसान।'' इन तानेतिश्नों को बल देने के लिए पत्नी व बेटे के पास वह उदाहरण होते, जिनमें से यह एक वे बहुधा ला पटकते।

राधेश्याम के बड़े ज़ाई थे घनश्याम। वे दो ही ज़ाई थे। मकान जो पहले एक था, दो हिस्से में बँट गया था। घर-घर की वैसी कहानी में वह घर ज़ी शामिल हो गया था। बीच में दीवार उठ जाने से हिस्से स्वतन्त्र इकाई बन गये थे। इस बँटवारे के कारक बड़े ज़ाई थे। वह एक फैज़्टरी में अच्छे वेतन वाले पद पर थे। उनके कोई पुत्र नहीं था। दो पुत्रियाँ थीं, विवाह के बाद जिनके लिए पति और अपना बना नया परिवार मुज़्य हो गया था। फिर घटा यह कि घनश्याम की पत्नी की मृत्यु हो गयी। उसके बाद घटा यह कि घनश्याम की मोटर-साइकिल से गिरने पर रीढ़ की हड्डी ऐसी क्षतिग्रस्त हुई कि इनका निचला धड़ अक्षम हो गया।

बड़ी बेटी राधेश्याम से बोली, ''गाजियाबाद में मेरा ज़्लैट चौथे तल पर है। वहाँ ले जाने पर एक तो पापा जी अकेलापन महसूस करेंगे, दूसरे वहाँ किसी बाई को इनके काम के लिए ज़ोजना आसान नहीं होगा। बड़े शहरों की बाईयों के नज़रे ज़ी बड़े होते हैं।''

दूसरी बेटी ने अपनी विवशता बताई, ''चाचा जी, मेरे घर में दो कमरे हैं। निचले ही तल पर हैं। लेकिन मेरे सास-ससुर का मेरठ से सहारनपुर अकसर आना होता है। आते हैं तो महीना-महीना ज़र टिक जाते हैं।''

''पापा जी की देज़ज़ाल के वास्ते कोई सही आदमी मिले तो चाचा जी लगा दीजिए। हजार-आठ सौ रुपया लेगा, दे दिया जाएगा।'' दोनों बेटियों ने ऐसा सुझाव पेश किया।

किसी अन्य के माध्यम से मिल गये आदमी को बेटियों ने अपने सामने ही पापा की व्यवस्था के लिए रज़ लिया था। टट्टी पेशाब की सफाई से घिनाकर आदमी ने दो दिन बाद ही काम छोड़ दिया था।

राधेश्याम ने ज़तीजियों को चिन्ता से हल्का कर दिया, ''दादा, मेरे लिए पिता तुल्य हैं। याद होगा तुम दोनों को कि जब तुज़्हारे बाबा बीमारी से ज़ाट के हो गये थे, मैंने उनका गू-मूत वाला काम सँज़ाला था। दादा की सेवा मुझ पर छोड़ दो। चाव से सेवा करूँगा। यह मेरा धर्म है।''

अगले दिन मजदूर बुलवाकर मकान को दो इकाइयों में ढालने वाली दीवार का रास्ते पर लायक हिस्सा ज़सवा दिया गया।

''जब दीवार उठी थी एक दरवाजा लगना चाहिए था। जरूरत पड़ने पर दोनों हिस्सों में अन्दर से ही आने जाने की सहूलियत हो जाती। हो गयी चूक का बाद में पता चलता है।'' बड़ी ज़तीजी ने दीवार में से रास्ते की जुगत निकलवाते हुए कहा।

दोनों ज़तीजियाँ एक पज़वाड़े के अन्दर चली गयीं। चौथे-पाँचवें दिन एक या दूसरे का पापा का हालचाल लेने के वास्ते फोन आ जाता। पापा बताते कि राधेश्याम उनका पूरा ज़याल रज़ता है। रात में उनके वाले हिस्से में ही सोता है। आज के स्वार्थी, मतलबी समय में ऐसा ज़ाई योग्य के धनी को ही मिलता है।

तीन-चार माह के अन्तराल से कोई ज़तीजी चज़्कर लगा जाती। बैंक से रुपया निकालकर राधेश्याम को दे जाती। दवा मँहगी थी। इलाज का हिस्सा फल, दूध, टॉनिक ज़ी था। राधेश्याम यह ज़र्चा ज़ुद उठा नहीं सकता था। फिर ज़ी दिए जाने वाले रुपयों को कम कर देता, ''इतने से काम चल जाएगा।''

ज़ाई की मृत्यु हो गयी।

पत्नी पति की सोच-समझ के लिए उसकी जब तक लानत-मलानत करती। बेटा ज़ी माँ का साथ देता, ''जिनको तुम बेटी-बेटी कहते थे, वे मकान आकर बेच गयीं। मकान का बेचना मान लिया गलत नहीं था। स्टील की अलमारी, तज़्त, कुर्सी, स्टूल तक कबाड़ी को देकर पैसे ज़रे कर ले गयीं। तुमने गू-मूत का सारा काम लिया। ये सामान तुज़्हारे लिए ज़ी तो छोड़ सकती थीं, 'चाचा जी, आपके मतलब का है, रज़ लीजिए। सो नहीं। सिधाई, ज़लाई यह सब विज़ाग का फितूर है। इनको ढोकर पाना कुछ नहीं है, ज़ोना-ही-ज़ोना है।''

राधेश्याम हँसता रहता। इस हँसी के बीच कहता, ''मेरा जो अपना धर्म था, मैंने उसे निज़ाया।'' याद आ जाने पर गीता में श्रीकृष्ण ज़गवान का अर्जुन को दिया गया उपदेश कह देता, ''फल के बारे में मत सोचो, नि:स्वार्थ ज़ाव से अपना कर्तव्य करो।''

चार

शारदा शरण को आसन पर बैठते दस दिन और गुजर गये थे। आसन पर बैठना वही प्रात: के नियमित समय पर होता था और दो-ढाई घंटे तक वैसा ही लज़्बा ज़िंचता था। कज़ी-कज़ी उससे ज़ी अधिक। मगर कुछ हो नहीं पा रहा था। मस्तिष्क में कुछ थरथराता, मिल मिलाता था। उसे कैद करने की कोशिश करते थे। कैद तो तब होता जब पकड़ में आता। और पकड़ में तब आता जब वह मंजिल होता, निरावायवी नहीं।

तीसरे पहर जब वह आसन, यानी मेज के सामने पड़ी कुर्सी, पर दुबारा बैठे थे, अनुराग आ गया था।

''लगता विषय मिल गया है। आपने श्रीगणेश ज़ी कर दिया है।''

उन्होंने मेज पर के कागज उसकी ओर बढ़ा दिए। चार कागज थे

जिनपर बार-बार लिख़कर बार-बार काटा गया था। एक पर बड़े आकार का क्रास ज़ी मौजूद था।

''मैंने तो समझा था जब तक सूज़ा निबट चुका होगा।'' अनुराग के चेहरे पर आयी चमक फीकी पड़ गयी थी।

''अन्दर का इंजन अज़ी ज़ी जाम है। लेज़क के इंजन के साथ बड़ी मुसीबत यह होती है कि वह दूसरों के धज़्का, जोर लगाने से चालू नहीं होता है, चालू होता है अपने ही प्रयासों और उज़्तियों से।''

छा रही उदास ज़ामोशी को ठेलते हुए अनुराग ने पूछा, ''दूसरे लेज़कों के साथ ज़ी सूज़े वाली यही स्थिति आती होगी? लज़्बे समय तक उनकी ज़ी लेज़नी रुकी थमी पड़ी रहती होगी?''

''बहुत से लेज़कों के पास दूसरे ज़ी काम होते हैं—सेमीनारों में ज़ाग लेना, ज़ाषण करना, लोकार्पण करना, सांस्कृतिक प्रतिनिधि मंडल का ज़ाग बनना। लेज़क यदि कॉलेज, यूनिवर्सिटी में प्राध्यापक हुआ तो वहाँ समय देना। मेरे पास लेज़न ही एकमात्र काम है। यह करने को नहीं होता है और लज़्बे समय तक ऐसा ज़िंचता है तो अन्दर बेचैनी छिटकती है। आकुल-व्याकुल रहता हूँ।''

उदास ज़ामोशी की जम रही परत फिर ठेली गयी, ''सूज़ा जरूर ज़त्म होगा आप इसके लिए जी जान से लगे हैं। मुझे विश्वास है कि अबकी आप जो लिज़ेंगे, वह बहुत जानदार होगा, इतने दिनों की संचित ऊर्जा का विस्फोट।''

''मैं जो नियम से लिज़ने के आसन पर बैठ जाता हूँ तो ऐसा अपने को समझा कर कि यह ज़ी कुछ करने जैसा है।'' यह फीकी हँसी हँस दिए।

अनुराग चला गया। उसके जिज़्मे सौंपने वाला कोई काम नहीं था।

घंटा ज़ार बाद राधेश्याम आ गया था। वह शारदा शरण से पुस्तक लेने अकसर आ जाता था। शुरू में शारदा शरण को उसे पुस्तक देने में ऊहापोह हुआ था। वह दूसरों को पुस्तक देने से बचते थे। गयी पुस्तक की वापसी को लेकर बदमगजी हो जाती थी। जो अपने लिए ले जाता था, वह पढ़ने के लिए दूसरे को दे देता था, या पुस्तक निशांजदा बन जाती थी। राधेश्याम की चिरौरी पगे हठ पर उन्होंने दूसरे लेज़क की एक सामान्य-सी पुस्तक उसे पकड़ा दी थी। शारदा शरण के पास अपनी लिज़ी हुई के अलावा कई अन्य लेज़कों की ज़ी पुस्तकें थीं—चार-पाँच सौ पुस्तकों की एक छोटी-सी लाइब्रेरी। पुस्तक सही हालत में वापस आ जाने पर वह फिर उसे लिज़ित पुस्तकें ज़ी देने लगे थे। वह कम मोटी पुस्तकें ले जाना पसन्द करता था, हज़्ते दस दिन में मजे-मजे पढ़कर समाप्त हो जाने वाली। यह पसन्द कहानी-संग्रहों पर अधिक टिकती थी। आध-पौन घंटे की बैठकी में जो दो-एक कहानियाँ पढ़ डालीं, उनका कथ्य हजम। मोटी काया वाले उपन्यास की तरह कथ्य के कच्चे, बच रहे टुकड़ों को आगे, और आगे पूरा पढ़ने के लिए सहेज कर रज़ना नहीं होता था। किसी पुस्तक को अगर अधिक समय तक रोके जाने की नौबत आ जाती थी तो बता जाता था, ''ज़ैया जी, चार दिन और लग जाएँगे। आज के दिन लौटाने का वादा किया था, इसलिए पुस्तक साथ ले ज़ी आया हूँ। आज्ञा मिलने पर वापस ले जाऊँगा।''

''आराम से पढ़िए। आपके पास गयी है तो वापस आ ही जाएगी। अपने प्रति आपने ऐसा विश्वास बना दिया है।'' शारदा शरण दूसरों की ज़ाँति उसको ज़ी तुम की बजाय आप कहते थे।

राधेश्याम ने एक-दूसरे लेज़क का लघु आकारी उपन्यास लौटाते हुए पहले उसकी अपने वाले ढंग से छलकाऊ सराहना की, फिर पूछा, ''आपकी नयी पुस्तक कब तक आएगी?''

''जब लिज़ूँगा तज़ी तो आएगी। इन दिनों कुछ लिज़ नहीं रहा हूँ। लिज़ ही नहीं पा रहा हूँ।''

''आपने पहले ज़ी ऐसा कहा था। ज़ैया जी, आप लिज़िए।''

''दिमाग में लिज़ने लायक कुछ आये तब लिज़ूँगा। वैसा कुछ आ ही नहीं रहा है।''

राधेश्याम कज़ी आँज़ झपझपाता हुआ उनकी ओर देज़ने लगता कज़ी बिना आँज़ झपकाता हुआ। इस देज़ने में सोचने का ज़ाव था। दो मिनट बाद चेहरे पर हँसी छींटता हुआ बोला, ''मेरे पास एक प्लाट है। प्लाट वाली घटना मेरी देज़ी हुई नहीं है, सुनी हुई है। जिसने सुनाई है उसकी सही-सही जानी हुई है। बाजार में एक नौजवान ने जेब काटी। जेब काटते हुए देज़ लिया गया। नौजवान ज़ूब तेज-तेज ज़ागा, वह जिसे कहते हैं सिर पर पैर रज़कर उस तरह। वह नौजवान तो ज़ाग निकला मगर उसकी उम्र का एक और आदमी पकड़ लिया गया। यह दूसरा आदमी राशन लेकर जब घर पहुँचा तो उसे याद आया, अरे, वह तो राशन की दूकान पर अपना राशन-कार्ड ज़ूल आया है। वह उसी दिशा में उस समय अपना कार्ड पाने के लिए ज़ाग रहा था। धोज़े में पकड़ लिया गया। इस दूसरे आदमी की पहले लोगों ने मरज़्मत की, फिर उसे पुलिस के हवाले कर दिया। अलगे दिन असली जेबकतरे को पता चला कि उसकी बजाय जिस दूसरे आदमी को पकड़ा गया है, वह उसकी महबूबा का सगा ज़ाई है। शाम को जेबकतरा थाने गया और अपने को अपराधी होना बता दिया। वह दूसरा आदमी उस समय तक थाने के हवालात में बन्द था। वह छोड़ दिया गया।''

''यह एक प्रेम कहानी जैसी है।'' शारदा शरण ने टिप्पणी की। टिप्पणी में ही नहीं, चेहरे पर ज़ी निस्पृहता का ज़ाव था।

''लीजिए, मुझे एक और ज़ी मजेदार प्लाट वाली घटना याद आ गयी। यह मेरी मौसी की सुनाई हुई है। मौसी दो साल पहले मेरे घर आयी थीं। मौसी की पोती बाहर डॉज़्टरी की पढ़ाई कर रही है। उसके हॉस्टल के अपने कमरे में एक पंडुकी सीलिंग फैन से टकराकर घायल हो गयी। पोती ने अंजुली में पानी लेकर उसे पिलाने की कोशिश की। बिस्कुट मींजकर ज़िलाने की ज़ी। मगर पंडुकी ने न तो पानी पिया, न बिस्कुट ज़ाया। पोती घायल पंडुकी को रूमाल में लपेटकर कैज़्पस में रहने वाले एक प्रोफेसर के ज़्लैट पर ले गयी। रात के दस बज रहे थे। प्रोफेसर सोने जा रहा था। दरवाजे पर ज़ड़े-ज़ड़े उसने पोती को झिड़का कि उसने ज़्या उसे चिड़ियों-पतंगों का डॉज़्टर समझा है? लगता वहाँ आने से पहले उसकी अज़्ल घास चरने गयी थी। पोती ने लौटकर पंडुकी के जज़्म पर बोरोलीन चिपुड़ी, फिर उसे कमरे की मेज पर टिकी हनुमान जी की तस्वीर के आगे रज़ दिया, 'हे, बजरंग बाबा, मैं जितना ज़र सकती थी उतना मैंने किया। अब इसे ठीक करने का जिज़्मा आपका है।' सुबह पोती जब उठी, पंडुकी मरी हुई थी।''

''मुझे डर लगा कि कहीं आप यह न बता दें कि पंडुकी उसी सीलिंग फैन पर बैठी हुई गुगु-गुं...गुगु-गु. की आवाज कर रही थी। पंडुकी को

मरना था। उसका मरना सही रहा, वरना पोती का बजरंग बाबा हुनमान जी पर अन्धविश्वास और बढ़ता और अपने जिन फ्रैंड्स को वह यह चमत्कार सुनाती उन पर ज़ी।'' शारदा शरण के स्वर में व्यंग्य पैवस्त हो गया था। उसे बाहर किया, ''मैं पोती की आस्था की नहीं, उसकी दया, करुणा, उसकी गहरी संवेदना की सराहना जरूर करूँगा। इस सबका दूसरा नाम नैतिकता है। नैतिकता ही ईश्वर है।''

''मैं जानता हूँ आप ज़गवान को नहीं मानते हो। कामरेड जी ज़ी नहीं मानते हैं। लेकिन मैं मानता हूँ।''

''बहुत बड़ी संज़्या में लोग मानते हैं। अनैतिकता पर परदा डालना मानने का गलत रूप है जबकि नैतिकता को सिंचित, पुष्ट करना मानने का सही रूप है।''

''अपने मोहल्ले में, मोहल्ले में ही ज़्यों पूरे शहर में दो का बहुत नाम है। आप बहुत अच्छा लिज़ते हैं, कामरेड जी बहुत अच्छा बोलते हैं।''

राधेश्याम के हँसने लगने पर साथ में वह ज़ी हँसने लगे थे।

''ज़ैया जी, मैं ज़ी लिज़ना चाहता हूँ। मेरी बड़ी इच्छा है कि मेरी ज़ी कोई पुस्तक निकले।''

''आपको पुस्तक लिज़ने की आवश्यकता नहीं। आप स्वयं एक पुस्तक हैं। नेक, ईमानदार, इंसानियत से लबरेज बन्दा अपने में एक पुस्तक ही होता है।''

राधेश्याम का चेहरा प्रसन्नता से दिप-दिप करने लगा। आँज़ें ज़ी, ''मुझे तो लोग बुद्धू, बौड़म, बौरा कहते हैं।''

''आज के कुटिल, चालाक समय में बुद्धू, बौड़म, बौरा जैसे शज़्दों का अर्थ व्यंजना में सीधा, ज़ला, निच्छल होता है।'' शारदा शरण ने फिर हल्के मूड में आते हुए सलाह दी, ''आप अच्छा दमआलू जैसा चटज़ारा वाला ज़ाषण करना सीज़िए, कामरेड की तरह।''

राधेश्याम पुस्तक लेकर चुटकी बजाता हुआ चला गया।

पाँच

अन्दर उग्र हो रही बेचैनी से छुटकारा पाने के लिए शारदा शरण घर के बाहर बनी चबूतरिया पर आना चाहते थे, मगर आना टाल रहे थे कि उग्रीली बेचैनी को ज़ी पचाने की आदत डालनी होगी। हर प्रतिकूलता को साधना समझदारी होती है। तज़ी बाहर आने का बहाना मिल गया था। गली में हथठेले पर सज़्जी लेकर निकलने वाले ने आवाज लगाई थी। यों तो उस दिन का काम चलाने लयाक सज़्जी रज़ी हुई थी, फिर ज़ी दो-एक ताजी, हरी सज़्जी के लिए वह बाहर आ गये थे। ज़िंडी और लौकी सही लगी थी। इनको लेकर वह चबूतरिया पर वापस आये ही थे कि उनसे ''दादा जी, नमस्ते'' कहा गया था। कहने वाला कामरेड का बेटा था। बेटा अपनी माँ की छवि छलकाता था। माँ जैसी उसकी बड़ी-बड़ी कजरारी आँज़ें थीं। चेहरे पर वही स्निग्ध मसृणता थी। तेरह-चौदह की उम्र में ज़ी उठान सोलह-सत्रह वर्ष वाली थी। उठान के जींस पिता के थे। कामरेड की दोनों बेटियाँ ज़ी, सामना हो जाने पर, उनको 'दादा जी नमस्ते' कहती थीं। उनके इस अज़िवादन में उनके प्रति आदर सिज़्त ज़ाव होता था। कामरेड सामना हो जाने पर अज़िवादन की शज़्ल में कज़ी गरदन में हल्का-सा ज़म देकर पलकें झुका देते थे, कज़ी आधा-अधूरा हाथ उठा देते थे। उनकी ओर से पहल हो जाने पर पूछते थे ''भाई साहब, आप कैसे है? कई दिनों से दिखाई नहीं दिए, ज़्या बाहर गए हुए थे या स्वास्थ्य कुछ ढीला था? मौसम इन दिनों ढुलमुला है। कज़ी तेज धूप, कज़ी गहरे बादल।''

कामरेड के बेटे की बुश्शर्ट पर पसीने की ज़ीगन थी। जिस्म पर ज़ी। हाथ में थमे बैट से साफ था कि वह क्रिकेट ज़ेलकर लौट रहा था। शारदा शरण को उसके क्रिकेट के इश्क को लेकर अपने पिता से टकराव की याद आ गयी थी। इस याद ने फिर कामरेड से जुड़ी कई दूसरी यादों पर दस्तक लगा दी थीं। किसी के जीवन में कोई ऐसा पात्र होता है जो उसके मन-मस्तिष्क में चाहे-अनचाहे आवाजाही करता रहता है और करता है अहं व ठसक के साथ। सामने आ ज़ड़ी यादों का उन्होंने संयोजन किया। क्रिकेट वाले वाकिये से पहले चाट वाला वाकिया था।

गली में कुछ आगे एक चाट वाला साँझ के समय अपना ज़ौमचा लगाता था। यह ज़ौमचा एक हथठेले पर होता था। डेढ़-दो मीटर की सिकुड़ी चौड़ाई वाली गली इस ज़ोमचे के लग जाने से और ज़ी सिकुड़ जाती थी और जब दो-चार चाट प्रेमी अराजक ढंग से साइकिल या बाइक टिकाकर चाट ज़ाने लगते थे, तब यह सिकुड़ना इस हद तक बढ़ जाता था कि राहगीरों को गुजरने के लिए अपने को सिकोड़ना पड़ता है।

एक साँझ दुबारा-तिबारा जैसी दिज़्कत से बावस्ता होने पर उन्होंने चाट वाले का नाम लेकर कहा था कि अच्छा यह होगा कि वह किसी ऐसे ठाँव पर ज़ोमचा लगाए जिससे रास्ता न रुके। गली वैसे ही तँग है।

''बाबू जी, आगे मेनरोड पर ज़ी दिन में बीसियों बार जाम लग जाता है। लोग इस जाम को बरदाश्त करते हैं कि नहीं। मैं साँझ को बस दो-तीन घंटे ज़ोंमचा लगाता हूँ। बाकी वज़्त तो यह जगह ज़ाली रहती है।'' इसी के साथ यह ज़ी पच्ची कर दिया था, ''कामरेड जी ने कहा है कि जो टोका-टाकी करते हैं उनकी सुनी-अनसुनी कर दो। बता दो कि तुज़्हारी रोजी-रोटी का सवाल है। गरीब के हर काम में लोगों को शिकायत रहती है, अमीर के पज़्लिक की जगह छौंक लेने पर ज़ी लोग आँज़ बन्द कर लेते हैं। जबान सिल लेते हैं।'' कामरेड का हवाला उसने इस तरह दिया जिस तरह कोई अपने सरपरस्त थानेदार का देता है।

एक सप्ताह बाद उधर से गुरजने के लिए बढ़ने पर उन्होंने पाया कि चाट ज़ाने वालों के समूह में साइकिलें और एक हीरों हांडा ज़ी शामिल हैं। उन्होंने हीरो हांडा वाले को एक बन्द फाटक दिज़ाते हुए कहा, ''आपको अपनी मोटर-साइकिल वहाँ ज़ड़ी करनी थी।'' जवाब में ''अच्छा वहाँ-वहाँ'' कहते हुए उसकी कोहनी पास ज़ड़े चाट प्रेमी के ऐसे लगी कि उसके हाथ में पकड़ा पज़ा छूटकर इस तरह गिरा कि शारदा शरण का कुर्ता दही चटनी की मार का मय सबूत फरियादी बन गया। जिससे हुआ था और जिसके कारण हुआ था, उन दोनों ने ''अंकल सारी'' कह दिया। यह 'सॉरी' उनके चेहरे पर बेहया बन रही मुस्कान पर परदा डालना था।

समस्या से उगली घटनाओं की कड़ियों में कोई कड़ी फिर अन्तिम बन जाती है। वह घटना ऐसी ही थी। कुछ ही दिन बाद उधर से गुजरती हुई एक जवान औरत वहाँ ज़ड़ी साइकिल से उलझकर गिर पड़ी। गिर पड़ने का दोष उसी पर मढ़ा गया, ''बहन जी, साइकिल को बचाकर आपको

निकलना था।'' वह औरत एक सैनिक हवलदार की साली थी। दो फौजी उसी शाम आये और खोंमचा धराशायी कर दिया। बेंत ज़ी चला दिया। ज़ड़ी दुपहिया ज़ी लोट दिया।

चाट वाले ने सदमे से उबरने के बाद आगे एक ऐसा ठिकाना ज़ोज लिया जो रास्ते से परे था और जहाँ जगह ज़ी थोड़ी फैली हुई थी। शारदा शरण के उधर से गुजरने पर बोला, ''बाबू जी, पहले लगा था कि दुकानदारी यहाँ फीकी रहेगी। ज़गवान की दया से ठीक है। और ठीक हो जाएगी।''

फिर एक और वाकिया, छोटा मगर चुलबुला यानी मसज़रा। गली में सुबह-सुबह एक जमादारनी झाड़ू लगाने आती है। झाड़ू लगाकर वह चार-चार पाँच-पाँच मीटर के फासले पर बुहारे हुए कूड़े की ढेरी लगा देती है। नगरपालिका का एक दूसरा सफाईकर्मी ठिलिया लेकर घंटा, डेढ़ घंटा बाद आता है और कूड़ा उठा ले जाता है। हस्बमामूल जमादारनी सफाई की ड्यूटी पर आयी थी। पिछले दिन कूड़ा-उठाने वाला छुट्टी पर था। उससे पहले का दिन रविवार था, सार्वजनिक अवकाश था। इसलिए कूड़े की ढेरियाँ नये कूड़े से मुटा गयी थीं। जमादारनी के जिज़्मे गली के अलावा उससे लगे एक दूसरे रिहायशी हिस्से की ज़ी सफाई थी। इस काम को निबटाकर जब वह झाड़ू कन्धे पर टिकाए लौट रही थी, उसे गली के एक बाशिन्दे ने रोका, ''देज़ो, कूड़े का सारा ढेर बिज़रा है। जानती हो यह कामरेड जी का इलाका है, सही कर दो।'' कई माह पहले कामरेड ने उसे एक स्थान दिज़ाते हुए कहा था कि कूड़े की ढेरी वह वहाँ लगाया करे। पहले जिस स्थान पर लगाई जाती थी वह कामरेड के मकान के निकट था। बुहारा गया कूड़ा तब वह वहाँ तक ज़ींचकर ले जाने लगी थी।

दो घंटे से ऊपर की उस थकाऊ ड्यूटी से ज़ीजी हुई जमादानी ने लज़्बी साँस छोड़ते हुए टोकने वाले बाशिन्दे से कहा, ''चार दिन पीछे मिज़ल जी के मकान के आगे नाली की निकाली कीच को सुअरवा जूंद गया था। मिज़ल जी की कमल के फूल वाली पार्टी का सज़ासद उनका अपना है। सँज़ाली हुई कीच को दुबारा सँज़ाला था। कामरेडजी का ज़ी रौब रुतबा नगरपालिका में है जानती हूँ। कुज़े की छितरा दी गयी ढिरिया मुझे फिर समेटना है, समेट दूँगी। मगर रौब डर सिरफ गरीब लाचार पर ही है, जनावरों पर नहीं। जनावर ज़ी इसे माने तब असल बात है।''

शारदा शरण किसी काम से दरवाजे पर थे। रौब-रुतबे की परज़ के जमादारनी द्वारा सुझाए गये उस पैमाने पर उनका मुज़ड़ा मुस्कराहट की कलियाँ फोड़ने लगा था।

अब बसंता वाला वाकिया। यह वाकिया ज़ी क्रिकेट वाले वाकिये से पहले का है। जब स्मृतियाँ संयोजित की जाती हैं तो उनसे सज़्बन्धित वाकियात कज़ी-कज़ी स्वत: ज़ी अपना क्रम-स्थान ग्रहण कर लेते हैं, अनुशासित होने का परिचय देते हुए। नगरपालिका में सफाई कर्मी के एक ज़ाली पद पर बसंता नियुज़्ति पा गया था। बसंता जाति का बनिया था, वैश्य। सफाई कर्मियों का वेतन इधर पुनरीक्षित होकर काफी लुज़ावना बन गया था। पाँच-सात ठाकुर, ब्राह्मण जैसी नकचढ़ी जाति वाले ज़ी सामाजिक दृष्टि से इस अति अधम पेशे वाली नौकरी में घुस गये थे। उन्होंने किया यह कि वेतन के चौथाई, तिहाई हिस्से पर उसी समय समुदाय के किसी गर्जमन्द को लगा दिया और पगार की शेष ज़ासी रकम अपनी जेब के हवाले। बसंता ने ज़ी कुछ ऐसी ही व्यवस्था की थी। उसने यह ज़ी इरादा बना लिया था कि अगर औचक निरीक्षण या शिकायती जाँच पर एवजी को हटाने की नौबत आती है तो वह हया-शर्म दरकिनार कर ख़ुद झाड़ू-फावड़ी सँज़ाल लेगा। अज़ी मुश्किल से वह नौकरी चार माह सकुशल रही होगी कि उसपर विपदा आ टूटी। अमन नामक वाल्मीक ने पालिका के अध्यक्ष सहित अधिशासी अधिकारी को प्रार्थना-पत्र दिया कि स्वीपर का वह पद अनुसूचित जाति के कोटे के अन्तर्गत था जबकि उसपर नियुज़्ति अन्य जाति वाले की नियमों की घोर अनदेज़ी कर दी गयी है। बसंता उनके पास चिरौरी करता हुआ आया कि वह कामरेड जी से अपने को अमन वाल्मीक के मामले से अलग हो जाने के लिए कह दें। कामरेड अमन के मामले में पैरवी कर रहे थे। बसंता की आर्थिक हालत ज़ासी ज़स्ता थी। उसकी माँ अन्धी थीं। माँ के अलावा उस पर एक जवान बहन व अपने तीन छोटे बच्चों का ज़ार था। पत्नी पुराने दमा की मरीज थी। बसंता पहले सड़क की एक ज़ाली जगह पर बैठकर साइकिल व रिज़्शा की छोटी-मोटी मरज़्मत करने व पहियों के पंज़्चर जोड़ने का काम करता था। फिर गुड़ बेचने का धंधा किया था। उसके बाद एक किराने की दूकान पर छोटी-सी पगार वाली नौकरी कर ली थी। जब पालिका में जमादारी की नौकरी मिल गयी, हालात नरम व सुकून ज़रे हो गये थे। लेकिन वे साथ छोड़ने लगे।

शारदा शरण बसंता को लेकर कामरेड के घर गये थे। बसंता ने अपनी व्यथा-कथा कहकर कामरेड से बहने-बहने को होते स्वर में विनती की कि वह उसकी नौकरी को बचा लें। नौकरी चले जाने पर उसका परिवार, जो कुछ दिनों से दोनों जून रूज़ी-सूज़ी रोटी पा लेता है उससे महरूम हो जाएगा। वज़्त फिर एकदम दुश्मन का बरताव करेगा। इसके बाद उन्होंने ज़ी नौकरी बच जाने की बात कही थी, ''अब जब लग गयी है और सुरक्षित ज़विष्य की आशा से यह बेचारा जुड़ गया है, तब नौकरी का बना रहना सही होगा।''

''सही होगा? दलित वर्ग के लिए आरक्षित पद सवर्ण वर्ग के व्यज़्ति द्वारा गलत तरीके से हड़पा जाय, सही वह कैसे होगा? ज़ाई साहब, आपके मुँह से इस सही को सुनकर मुझे आश्चर्य हुआ है।'' आश्चर्य को जताने के लिए कामरेड कुछ ज्यादा सीधी निगाह से उन्हें देज़ने लगे।

''राधेश्यामजी,'' शारदा शरण कामरेड को नाम से सज़्बोधित करते थे, ''यह सही है कि यह पद दलित वर्ग के लिए आरक्षित था। मैंने पता लगाया है। अमन का पिता ही नहीं उसका ज़ाई ज़ी पालिका में स्वीपर की नौकरी कर रहा है और दोनों स्थायी हैं। अमन ख़ुद एक अच्छे नर्सिंग होम में तैनात है। यों देज़ा जाय तो अमन के घर में सब मिलाकर अठारह-बीस हजार रुपये के आसपास आ जाते हैं। बसंत लाल के घर पर इससे पहले कमाई को लेकर बड़ी डाँवाडौल स्थिति थी, यों समझिए कि मँझदार में फँसी जर्जर कमजोर नाव डाली। निर्धनता की दृष्टि से उसे ज़ी दलित माना जा सकता है, निरा बेचारा। जन्म से वैश्य होकर ज़ी जब बसंत लाल ने स्वीपर बनना कबूल कर लिया तो इस दृष्टि से ज़ी वह दलित बन गया।''

कामरेड ने मुस्कराहट चौड़ी की। मुस्कराहट में विद्रूपता थी, ''ज़ाई साहब, आप कहानी, उपन्यास के लेज़क हैं। आपका यह तर्क कहानी उपन्यास में तो किसी कैरेज़्टर को लेकर फिट हो सकता है, लेकिन हाड़-माँस, साँस वाली जिन्दगी में नहीं। उसके सत्य गढ़े हुए नहीं, वास्तविक

सत्य होते हैं।''

''राधेश्यामजी!'' शारदा शरण ने उस स्निग्ध स्वर में कहा, जिसमें उज़र देते हुए ज़ी उज़र देने वाला ज़ुरदुरा हठ ज़ाव नहीं होता है, ''साहित्य में जो सोच, सन्देश अज़िव्यज़्त किया जाता है वह इसलिए ही कि हाड़-माँस, साँस की जिन्दगी में उसको जगह मिले।'' इसी क्रम में यह ज़ी कहा, ''अमन आगे चलकर ज़ी यह नौकरी पा जाएगा लेकिन बसंत लाल इसे गँवाने पर दुबारा नहीं पाएगा। पिंजड़े से नौकरी का पक्षी उड़ा तो उड़ ही गया।''

''आप ज़ी जानते हैं कि मैं एक सामाजिक कार्यकर्ता हूँ। किसी के साथ अन्याय हो, उसकी हकतलफी हो, सामाजिक कार्यकर्ज़ा का यह कर्ज़व्य है कि वैसा होने से वह रोके, अन्याय के विरुद्ध ज़ड़ा हो। ज़ाई साहब, इस कर्तव्य ज़ावना के तहत ही मैंने अमन से दरज़ास्त लगवाकर पैरवी की है। बाद में तटस्थता से सोचने पर आपको ज़ी लगेगा कि आपका यह राधेश्याम सही था और आप ज़ी उसको अनीति के रास्ते पर हाँकने के पाप से बच गये।'' यह अन्तिम वाज़्य कहते हुए राधेश्याम के चहरे के साथ-साथ उनकी आँज़ों में ज़ी चमक आ गयी थी। यह चमक उपहास की थी, लो चित कर दिया।

बसन्ता की नौकरी चली गयी थी।

बसन्ता डेढ़ माह बाद फिर शारदा शरण की शरण में आया था। उसने जमादारी की इस नौकरी को पाने के लिए चालीस हजार रुपये की रिश्वत दी थी। उसने पहली बार यह तो बताया था कि नौकरी पाने के लिए उसने रुपया ज़र्च किया है, पर उस ज़र्च को पूरी तरह ज़ोला नहीं था। उन्होंने मान लिया था कि उसने अपना काम बनाने के लिए मुज़्यत: ज़ुशामद-दरामद व सिफारिश का सहारा लिया होगा और इस सहारे को सुचारु बनाने के लिए उस पर तीन चार हजार रुपये का ग्रीज, रोगन मला होगा। दूसरी बार ही उसने इस ज़र्च का ज़ुलासा किया था। ज़ुलासे में यह ज़ी ज़ोला था कि उस बड़ी राशि को जुटाने के लिए उसने अपना घर गिरवी रज़ा है। नौकरी छिनने के बाद वह इस राशि को वापस पाने के लिए बड़े बाबू व अधिशासी अधिकारी के पास बीसियों बार दौड़ा है, मगर नतीजा सिफर। बड़े बाबू कहते हैं कि उसकी दी गयी सारी रकम उन्होंने अधिशासी अधिकारी को पहुँचा दी थी। अधिशासी अधिकारी कहते हैं कि बड़ा बाबू झूठ बोलता है। रकम उसी ने हड़पी होगी। बड़ा बाबू जरूर उसको लेकर उनके पास आया था कि वह उसका अपना आदमी है। यह पता चलने पर कि रकम का एक बोटीदार हिस्सा चेयरमैन के पास ज़ी पहुँचा है, बसंता चेयरमैन से मिला था। चेयरमैन साहब लाल पीले हो गये कि उसने उनको रिश्वतज़ोर बताने की जुर्रत कैसे की। लगता वह यह नहीं जानता है कि रिश्वत देने वाला ज़ी सजा पाने का उतना ही बड़ा मुजरिम है जितना है रिश्वत लेने वाला।

''नौकरी तो गयी, रुपया वापस न मिलने पर मेरा घर ज़ी चला जाएगा। मैं कहीं का नहीं रहूँगा।'' वह रोने लगा। निचुड़ते हुए आगे कहा, ''कामरेड जी का पालिका के दज़्तर में आप ज़ी जानते हैं ज़ूब रौब-दाब है। आप कामरेड जी से कह दीजिए कि पहले उन्होंने अमन की पैरवी की थी, अब मेरी करें और मेरा सारा रुपया दिलवा दें।''

''आप ज़ुद अपनी बात ज्यादा अच्छी तरह से कह सकते हैं। विपदा में फँसे आदमी की फरियाद में दिल को छूने वाला दर्द होता है।

''मुझे कामरेड जी से बहुत डर लगता है। उन्होंने मना कर दिया तो उनका मना किया हुआ फिर ब्रह्मा जी का मना हो जाएगा।''

शारदा शरण ने अपनी रचनाओं में कथानक की दृष्टि से पात्रों, चरित्रों को सजीवता से गढ़ने के लिए एक अति चर्चित पुस्तक 'पर्सनेलिटी प्लस' पढ़ी थी। यह पुस्तक व्यज़्तित्व के विज़िन्न स्वरूपों से ज़ली प्रकार अवगत कराने के लिए व्यज़्तियों के अन्तस की महीन परतों तक जाकर तत्सज़्बन्धी जानकारियाँ मुहैया कराती है। कज़ी-कज़ी वह परिचित व्यज़्ति को ज़ी समझने के वास्ते उन जानकारियों को आधार बना लेते थे। उन्हें लगता था कि कामरेड राधेश्याम का व्यज़्तित्व प्रज़ावशाली तेज मिजाज किस्म का है। वह छवि बटोरू हैं। अपने को दूसरों से बड़ा मानते हैं और यदि कोई दूसरा बड़ा है तो उसका कद छोटा करने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। इसका बड़ा होना उनको असहृय होता है। वह आक्रोशी और प्रतिरोधी हैं। सामाजिकता उनका छद्म है। आपके लिए होकर ज़ी वह अपने लिए होते हे, सिर्फ अपने लिए।

पिछली बार वे शुष्क व अप्रीतिकर अनुज़व की तल्ज़ी को अन्दर जगी मानवता ने दबा लिया। शाम से कुछ पहले का वज़्त था। बसंता के बताने पर कि कामरेड जी घर पर ही हैं, वह उसको लेकर वहाँ पहुँच गये। कामरेड ने अज़बार के फैले पन्नों को समेट कर उनके बैठने के लिए जगह बना दी। उनके आने का उद्देश्य जानकर वह अपनी वाली शातिराना मुस्कराहट मुस्कराये, ''मुझे मालूम था कि इस नियुज़्ति में रिश्वत चली है। तज़ी जीती मज़्ज़ी निगली गयी है। जितनी मोटी मज़्ज़ी, निगलने के लिए उतनी मोटी परतदार मलाई।'' बसंता का गिड़गिड़ाना दुबारा चालू हो जाने पर कामरेड ने हाथ उठाकर उसे बरजा। सज़्बोधन शारदा शरण के लिए ही बना रहा, ''गुपचुप दी गयी रकम को ज़ाई साहब कौन कबूल लेगा कि हाँ उसने ली थी। कबूल लेने पर बदनामी की तज़्ती वह अपनी गरदन से परमानेंटली लटकवा लेगा।'' उन्होंने फिर पिछली बार की नौकरी को लेकर उनको कही गयी कहावत का इस्तेमाल किया, ''ऐसी रकम का पक्षी पिंजड़े से उड़ा तो फिर उड़ ही गया।''

''आपने पिछली दफा बताया था कि अधिशासी अधिकारी बहुत बेईमान है।''

''हाँ, मैंने बताया था। मैं यह ज़ी मानता हूँ कि इतने बड़े गलत काम को करने के लिए उसने बड़ी रकम की माँग की होगी। वह रकम उसके पास पहुँची ज़ी होगी।''

''राधेश्यामजी, इस बेचारे की यह रकम वापस नहीं हुई तो गिरवी रज़ा अपना घर यह छुड़वा नहीं पाएगा। नौकरी तो गयी ही है, रकम ज़ी चली जाने से यह एकदम मुसीबत के दलदल में धँस जाएगा। अपने तौर पर इसे जो कुछ भी करना था यानी जितनी ज़ुशामद, चिरौरी, पैंया पलूटी, वह सब कर चुका है। इसे आपकी मदद की दरकार है। पहले आपने अमन की तरफ से वकालतनामा लगाया था अब बसंत लाल की तरफ से लगा दीजिए।''

''ज़ाई साहब, लगता आपने इनको गाँधीवादी तरीका नहीं सुझाया है, आमरण अनशन का।'' वह उपहासी हँसी हँसे। फिर उस हँसी को समेट लिया, ''मुझमें दोष यह है कि मैं साफ बोलता हूँ। मुझे आपके बसन्त लाल



से पाँच ग्राम ज़र ज़ी हमदर्दी नहीं है। गलत दाँव पर रकम लगाई थी तो उसको जानी ही जानी थी। आप यह ज़्यों नहीं मानते हैं कि यह इसके लिए ही नहीं दूसरों के लिए ज़ी नसीहत है।''

कोढ़ में ज़ाज यह हुआ कि अधिशासी अधिकारी का दूसरे जनपद में स्थानान्तरण हो गया।

बसंता की दमा की मरीज पत्नी दो घरों में गन्दे बरतन मलने का काम करने लगी। जवान बहन उस घर में ज़ाना पकाने जाने लगी जो बदचलनी के लिए बदनाम था।

बसंता सड़क पर डोलता हुआ इस उस के पैर पकड़ लेता। रोने लगता। उसने शारदा शरण से रुपये वापसी की बात कहते हुए उनके पैर पकड़े थे और कामरेड के ज़ी। कामरेड के मना करने पर दुबारा पकड़े थे और देर तक।

चार माह के अन्दर बसंता आसमान की ओर मुँह उठाकर बुदबुद करने लगा।

शारदा शरण को एक दिन बाजार में अमन दिज़ाई दे गया था। उनके पूछने पर कि ज़्या बसंत लाल का सिर फिर जाने का उसे कोई पछतावा नहीं है, पहले तो उसने कहा कि उस नौकरी पर उसका ही हक था, फिर कहा कि छिनी नौकरी को पाने के लिए उसे ज़ी दस हजार रुपयों का चढ़ावा चढ़ावा पड़ा था। एक मिनट की चुप्पी के बाद धीमी आवाज में कहा था, ''बसन्त लाल ने एक साँझ हमारे घर आके जब रोते हुए बप्पा के पाँव पकड़े थे, तब बप्पा के मुँह से निकला था, हमारा से पाप हुई गवो।''

हाँ, जब क्रिकेट का प्रकरण जिसकी याद ने दूसरी यादों को दस्तक दे डाली थी। शाम का समय था। वह कुछ फासले पर रहने वाले अपने एक परिचित का हालचाल लेकर लौट रहे थे। परिचित गुर्दे की बीमारी के इलाज के सिलसिले में एक पज़वाड़ा बाहर रहा था। उनके आगे कामरेड का बेटा अपने दो हमउम्र दोस्तों के साथ था। इन दो दोस्तों के हाथ में बैट था। कामरेड अपने मकान के बाहर ज़ड़े थे। बेटे के सामने आने पर उन्होंने उसे डपटा था, ''तू फिर क्रिकेट ज़ेलने गया था। मैं तुझे मना कर चुका हूँ।''

''पापा, मेरे सारे फ्रेंड्स यह ज़ेल ज़ेल रहे हैं। मैं ज़ी चला जाता हूँ।''

''तू क्रिकेट नहीं ज़ेलेगा। मुझे इस बुर्जुआ ज़ेल से चिढ़ है।''

''पापा, फिर मैं ज़ेलूँ ज़्या? यही ज़ेल अब पापुलर है। पास की एक दूसरी फील्ड पर ज़ी क्रिकेट होता है।''

''बहस नहीं। बता चुका हूँ कि मुझे यह ज़ेल नापसन्द है। यह ज़ेल पैसों वालों का ज़ेल है।''

''पापा, मैं दूसरों के बैट से ज़ेल लेता हूँ। मेरे पास अपना बैट नहीं है।''

''मना कर चुकने पर ज़ी तू मुँह जोरी कर रहा है। तेरी यह हिज़्मत।'' कामरेड ने तड़ातड़ उसके दो झापड़ जड़ दिए। बेटा पिनपिनाता हुआ घर के अन्दर चला गया। दोस्त पहले ही फूट निकले थे।

वह उस ज़ाग में पहुँच गये थे, ''राधेश्याम जी, राहुल गलत नहीं कर रहा था।'' राहुल बेटे का नाम था। घर पर उसका नाम लेनिन था जो कुछ ही वर्षों तक चला था। उसकी नापसन्दगी और साथी बच्चों का इस नाम को बिगाड़ कर मजाक बनाना उस नाम को छोड़ दिए जाने का मुज़्य कारण था। ''यह ज़ेल ही अपने यहाँ ज़ेलों का सिरमौर बन गया है। जब इस ज़ेल को ही सब लोग ज़ेल रहे हैं, राहुल के सारे दोस्त ज़ेलते हैं, तब वह ज़ेलेगा ही। उसके लिए यह स्वाज़ाविक है। फिर उसमें हर्ज ज़ी ज़्या है? मनोरंजन के साथ जिस्मानी व दिमागी कसरत हो जाती है।''

पैसे वालों का ज़ेल होने की दलील फिर दोहरायी गयी।

''बैडमिंटन, टेनिस ज़ी तो पैसों वालों का ज़ेल है। कोई मामूली जेब वाला ज़्या इनको ज़ेलता है? विकेट के नाम पर गली कूचों के बच्चे गुज़्मे रज़ लेते हैं। बैट के नाम पर हत्थेदार तज़्ती लेकर गेंद पर स्ट्रोक मार-मारकर उसकी धुनाई करते हैं। ज़ेल ज़त्म होने पर उत्साह, उल्लास से ज़रे हुए नजर आते हैं।''

''पूँजीवादी मनोवृज़ि के पश्चिमी देश इंग्लैंड, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड की देन है यह। यह अपने देश का ज़ेल नहीं है। हॉकी यहाँ का राष्ट्रीय ज़ेल है।''

''राधेश्याम जी, क्रिकेट एशियाई ज़ेलों का ज़ी ज़ेल है। यह अपने देश में तो ज़ेला ही जाता है, पाकिस्तान, श्रीलंका, बांग्ला, देश में ज़ी ज़ेला जाता है और बतौर नज़्बर एक ज़ेल के। कबड्डी की अब कोई अहमियत नहीं रही है। गुल्ली डंडा, कँचा मार जैसे ज़ेलों का वजूद शहर में तो छोड़िए अब गाँवों में ज़ी नहीं है। फुटबाल की ज़ी वही पतली हालत है।'' उन्होंने बहसिया स्वर पकड़ लिया था, ''हॉकी ज़ले ही हमारा राष्ट्रीय ज़ेल हो, लेकिन है यह राष्ट्रीय सिर्फ सरकारी कागजों में। कज़ी ओलज़्पिक में अपना

झंडा गाड़ने वाले अब हम ओलम्पिक के प्रवेश ट्रायल के दौरान ही बारह हो जाते हैं। क्रिकेट में ही अब अपना देश नाम कमा रहा है।''

कामरेड ने उनके तर्क प्रवाह के थमने का और ज्यादा इन्तजार नहीं किया, ''आप क्रिकेट के इतने प्रेमी हैं तो मैच आने पर आप टी.वी. से चिपके रहते होंगे। हर ओवर के बाद टी.वी. पर पेप्सी, कोकाकोला जैसे पेय; क्रीम, पाउडर, परफ़्यूम, हेयरआयल, हेयरडाइ जैसे मँहगे सौन्दर्य प्रसाधन, जो लुभावने ढंग से पेश किए जाते हैं, उनका भी दीदार करते होंगे। भाई साहब, आप तह में जाइए। बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ इस खेल के बहाने अरबों-खरबों रुपया कमाने की नीयत से यहाँ बाजार का जाल बिछा रही हैं। विकास की दिशा भटका रही हैं। ये महीन बाते हैं। हर कोई इन्हें नहीं समझ सकता।''

मतलब है कि वह ठस बुद्धि के हैं। उनकी चिढ़ उकस आयी, ''आपके साथ राधेश्याम जी दिक़्क़त यह है कि आप समय के साथ अपने को बदल नहीं रहे हैं। आप अपनी विचारधारा की जकड़ में हैं और विचारधारा आपकी जकड़ में। ताजी हवा लायक खुलाव इंसान की सेहत के लिए भी मुफीद होता है और विचारधारा के लिए भी। अपनी हठधर्मिता और अपनी जकड़ीली सोच के कारण ही आप अपने लिए हादसों को बुलावा देते हैं।''

संकेत अनायास पत्नी की आत्महत्या की ओर चला गया था। कामरेड पर यह संकेत खुल भी गया था।

''मैं मैं हूँ और आप आप।''

दोहराया गया, ''मैं मैं हूँ और आप आप।''

जिस तमक और ताव के साथ यह कहा गया था उसमें आप तुम बन गया था, ''मैं मैं हूँ और तुम तुम।''

कामरेड का डग अपने घर की ओर मुड़ गया था। उनका भी अपने घर की ओर।

बेटा अगले से अगले दिन घर से भाग गया। समय डेढ़ सप्ताह जितना लम्बा खिंच गया था। बेटे का मामा, जो फौज से छुट्टी पर गाँव आया हुआ था, उसे खोजकर घर पहुँचा गया था। मामा ने कामरेड पर नाराजगी प्रकट की होगी। इस नाराजगी में यह भी शामिल होगा कि कामरेड ने पहले अपनी पत्नी को गँवाया, अब अपने बेटे को गँवायेगा। मामा ने ही शायद भाँजे को नया बैट भी खरीदकर दिया होगा।

लगभग एक माह बाद जब एक शाम राहुल खिलाड़ी वाली मुद्रा में कन्धे पर बैट रखकर उनके सामने से गुजरा, उन्होंने पूछा, ''बेटे, पढ़ाई तो ढीली ढाली नहीं चल रही है?''

''दादा जी, सो नहीं। अपनी क्लास में सिर्फ चार नम्बरों से ही सेकेंड पोजीशन पर हूँ।''

इन प्रकरणों के एक के बाद एक स्मृति में सजीव हो जाने पर उनमें कौंधा कि अरे इनके आधार पर तो एक उम्दा कहानी लिखी जा सकती है। तभी फिर ध्यान आ गया कि उनकी एक कहानी, जो एक लोकप्रिय पत्रिका में प्रकाशित हुई थी, उसके एक पात्र में कामरेड की दो-एक मुख्य शारीरिक विशेषता—कानों पर उगे सघन काले बाल व माथे पर माँस की एक बड़ी गुलथी के होने से कामरेड से यह चुगली कर दी थी कि यह वह हैं। यह वही हैं और कोई नहीं। मिलने पर शिकायत की कि उन्होंने उनको अपनी कहानी में उतारा है। उनके यह बताने पर कि एक साहित्यकार अपने कथ्य की माँग के अनुसार अपने चरित्र को आसपास की जिन्दगी में बिखरे कई पात्रों की अलग-अलग विशेषताओं में से कुछ को जोड़ घटाकर गढ़ता है, कामरेड बोले ये कि उनको खलनायक में गढ़ा गया है। अन्त में बोला गया चेतावनी में ढल गया था, ''मैं भी कलम रखता हूँ।''

छह

पूरा एक पखवाड़ा और बीत गया था। स्थिति जस-की-तस थी। आसन पर बैठना महज बैठना हो रहा था। इस बैठने के दौरान चाय के एक कप में एक कप और बढ़ गया था। एक और कप की भी गुंजाइश महसूस करने पर शारदा शरण ने उस जरूरत को दबा दिया था। अगर अन्दर जगी बेचैनी को सुलाने के लिए शराब की जरूरत पड़ी तो वह क्या नशे का भी सहारा लेंगे? बहुत पहले वह किसी गोष्ठी की खागीदारी में किसी साथी के जोर देने पर, या किसी दूसरे दबाव से शराब के दो एक छोटे पैग ले लेते थे, वह भी कभी-कभी। पत्नी को इस कभी-कभी पर भी आपत्ति थी। उनका बड़ा बेटा एक वर्ष से कम का था। पत्नी ने उसके सिर पर हाथ रखकर सौगन्ध दिलवाई थी कि आगे से वह शराब छुएँगे भी नहीं। तब से शराब उनके लिए निषेध की सूची में शामिल हो गयी थी।

अनुराग टेलीफोन बिल की भुगतान रसीद देने परसों आया था। उनके यह जाहिर करने पर कि अभी भी लिखने के लिए उनके हाथ कुछ लगा नहीं है और तनाव और भी अधिक त्रासद हो गया है, उसने उनको याद दिलाया कि पहले भी कई-कई माह तक उनके साथ सूखे वाली स्थिति रही थी, जो फिर टूटी ही। हर साहित्य धर्मा, जो वास्तव में साहित्य वर्मा है, इन हालात से गुजरता है।

''मैं एकदम हताश नहीं हूँ। मैं निराशा और आशा इन दोनों के साथ अपने अन्दर की सरिता में बह रहा हूँ। आशा की उमंगी लहर कभी-कभी ऊँची आवाज देने लगती है, ''मैं हूँ, मैं हूँ। मुझे देखो, मुझे देखो।''

''आपने स्वयं कहीं कहा है कि साहित्य, संगीत और कला की साधना अपने में कर्मयोग है। रचना को आपने यातना माना है। यातना के अनुभव आपकी पूँजी है।'' पूँजी की बात कहता हुआ अनुराग हँस दिया। यह हँसना उनको सहज, सामान्य बनाना था। इस ओर और खींच लाने के लिए उसने ताजा पढ़ा हुआ एक चुटकुला सुनाया। एक अध्यापक ने एक विद्यार्थी से प्रश्न पूछा। उत्तर ठीक से न सुन पाने पर जब अध्यापक ने जोर से बोलने को कहा, विद्यार्थी बोला—जय माता दी।

शारदा शरण खुलकर हँसे थे।

तीसरे दिन राधेश्याम ले गयी पुस्तक लौटाने आया था। दूसरी पुस्तक लेनी भी थी। उसके आने का समय निश्चित नहीं होता था। उसने मान रखा था कि भैया जी घर पर ही होंगे। कभी भी पहुँचा जा सकता है। वह सुबह नौ बजे आ धमका था। शारदा शरण अपने आसन पर थे। वह चहका, ''भैया जी, लगता दिमाग का इंजन स्टार्ट हो गया है।''

''नहीं, वैसा ही जाम है। छह माह से ऊपर हो गये हैं। मैं एक पृष्ठ भी नहीं लिख पाया हूँ।'' उनका स्वर खर्रा उठा।

राधेश्याम की चहक मर गयी। उसने जल्द ही अपने को तैयार किया,

''ज़ैया जी, आप हिज़्मत न हारिए। हिज़्मत न हारिए बिसारिए न राम। ज़गवान ने चाहा सब दुरुस्त हो जाएगा, बिलकुल चंगा। याद आ जाने पर आगे कहा, ''आपने ही अपनी एक कहानी में लिज़ा है कि रात चाहे जितनी लज़्बी हो, दिन की उजास उसको समाप्त कर देती है। आपकी न लिज़ने की रात को ज़ी कलम के सूर्य से फूटी उजास समाप्त कर देगी।'' और याद आ जाने पर कहे में यह ज़ी जोड़ा, ''विष्णु प्रज़ाकरजी ने या किसी और लेज़क ने अपने उपन्यास में लिज़ा है कि मुद्दत तक तपी सूज़ी धरती का सूज़ा ही उसकी ज़ाद बन जाता है। वर्षा का पानी पीकर जब प्यासी धरती हरियाती है तो उसकी हरियाली की छटा न्यारी होती है। आपकी कलम ज़ी जब जाग उठेगी कुछ न्यारा, कुछ ज्यादा छटादार ही देगी।''

शारदा शरण अन्दर वाले कमरे में जाकर पुस्तक निकाल लाए।

''दस बारह दिन पहले कामरेड जी बाजार में मिल गये थे। मैं आपकी पुस्तक दुकान पर पढ़ने ले जा रहा था। पूछा, 'ज़्या इस पुस्तक में दम है?' मैंने कहा, 'ज़ैया जी की पुस्तक पढ़ने वाले को आदमी बना देती है। आप ज़ी पढ़िए।' इसपर कामरेड जी गरम हो गये। पूछा, 'ज़्या मैं आदमी नहीं हूँ?' मैंने कहा, 'आदमी को अच्छा आदमी बना देती है।' इस पर गरमी और बढ़ गयी, 'ज़्या मैं बुरा आदमी हूँ?' मैंने हाथ जोड़कर माफी माँग ली, ''कामरेडजी, आपको बहुत जल्द गुस्सा आ जाता है। मैंने अच्छा आदमी बनने की बात अपने लिए कही थी। आपके लिए नहीं।''

एक छोटा-सा विराम लेकर कहा, ''परसों कामरेडजी मुझे देज़कर बोले, 'अपने ज़ैया जी को समझाओ। अब वह चरज़ा चलाएँ।' परसों मैं चुप रहा। आज यहाँ आते हुए दिज़ जाने पर मैंने परसों के कहे हुए का जवाब दे दिया, ''कामरेडजी, कलम ज़ैया जी का चरज़ा है। गाँधी जी ने चरज़े के बल पर आजादी ली। ज़ैया जी कलम के बल पर उस आजादी को सही दिशा दे रहे हैं, रोशनी दिज़ा रहे हैं।''

पुस्तक छूटकर जमीन पर गिर गयी थी। उसने उठाकर उसे आँज़ और सिर से लगाई। चूमी ज़ी।

''तो ज़ैया जी, साधू-सन्तों का बताया हुआ ज़ूलिए नहीं—हिज़्मत न हारिए, बिसारिए न राम, जाहे विधि राज़े राम, ताहै विधि रहिए।''

''इस अन्तिम सीज़ को नहीं मानूँगा कि राम जैसा चाहें वैसा रहूँ। राम चाहें कि मैं लिज़ने पर फुलस्टाप लगा दूँ, हर्गिज नहीं लगाऊँगा।'' उन्होंने आँज़ों की पुतलियों को सीधा कर कहा।

''यह हुई सच्चे मर्द की बात।'' राधेश्याम ने चमक थिरकाई'', ''सच्चे मर्द की चाह का राम जी पूरा ध्यान रज़ते हैं।''

राधेश्याम चला गया। उसको लेकर उनका कहा हुआ याद आ गया कि वह अपने में स्वयं एक पुस्तक है। यह कथन और निज़र उठा। अच्छा मुनष्य अच्छी पुस्तक होता है, बुरा मनुष्य बुरी पुस्तक।

शारदा शरण ने ज़ोपाल फोन किया था अपने छोटे बेटे निकष को। निकष की तैनाती पहले जयपुर में थी। बाद में कज़्पनी बदलने पर तैनाती ज़ोपाल में हो गयी थी। छुट्टी का दिन था। उन्होंने माना था कि निकष घर पर होगा। था ज़ी। हलो की आवाज पर उन्होंने उसका नाम लेकर कहा, ''मैं तेरा पापा बोल रहा हूँ। लगता तू मुझे ज़ूल गया है।''

''पापा, आपने ऐसा ज़्यों सोचा? मैंने पिछले माह फोन लगाया था, पर नेटवर्क की प्राज़्लम थी। कॉल लगी नहीं। शुचि ने ज़ी उससे पहले कॉल लगाई थी, लेकिन प्राज़्लम वही।'' शुचि से आशय उसका अपनी पत्नी से था।

उनका मन हुआ कि कहें इधर से फोन लगाने पर लग जाता है और उधर से लगाने पर नहीं। वैसा न कहकर कहा, ''चार साल से बेशी हुए जब तुम आये थे। आने पर ज़ैया के घर एक हज़्ता ठहरे थे लेकिन मेरे हिस्से में आया था तुज़्हारा बस एक घंटा। पिता को अपने जायों से जैसा लगाव होता है, वैसा जायों को अपने जनक से होना चाहिए।''

''पाप हमको है, है। ज़ैया से बातचीत होने पर आपका हाल पूछना ज़ूलता नहीं हूँ।''

''अच्छा, पिछले की छोड़। बता, अब इधर कब आ रहा है?''

''कज़्पनी का दुबई में प्रोजेज़्ट चल रहा है। मुझे वहाँ जाना है। स्टे दो, ढाई मंथ का हो सकता है। ज्यादा लज़्बा ज़ी।''

''बहू, बच्चे ज़ी जा रहे हैं?''

''नहीं।''

''उनसे कहो, वे आ जाएँ। कुछ दिन मेरे पास आकर रहें।''

''मोना और मोनू दोनों स्कूल जाते हैं। कज़ी साथ लेकर आऊँगा। पापा, अच्छा यह बताइए आपका स्वास्थ्य तो ठीक है? लिज़ना पढ़ना सब फर्स्ट ज़्लास चल रहा है?''

''इन दिनों किसी काम से ठीक जुड़ नहीं पाता हूँ। अपने सगों के साथ-संगत से शायद चिज़ सुस्थिर हो जाय।''

''पापा, आपका लिज़ना, पढ़ना ज़ी तो सगों से कम नहीं है।'' आवाज से पहले हँसी अलग छिटकी, फिर उसमें घुल गयी, ''आपका ही कई बार का यह कहा हुआ है कि पुस्तकें मनुष्य का सच्चा साथी हैं, समझदार और विश्वसनीय! इससे पहले कि जवाब में वह कुछ बोलें—बेटे का कहा हुआ प्रेषित हुआ, ''ज़ैया से बात करूँगा। संडे वह आपके यहाँ बिताया करें या कुछ दिनों के वास्ते आपको अपने पास बुला लें। पापा, अच्छा नमस्ते।''

दो दिन बाद उन्होंने शहर में ही रह रहे बड़े बेटे को फोन लगाया, ''साकेत, ज़्या तुम अपना घर ज़ूल गये हो? मुझे यही लगता है।''

''जिस घर में मैं पैदा हुआ, पच्चीस साल जिसमें मैं रहा, पापा उसे कैसे ज़ूल सकता हूँ? सपने में मैं अकसर वहीं होता हूँ।''

''सपने में होते हो, मगर जागने में नहीं। एक महीना हुआ होगा या डेढ़। मैं ज़िड़की पर ज़ड़ा था। तुम मोटर-साइकिल पर सामने से निकले थे। मैंने साकेत-साकेत कहकर आवाज दी थी, लेकिन तुम रुकें नहीं। धड़धड़ाते निकल गये।''

''पापा, आपको धोज़ा हुआ होगा। कोई और होगा।''

''पिता अपनी सन्तान को घुप्प अन्धेरे में ज़ी पहचान लेता है। दृष्टि से नहीं तो गन्ध से। फिर वह तो दिन था, जगमगाता तीसरा पहर। वकील हो तो लगता है सच को झुठलाना आदत में शामिल हो गया है।''

फोन सूँ-सूँ करता साँस लेने लगा। साँस ने दुबारा शज़्द धारण कर लिए, ''पापा, डॉज़्टर, वकील का पेशा ऐसा है कि न चले तब परेशानी और चले तब परेशानी। महीना, डेढ़ महीना पहले की बात नहीं। याद आ गया, दो महीने से ऊपर की वो बात है। कोई छुट्टी थी। एक मुकदमें के सिलसिले में दूसरे वकील गुप्ता जी से बहुत जरूरी मिलना था। मेन रोड पर जाम था। आप वाली गली से होकर निकला था। बहुत जल्दी में था।

गुप्ता जी से टाइम ले रख़ा था। ...पापा, मुवक्किल सामने बैठा है। फुरसत से फिर बात करूँगा। मेरा घर ज़ी पापा आपका घर है।''

हाल में ही एक शाम वह बेटे के घर गये थे। साकेत कचहरी से लौटकर ज़्लब जा चुका था। बहू पाँच मिनट ही पास में बैठी थी। उसके सिर में तेज दर्द था। नौकरानी दो बिस्कुट के साथ एक कप चाय दे गयी थी। बेटे की अधिक प्रतीक्षा न कर वह लौट आये थे।

उन्होंने जानकी को ज़ी फोन किया था, जानकी को जिसे अपनी सन्तान की वैधता दी थी, सामाजिक व कानूनी दोनों। जानकी पति व बच्चों को लेकर आ गयी थी। वे एक सप्ताह रुके थे। एक सप्ताह की आत्मीय चहल-पहल व बच्चों के नानू-नानू के सज़्बोधन के साथ की गयी अबोध, अटपटी जिज्ञासाओं ने उनको हरा कर दिया था।

शारदा शरण आसन पर फिर बैठे थे। लेख़नी सक्रिय नहीं हुई थी। अन्दर का हरापन मुरझा गया था। अन्दर ने ठीक से हरियाली पकड़ी नहीं थी।

पक्षियों की बोली :

मोर— केहू-क-आन-क-आन

बज़ज़— कवेक-कवेक-कवेक।

पंडुक— गुगु-गूँ--गुगु-गूँ--गुगु-गूँ।

पशु-पक्षियों की प्रवृज़ि : बिल्ली गड्ढा ज़ोदकर मल त्यागती है और मिट्टी से ढाँप देती है।

तोता वृक्ष की ज़ोह के बाहर पिछाड़ी कर बीट करता है।

राजमिस्त्री के उपकरण : करनी, मझोला, गर्ज़ीला, साहुल, वसूली, डोरी।

बढ़ई के उपकरण : आरी, चौरसिया, रुख़ानी, रंदा, गुनिया, बर्मा, पेचकस, हथौड़ी, वसूला।

संस्कार गणपति के अनुसार विवाह पंच अंकीय होता है : वाग्दान, कन्यादान, वरण, पाणिग्रहण और सप्तपदी।

मस्जिद में दी जाने वाली अजान :

अल्लाहु अकबर, अल्लाहु अकबर

अश्हदुअल्ला इलाह इल्लल्लाह

अश्हदुअल्ला इलाह इल्लल्लाह

अश्हदुअन्न मुहज़्मदर्रसूलुल्लाह

अश्हदुअन्न मुहज़्मदर्रसूलुल्लाह

हय्य अलस्सलाह ह्यय अलस्सलाह

ह्यय अललफलाह ह्यय अलललफलाह

अस्लातु ख़ैरुम ज़िन्नोम

अस्लातु ख़ैरुम ज़िन्नोम।

उनको पुरानी डायरी मिल गयी थी। इसमें इन जैसी सूचनाएँ दर्ज थीं, वज़्तन-फ-वज़्तन उन्हीं की कलम से। अपनी रचनाओं में जरूरत पड़ने पर वातावरण परिवेश आदि को पुज़्तगी देने के लिए वह इनका उपयोग कर सकते थे। कुछ का किया ज़ी था।

पथ अनन्त है। यहाँ से वहाँ। हम चाहे जिस पथ से जाएँ, यात्रा में वे पथ ज़ी शामिल होते हैं, जिनपर हम कज़ी नहीं चले थे।

साहित्य का पतन राष्ट्र के पतन का द्योतक है।

बहुतों के लिए ज़ूत ही उनका ज़विष्य होता है।

सत्य की विशेषता ही यह है कि वह असत्य की ज़ाँति प्रगल्भ नहीं होता, किन्तु स्वतन्त्रता के सिरफिरे दीवाने की ज़ाँति जिद्दी होता है—

साहित्य की मूल संवेदना केवल दो प्रकार की शज़्ति स्वीकारती है, एक सौन्दर्य की तथा दूसरी नैतिकता की।

पहाड़ पैरों से नहीं इरादों से चढ़े जाते हैं।

कायर ज़ी रंगमंच के प्रकाश में साहसी बन जाता है।

दुख़ की कोई जाति नहीं होती।

पुस्तकें अन्धकार में प्रज्वलित दीप हैं।

आर्यों के जमाने में गाय कविता थी, किन्तु ज़ारतवर्ष के पतन के साथ वह धर्म बन गयी। इसी प्रकार संस्कृति जो कज़ी नैतिकता थी आज के जमाने में राजनीति बन गयी है।

विद्वानों व विचारकों के ऐसे सौ-पचास आप्त कथन, सूज़्तियाँ, अज़िव्यज़्तियाँ ज़ी अपनी रचनाओं में कथ्य की माँग के अनुरूप गूँथने, पिरोने के लिए, या ज़ाषा को निख़ारने की मंशा से, उन्होंने अपनी डायरी में टीप रख़े थे। इसी उद्देश्य से उन्होंने अनेक नये, पुराने कवियों, शायरों के जीवन को विविध कोणों से जानने, समझाने, आँकने वाले काव्यांशों को ज़ी डायरी में जगह दी थी। इन सबके आधार पर वह वैसी ही अर्थबोधक उज़्तियाँ आवश्यकतानुसार स्वयं ज़ी गढ़ लेते थे।

वह डायरी के अन्य ज़ाग में उन घटनाओं, प्रकरणों, वाकियात को ज़ी अंकित कर लेते थे जिनसे जब-तब एक दूसरे बहाने के वाबस्ता होते थे और उनको लगता था कि वे आगामी रचनाओं के लिए कच्चा माल साबित हो सकते हैं। ध्यान में बिंध जाने पर उनमें से कोई-कोई स्वतन्त्र कहानी में ढल ज़ी जाता था। वह डायरी के इस ज़ाग से गुजरने लगे। शायद कोई अंकन चमत्कारी सिद्ध हो बन्द कपाट पर जड़े ज़ारी ताले की चाबी हाथ बढ़ाकर पकड़ा दे, अब ज़ाली नहीं लौटोगे।

बिरादरी की तीन बेटियों वाली माँ ने बेटे की उज़्मीद में चौथी बेटी को जन्म दे दिया था। इस औरत का पति व्यापार में घाटा व दो-एक बड़े हादसों के कारण गरीबी की जकड़ में था। दूसरे नगर में रह रही इस औरत की सगी छोटी बहन काफी सज़्पन्न थी, लेकिन थी निस्सन्तान। बड़ी बहन के पति व श्वसुर की सहमति से छोटी बहन इस चौथी बेटी को अपनी संतान बनाने के लिए ले आयी। बड़ी बहन चंद दिनों के बाद अपनी चौथी बेटी के छिन जाने से रोने कलपने लगी। रोने कलपने के ये दौरे बेटी के वापस मिल जाने पर ही थमे। आन्दोलन को आँधी की गति देने की नीयत से आन्दोलनकारी पार्टी ने आत्महत्या का सहारा लेना तय किया। एक चौराहे पर दो जुनूनी युवकों ने अपने कपड़ों पर पेट्रोल डाल लिया। एक ने आग लगा ली। दूसरा आग लगाने से घबरा रहा था। पार्टी के एक उत्साही कार्यकर्ज़ा ने जलती माचिस की तीली उस दूसरे की ओर फेंक दी। दूसरा युवक ज़ी आग की ज़ेंट हो गया।

पड़ोस के मोहल्ले का मुकुन्दी अज़ार हर मृतक की शव यात्रा में शामिल होता था। वह इस नियम का निर्वाह मुद्दत से कर रहा था। वह मानता था कि जब मरने वाला उसके मोहल्ले का है, उसको अन्तिम विदा देना उसका धर्म है। ढीला होने पर रिज़्शे पर बैठकर अन्त्येष्टि स्थल पहुँच जाता था। एक रात उसने नींद में आवाज सुनी, मुकुन्दी लाल अब तुज़्हारी

बारी है। प्रात:काल वह निवृत्ति आदि से शुद्ध होकर श्मशान भूमि पहुँच गया और वहाँ बनी पत्थर की पटिया पर लेट गया। घंटे भर में वह देह मुक्त हो गया।

जगदम्बा प्रसाद पेशकार अपनी पत्नी पर कारण-अकारण जब-तब हाथ छोड़ देते थे। रिटायर हो जाने के बाद यह हाथ छोड़ना ज्यादा बढ़ गया था। पेशकार न रहकर अब वह फुलटाइम पति थे। एक दिन पत्नी पर जूते के साथ-उठा हाथ जवान बेटे ने पकड़ लिया, ''मम्मी को आप आगे से नहीं मारेंगे। मम्मी का मारा जाना मैं बरदाश्त नहीं कर सकता।'' जगदम्बा प्रसाद अज्ञातवासी हो गये। माँ बेटे को दोष देने लगी कि औरत आदमी के झगड़े में उसका कूदना सही नहीं था। औरत गलती हो जाने पर अपने आदमी से पिटती है। वह अपने पापा को खोजकर घर वापस लाए।

एक दरोगा रिटायर होकर आम आदमी के सादे लिबास में पेंशन कागजात के सिलसिले में पुलिस कप्तान के दफ्तर गया। दफ्तर के बाहर डोल रहे आवारा कुत्ते ने काट लिया। एक परिचित तमाशबीन ने चुटकी ली, ''वर्दी उतर जाने से आदमी की ही नहीं, जानवर की नजर से भी पुलिस का रौब-रुतबा हंड्रेड से जीरो बन जाता है।''

ऐसी और भी बीसियों घटनाएँ, प्रसंग डायरी में दर्ज थे। उन्होंने स्मृति को कुरेदा, उचैला। इनमें से कई का उपयोग वह अपनी रचनाओं में कर चुके थे। उपयोग होने से छूट गये इन्दराज को वह बार-बार पढ़ने लगे, फेंटने और मथने लगे।

अगले दिन भी उन्होंने ऐसा किया। उससे अगले दिन भी। कोई भी इंदराज चमत्कारी नहीं बना। किसी ने भी बन्द कपाट पर जड़े भारी ताले की चाबी हाथ बढ़ाकर नहीं पकड़ा दी।

लेखक के लिए यह निहायत जरूरी होता है कि वह हासिल किए गये कथ्य में पूरी तरह घुसे, वहाँ पूरी तरह ठहरे, पसरे और फिर उसमें से पूरी तरह बाहर भी आ जाए।

वह ऐसा क्या इसलिए नहीं कर पा रहे हैं कि पचहत्तर पार की बड़ी हुई आयु ने उनकी सृजनकारी क्षमता पर ब्रेक लगा रखे हैं? लेकिन इससे भी कहीं अधिक आयु के नामवर सिंह, कृष्णा सोबती, राजेन्द्र यादव जैसे साहित्यधर्मा अभी भी भली भाँति सक्रिय हैं। खुशवन्त सिंह 95 वर्ष की आयु में भी लिख रहे हैं। मकबूल फिदा हुसैन भी इतनी अधिक आयु में कैनवेस और कूची सँभाले रहे। बाँग्ला नाटककार बादल सरकार और हिन्दी साहित्यकार विष्णु प्रभाकर ने भी जीवन की घुरी साँझ तक स्वयं को सृजन कर्म से संलग्न रखा था।

सात

समय की तमाम गतिविधियों में विभिन्न स्थानों, भू-भागों का एक या दूसरे कारण से नाम बदलना भी शामिल होता है। यह समय जब भविष्य के निरीक्षण और समालोकन के लिए बतौर धरोहर कतिपय सामग्री सहेजे हुए अपने ही द्वारा खींचे गये परदों के पीछे चला जाता है, तब वह इतिहास कहलाता है। इन्द्रप्रस्थ के उत्तर-पश्चिम में और अवध के पूर्व में गंगा के बाएँ तट तक फैला जो इलाका था, वह कभी दोआब के नाम से जाना जाता था। उत्तर वैदिक काल में यह पांचाल कहलाया और मध्यकाल में कटेहर जाति के राजपूतों के नियन्त्रण में आकर यह कटेहर कहलाने लगा था। मुगल काल में देश की उत्तरी-पश्चिमी सीमा पर स्थित पर्वतीय भाग रोह से अफगानों के खासी तादाद में इधर आ बसने और फिर उन्हीं में से शाहआलम के गुलाम दाऊद खाँ तथा एक अन्य रुहेला सरदार हाफिज रहमत खाँ के दिल्ली दरबार की निगाह में चढ़ते हुए इस क्षेत्र की बागडोर हासिल कर यहाँ रुहेलों की सत्ता सुस्थापित कर लेने पर यह इलाका रुहेलखण्ड कहा जाने लगा।

अवध के नवाब शुजाउद्दौला ने रुहलों के बढ़ते वर्चस्व को समाप्त करने के लिए ईस्ट इंडिया कम्पनी से फौजी सहायता ली थी। रुहेला युद्ध में सफलता प्राप्त करने के बाद कम्पनी की सेना अवध में लगातार बनी रही और अवध दरबार में कम्पनी का कर्ज एक सोची-समझी कूटनीति के तहत एक तयशुदा गति से बढ़ने दिया गया। नवम्बर 1801 में इस बढ़े हुए कर्ज की देनदारी के लिए कम्पनी तथा अवध के नवाब शहादत अली के बीच करारनामा हुआ। इसके तहत कुछ अन्य भू-क्षेत्रों के साथ पूरा रुहेलखंड कम्पनी के अधिकार में आ गया।

कम्पनी सरकार ने रुहेलखंड के अन्तर्गत बरेली, बदायूँ, शाहजहाँपुर, मुरादाबाद, बिजनौर तथा पीलीभीत के जिले, उपजिले कायम कर दिये और उनमें कमिश्नर, कलक्टर, जज, मजिस्ट्रेट जैसे अहम पदों पर अँग्रेज अफसर बैठा दिए। ये अफसर फौज व सिविल सर्विसेज से चुने जाते थे। ये कम्पनी के हिस्सेदारी उसे गोरी चमड़ी वाले कर्मचारियों और इंग्लैंड के हितों की सेहत को ध्यान में रखकर काम करते थे।

रुहेलखण्ड के अन्तर्गत रामपुर भी स्थित था। यों वह भाग ब्रिटिश इंडिया के नक्शे पर आने से रह गया था और प्रत्यक्षत: वह मृत हाफिज रहमत खाँ के वंशज के अधीन एक स्वतन्त्र राज्य था, किन्तु परोक्षत: उसकी स्वतन्त्रता पास में विचरण करने वाले भेड़िये के रहमोकरम पर आश्रित मेमने की स्वतन्त्रता से अधिक नहीं थी।

इतिहास बन चुके समय की यह विशेषता होती है कि खोले जाने पर वह स्वयं भी खुलने लगता है, तमाम अपनी छोटी-बड़ी हलचलों और उन हलचलों को गति देने या उनसे गति पाते चरित्रों के साथ।

शहर बरेली में सर्दी की उस सुबह रोज की तरह मस्जिदों से अजान ने उठकर हवा में पंख खोले थे—अल्लाहु अकबर, अल्लाहु अकबर—अश्हदुअल्ला इलाह इल्लल्लाह अश्हदुअन्न मुहम्मदर्रसूलुल्लाह...। मन्दिरों में भी घंटे-घड़ियाल बजे थे और देवदर्शन करने वालों के देवार्चना में स्वर फूटने लगे थे—तू दयालु दीन हों, तू दानि हों भिखारी, हों प्रसिद्ध पातकी तू पापपुंज हारी। या—जय जय है मुरारी, नैया पारि कारो हमारी...। घरों में आम दिनों की भाँति बर्तन-भाँडे खटके थे, चूल्हों से धुँआ उठा था, सड़कों पर मेहतर बाँस की झाड़ू से सफाई कर रहे थे और भिश्ती मशक के पानी से नालियों की धुलाई। मशक के बाहरी गीलेपन से बचने के लिए उन्होंने कमर पर लाल कपड़ा लपेट रखा था। फकीर और भिखारी सात्विक भाव जगाने वाला कुछ गाते हुए घरों के आगे डोले थे और उन्होंने आटा, चावल या अँग्रेजी रेजगारी वाले पाई, अधेला जैसे छोटे सिक्के पाए थे और बदले में दाताओं ने दुआएँ व आशीर्वचन।

सुबह से जुड़ी दूसरी हलचलें ज़ी रोजमर्रा की थीं। फर्क यह था कि सड़कों और गलियों में निकल आये लोग एक-दूसरे को बता रहे थे कि कलकज़ा वाले बड़े लाट छावनी में आये हुए हैं।

मोहल्ला मूड़ में ज़ान बहादुर ज़ाँ अपनी हवेली के बाहरी बरामदे में बैठे चाँदी के फर्शी हुज़्के के कश धीरे-धीरे ले रहे थे। बरामदा पूर्वमुज़ी था। धूप अन्दर तक आकर अपना नरम गुनगुना स्पर्श दे रही थी। ज़ान बहादुर ज़ाँ के चेहरे पर जो कल रात तनाव था, इस वज़्त वह काफी कुछ गायब था। आम से कोई ज़ास बात आ जाने पर वह एकदम असहज हो जाते थे, मगर फिर उस असहजता पर कुछ वज़्त बाद वह काबू ज़ी पा लेते थे। यह उनके व्यज़्तित्व का एक हिस्सा था। वह कमिश्नर से माह के हर पहले व तीसरे सोमवार को मिलने जाते थे। बीच में जरूरत पड़ने पर कमिश्नर साहब ज़ुद बुलवा लेते थे। तीन रोज पहले जब पीर को वह मिलने गये थे, कमिश्नर ने बताया था कि गवर्नर जनरल फर्रुज़ाबाद आ चुके हैं और वह बरेली ज़ी आएँगे। रुहेलज़ण्ड में कज़्पनी की तीन छावनियाँ थीं, जिनमें सबसे बड़ी व प्रमुज़ बरेली में थी। हर नया गवर्नर जनरल जब हिन्दुस्तान आता था तब इन छावनियों का निरीक्षण करता था। कोई-कोई गर्वनर जनरल हिन्दुस्तान में अपनी तैनाती के दौरान चार-चार पाँच-पाँच बार छावनियों में आता था और ज़विष्य की योजना के परिप्रेक्ष्य में वस्तुस्थिति का आकलन करता व फैसले लेता था। आज़िरकार ईस्ट इण्डिया कज़्पनी और उसके माध्यम से बरतानियाँ हुकूमत की हिन्दुस्तान पर पकड़ और उसका इच्छानुसार दोहन कूटनीति के साथ-साथ फौज की ताकत पर निर्ज़र था।

ज़ान बहादुर ज़ाँ को कल शाम कमिश्नर का आदमी आज सुबह ग्यारह बजे दरबार लगने की बाबत ज़त दे गया था।

उन्होंने दरबार में पहले जाने वाले लिबास सन्दूक से निकलवाए थे। वैसे लिबास के उनके पास तीन जोड़े थे। उन्होंने ज़ितमतगार ज़ेजकर अपने ज़ास दर्जी को बुलवा लिया। लिबास को लेकर उलझन के कीड़े को मारा जाय।

दर्जी को उन्होंने फीरोजी रंग का झलक मारता लज़्बा कोट दिज़ाकर कहा कि उसको उन्होंने पिछले दरबार में पहना था। वे ज़ी सर्दियों के दिन थे।

ज़ले ही किसी दूसरे को उनके पिछली दफा के लिबास की याद न हो, लेकिन चूँकि उनको थी, उसको लेकर एक अलगाव-सा अहसास था।

''हुजूर, इस बार आप उन्नावी रंग का कोट पहनिए। उस पर हरे रंग की पगड़ी बाँधिए।'' दर्जी बोला।

''उन्नावी कोट ठीक है?''

''हुजूर, मुझे बस दो घंटे का वज़्त इनायत कीजिए। अपने मुँह मियाँ मिट्ठू नहीं बनना चाहता। इस नाचीज का हाथ लग जाने से लिबास शायद एकदम ज़ास इस मौके के लिए तैयार करवाया हुआ लगे।''

उन्होंने बरती जाने वाली दूसरी औपचारिकताओं के बारे में ज़ी तय कर लिया था। यों वह अब तक दसियों दरबार में हाजिर हो चुके थे, लेकिन उनको हर दफा लगता था कि वह पहले पहल उसका सामना कर रहे हैं।

उनके साथ उनकी फूफी रहती थीं जो घर में सबसे बुजुर्ग थीं। दरबार की बात जानकर वह आवाज में कुछ तुर्शी लाकर बोलीं, ''फिरंगी कौम की आँज़ में सूअर का बाल है। विलायत से जो ज़ी बड़ा हाकिम आता है, दगाबाजी की किताब का आमिल-फाजिल होता है। हम लोग कज़ी दोआब के पूरे इलाके के मालिक थे।''

बेगम ने, जो पलंग पर बैठी एक चादर पर कशीदाकारी कर रही थीं, नजर उठाकर उनकी ओर देज़ा, ''इस बार बड़े लाट से कह देना कि नवाबी पेंशन के सौ रुपये जो आपको मिलते हैं, नवाबी चोंचलें बनाए रज़ने के लिए ज़ी नाकाफी हैं। आप उनसे इजाफा करने के लिए कहिएगा।''

''बेगम, आप मेरे साथ चलकर इजाफे की गुजारिश ज़ुद कर लीजिएगा। आपकी गुजारिश को वह ज्यादा इज्जत बज़्शेंगे।''

बेगम की नजर में मुस्कराहट की नगीनातराशी लकीर ज़िंच गयी, ''फिरंगी अपनी औरतें अपने साथ महफिलों, जलसों में ले जाते हैं। मैं चलने को तैयार हूँ। मैं फूफीजान को राजी कर लूँगी, लेकिन आप ही राजी नहीं होंगे। कोई-न-कोई बहाना गढ़ लेंगे।''

''फिरंगी अपनी मैमों को साथ लेकर सुबह तड़के घोड़ों पर मुफस्सलात की ओर घूमने जाते हैं। पहले कुछ दिन आप घोड़े की सवारी करना सीज़िए। फिर अपनी जर्मीदारी की देज़ज़ाल शुरू कर दीजिए। सलामी और नजराने का दस्तूर ज़ुद-ब-ज़ुद मुटिया जाएगा।'' खान बहादुर खाँ यह कहकर हँसने लगे थे। उनके अन्दर बचा-ज़ुचा तनाव बुहर गया था।

बरामदे में धूप और अच्छी तरह पसर गयी थी। ज़ान बहादुर ने यों वज़्त का अन्दाजा लगा लिया था, फिर ज़ी जेबघड़ी निकालकर उसकी जाँच कर ली। यह जेब घड़ी उनको फारस से आये एक अजीज ने दी थी।

वह उठकर अपने कमरे में चले गये।

आघ घंटे के अन्दर जब वह तैयार होकर बाहर नमूनदार हुए, वह एक-दूसरे ज़ान बहादुर ज़ाँ थे... कलगी लगी पगड़ी, झिलमिल करता लज़्बा कोट, सिजल पाजामा, जरी की कामदार जूतियाँ, कमर में मज़मली ज़्यान में पड़ी जड़ाऊ मूठदार तलवार, चेहरे पर ज़सज़सी दाढ़ी, जिसका हर सफेद बाल जवान था।

बेगम ने अपनी बड़ी आँज़ों को और बड़ाकर निहारा। फिर पान की गिलोरी देकर फूफीजान को आवाज दी, ''आकर अपने नवाब ज़तीजे की नजर उतार दीजिए।''

ज़ान बहादुर ज़ाँ ने इस वज़्त ज़ी बेगम की इस ठिठोली का मजा लिया। बेगम जिन्दगी से लबरेज औरत थीं।

हवेली के बाहर आकर ज़ान बहादुर ज़ाँ पालकी में बैठ गये। पालकी पर कमज़्वाब के परदे पड़े थे। दो मुहाफिज घोड़े पर सवार होकर पालकी के अगल-बगल चले लगे।

पहले के लाटों के नाम छोटे थे। इस नये नाट का काफी लज़्बा नाम है, जैज़्स ऐन्ड्रयू, रज़्ब डलहौजी। पालकी में बैठे-बैठे इस नाम को ज़ान बहादुर ज़ाँ ने जबान पर तीन-चार बार ज़ींचा। हर बार ज़ींचते हुए जोर लगाना पड़ा था। कौन मुझे लाट का नाम लेना है, ऐसा सोचकर उन्होंने कसरत छोड़ दी थी।

छावनी के एक ज़ुले हरियाले हिस्से में रंग-बिरंगा बड़ा-सा शामियाना लगा हुआ था। बाहर कज़्पनी व बरतानिया सरकार के झंडे लोहे के दो लज़्बे पाइप पर पास-पास लहरा रहे थे। शामियाने के अन्दर बिछी कालीन पर तरतीब से कुर्सियाँ पड़ी थीं, जिनपर एक और फौज के बड़े अफसर

व जिले में तैनात कलक्टर, जज, मजिस्ट्रेट जैसे हाकिम बैठे थे। दूसरी ओर जिले के कई बड़े-बड़े ताल्लुकेदार, जमींदार, रईस, उमरा व दूसरे इज्जतदार अपने-अपने जातीय लिबासों में थे। सब मिलाकर सत्तर-अस्सी लोग थे। कई उनके सामने आये थे।

बड़ा लाट डलहौजी अपनी सुनहरी डोरी लगी गवर्नर जनरल की पोशाक में लकदक शामियाने में बने एक अन्य द्वार से वहाँ आ गया। अन्दर उसके कदम रखते ही सब लोग उठकर खड़े हो गये, यहाँ तक कि शामियाने के अन्दर की हवा भी। यह खड़ा होना लार्ड डलहौजी के चाँदी की बड़ी कुर्सी पर बैठ जाने के बाद भी कुछ देर तक बना रहा।

कुछ रस्मी औपचारिकताओं के बाद दरबार में उपस्थित लोगों का परिचय दिया जाने लगा। खान बहादुर खाँ का परिचय दिए जाने पर कि वह हफीजे मुल्क हाफिज रहमत खाँ के पोते हैं, लार्ड डलहौजी के ओंठ पर से ये शब्द फिसले, ''ओ, ग्रांड सन ऑफ दैट ग्रेट रुहेला सरदार हाफिज रहमत खाँ।'' खान बहादुर खाँ ने लम्बा आदाब करने के साथ गहरे हरे रंग के मखमली बटुए में लाई गयी ग्यारह सोने की मोहरों की नजर पेश की।

डलहौजी की बाईं तरफ मेज पर चाँदी की बड़ी तश्तरी में कुछ उपहार रखे थे। डलहौजी ने उठकर अपने हाथों से उनकी पगड़ी को सरपेच से सजाया, फिर उनके गले में मोतियों का हार पहना दिया। डलहौजी ने अपनी बगल में कुर्सी डलवाकर उनको बैठा भी लिया।

दूसरे गणमान्य व्यक्ति अपनी बारी जाने पर नजर पेश करने लगे।

शाहजहाँपुर के राजा पुवायाँ जगन्नाथ सिंह भी आये हुए थे। चौड़े-चकले चेहरे और बड़ी-बड़ी मूँछ वाला यह राजा, जिसने चाँदी के डिब्बे में रखकर इक्कीस सोने की मोहरें नजर की थीं, हाथ जोड़कर बोला, ''हुजूरेवाला, देर से इत्तला मिलने की वजह से मैं फर्रुखाबाद हाजिर हो नहीं सका था, इसके लिए बन्दा माफी चाहता है।''

''वैल राजा जगन्नाथ सिंह, आपके पास कितने गाँव हैं?''

''हुजूरेवाला, छोटे-बड़े करीब ढाई-सौ गाँव मेरे पास हैं। मेरी माँ रानी राजकुँवर के बेवा हो जाने पर उनको कई गाँवों पर काबिज होने से रोक दिया गया था। बोर्ड ऑफ रेवन्यू में इसको लेकर मुकदमा चल रहा है। रानी राज...''

''रानी राजकुँवर रीयल माँ हैं आपकी?''

''हुजूरेवाला, राजा रघुनाथ सिंह लाऔलाद थे। उनके स्वर्गवासी होने पर मुझे और मेरे छोटे भाई बलदेव सिंह को रानी साहिबा ने गोद लिया था। हम राजा साहब के खानदान के हैं। सूबे के गवर्नर साहब ने इसकी इजाजत दे दी थी।''

आधा मिनट खामोश रहने के बाद डलहौजी ने दूसरा सवाल किया, ''आपको अपनी कोई औलाद है, आई मीन सन, पुत्तर।''

''हुजूरेवाला, मेरे अभी तक कोई लड़का नहीं है।'' राजा साहब ने कुछ धीमी आवाज में कहा। वह इस तरह के प्रश्न के लिए तैयार नहीं थे।

''कम्पनी सरकार डॉक्ट्रीन ऑफ लैप्स, आई मीन गोद लेने के कानून के बारे में अब काफी सख्त है। आप कोई लड़का पैदा करिए, बेटा जो खूब होशियार और समझदार हो।''

ओंठों पर आयी मुस्कराहट को कसकर डलहौजी ने सामने रखे कागज पर नजर डाली। अपने कहे हुए में जोड़ा, ''और वेल राजा जगन्नाथ सिंह, आप जो मालगुजारी देते हैं, बहुत कम है। अपनी जमीन पर काश्तकारों से ज्यादा फसल पैदा कराइए। अगले साल मालगुजारी बीस फीसदी बढ़कर होना चाहिए।''

चार-पाँच ताल्लुकेदार और जमींदार मालगुजारी कम किए जाने की अरदास करने आये थे। उनके चेहरे पर पस्ती छा गयी थी।

वहाँ एक व्यक्ति ऐसा भी था जो दरबार में आमंत्रित नहीं था। उसने कमिश्नर से मिलकर दरबार में आने की इजाजत जोड़-तोड़ से हासिल की थी। वह नखशिख से शाहाना सजधज में आया था और अपनी बारी का बेसब्री से इन्तजार कर रहा था। उस घड़ी के आ जाने पर वह खड़ा होकर बोला, ''हुजूरों के हुजूर, मैं बरेली जिले की बुधौली का रघुनाथ सिंह हूँ, चौबीस गाँव का ठाकुर। मैं कम्पनी सरकार को मालगुजारी व दीगर टैक्स की पूरी रकम वक्त से अदा करता हूँ। मुझे राजा की पदवी देने की मेहरबानी की जाय।''

''इस मुल्क में हजारों की तादाद में नवाब व राजा हैं।''

''हुजूरों के हुजूर, एक राजा और हो जाएगा। मुझसे कई छोटे इलाकों के मालिकों के पास राजा की पदवी है। राजा बना दिए जाने पर मैं कम्पनी की फौज को हुकम होने पर तीस सवार और सौ पैदलिया सिपाही देने के लिए वचनबद्ध हूँ। मैं राजा की पदवी पाने के लिए हर दृष्टि से योग्य हूँ। मैंने पिछले लाटे साहब से भी प्रार्थना की थी।''

डलहौजी ने कमिश्नर की ओर आँख उठाकर देखा जो उस समय सेक्रेटरी की भूमिका अदा कर रहा था। कमिश्नर ने अँग्रेजी में बताया कि एक नेटिव क्रिश्चियन इस शख्स के गाँव में मार दिया गया था।

''वैल ठाकुर साब, आपके इलाके में पीटर नाम के एक आदमी का खून हो गया था। खूनी आज तक पकड़ा नहीं गया।''

''हुजूरों के हुजूर, पुलिस के डर से खूनी नदी में फाँद पड़ा था। नदी में घड़ियाल ने खूनी को खा लिया। खूनी के कपड़े नदी में पाए गये थे। उसकी औरत ने अपने माथे का सिन्दूर पोंछ डाला था और हाथ की चूड़ियाँ तोड़ डाली थीं। हुजूरों के हुजूर, राजा की पदवी न दिए जाने से मेरे साथ बेइन्साफी होगी।''

''वैल, आप दरख्वास्त लगा दीजिए। गौर किया जाएगा।''

दरबार के बाद कमिश्नर ने खान बहादुर खाँ को बताया कि तीसरे पहर गवर्नर जनरल शहर देखेंगे और उनकी दिली ख्वाहिश है कि वह भी साथ में रहें।

यों डलहौजी एक अलग हाथी पर बैठा था और खान बहादुर खाँ अलग हाथी पर, लेकिन डलहौजी ने खान बहादुर खाँ का हाथी अपने साथी के बराबर ही रखा थ। कमिश्नर व अमला के हाथी और घोड़े पीछे-पीछे चले थे।

बड़े लाट का काफिला एक जलूस की शक्ल ले रहा था।

डलहौजी शहर के अन्दर सड़कों पर गुजरता हुए हर चीज को जानने और समझने की कोशिश कर रहा था।

''वैल नवाब साहब, यह जो दाहिनी तरफ एक बड़ा-सा कम्पाउण्ड और उसके अन्दर पीले रंग का खूबसूरत-सा दोमंजिला मकान दिखाई दे रहा है, किसका है?''

''सरकारेवाला, यह बैजनाथ मिश्रा का है, माथे पर चन्दन का गोल टीका लगाए उन्हीं पंडित जी का, जो दरबार में हाजिर थे।''

''अच्छा, उस पंडित का। बहुत पैसे वाला है?''

''हाँ, इस शहर का सबसे मालदार आदमी है। महाजनी का जमा जमाया काम है। इनकी हुंडियाँ कलकज़ा, दिल्ली, लज़नऊ जैसे शहरों में सुनाई जा सकती हैं।'' ज़ान बहादुर ज़ाँ की जबान पर यह बात ज़ी आयी कि कई फिरंगी इनसे वज़्त जरूरत कर्ज लेते हैं, लेकिन इसे कहा नहीं।

डलहौजी बीच-बीच में आँज़ों पर दूरबीन चढ़ा लेता था। उसने एक दूसरी तरफ इशारा करते हुए कहा, ''इधर जो ऊपर मकान में जाली हैं, उसके पीछे कुछ हलचल है। शायद औरतें छिपकर हमारा जलूस देज़ रही हैं।''

''हुज़ूरेवाला ने सही फरमाया है। औरतें ही होंगी।''

''सड़क पर कुछ औरतें बिला परदा किए ज़ड़ी हैं।''

''ये छोटी जाति की हैं।''

''इस पूरे मुल्क में छोटी जाति की औरतें कम परदा करती हैं। परदे का यह रिवाज सही नहीं है। आप लोगों में यह और ज़ी सज़्त है। औरतें एतराज नहीं करती हैं?''

''हुज़ूरेवाला, सैकड़ों सालों का रिवाज टूटने में वज़्त लगता है।''

काफिला एक दूसरी सड़क पर मुड़ गया था। हाथियों को देज़कर एक साँड पूँछ उठाकर ज़ागने लगा। सड़क पर एक छोटा बच्चा मौजूद था। साँड बच्चे को फाँद गया और फिर एक गली में मुड़ गया।

''नवाब साहब, मैं डर गया था यह बुल, ज़्या बोलते हैं आप लोग, हाँ साँड उस छोटे बच्चे को मार देगा। ओ गॉड, बच्चा बच गया। अरे, बच्चा हँस रहा है।''

''सरकारेवाला, जानवर ज़ी समझदार होते हैं।''

''साँड यों ज़्यों सड़क पर घूमते रहते हैं?''

जब ज़ान बहादुर ज़ाँ ने बताया कि साँड को हिन्दू लोग इसलिए छुट्टा छोड़ देते हैं ताकि गाय की नस्ल बढ़ने में सहूलियत रहे, 'सहूलियत रहे' के अल्फाज को दोहराता हुआ डलहौजी हँसने लगा।

पूरे तीन घंटे तक शहर घूमने के बाद डलहौजी अपने तज़्बू में आकर बैठ गया। तज़्बू सजा-धजा एक छोटा-सा आरामगाह था, हर जरूरत की चीजज़ को अपने में सहेजे हुए। कोने में रज़ा लैज़्प नरम-नरम रोशनी बिज़ेर रहा था। थकान डलहौजी के इर्दगिर्द कहीं नहीं थी। एक तो वह जवान था, दूसरे उसे समय से ज्यादा-से-ज्यादा वसूलने में आनन्द मिलता था।

''नवाब साहब, आपका साथ मुझे अच्छा लग रहा है। आप मुझे कुछ वज़्त और देंगे?''

''सरकारेवाला ने मुझे इस लायक माना, मेरे लिए यह फख्र की बात है।''

डलहौजी के इशारे पर ज़ान बहादुर ज़ाँ पास पड़ी कुर्सी पर बैठ गये।

डलहौजी कुछ देर तक बरेली के बारे में बातें करता रहा कि वहाँ कि रिआया की ज़ुशहाली के लिए ज़्या कुछ और किया जा सकता है, कि शिक्षा बढ़ाने के लिए कुछ सरकारी स्कूल ज़ोले जाना चाहिए, कि बहुत-सी जमीन बेकार पड़ी है और इसको ज़ेती लायक बनाना चाहिए। फिर वह अवध के बारे में शिकायत करने लगा कि वहाँ हालात बिगड़ते जा रहे हैं, वाजिद अली शाह शराब व एयाशी में रात दिन डूब रहता है, सल्तनत के कामकाज में उसको कतई दिलचस्पी नहीं है, उनसे पहले के गवर्नर जलरल लार्ड हार्डिंग ने उसको जो दो साल का वज़्त हुकूमत में सुधार लाने के वास्ते दिया था, वह कब का बीत चुका है, हालात बद से बदतर हुए हैं, दरअसल नवाब वाजिद अली शाह का लालन-पालन बहुत गलत ढँग से हुआ, उसको नाजनीनों और रज़्कासाओं के बीच रज़ा गया, शराब, शायरी व नाच गाने की महफिलें अब उसकी असली दुनिया हो गयी हैं।

ज़ान बहादुर ज़ाँ ने डलहौजी की ओर देज़ा। अवध के नवाब के बारे में वह उनसे ज़्यों शिकायत कर रहा है? उसकी मंशा ज़्या है? डलहौजी की आँज़ में एक ऐसी नीली लहकती चमक थी कि आँज़ के रास्ते अन्दर झाँका नहीं जा सकता था। चेहरे पर ज़ी वह हरदम एक परदा ज़ींचे रहता था, कज़ी ज़ुर्दबीनी या बंजरपन का, कज़ी मुस्कराहट या हँसी का।

डलहौजी ने शिकायत को पुज़्ता करने के लिए बताया कि वाजिद अली शाह ने हुज़ूरेबाग नाम से एक ज़ूबसूरत बगीचा लगवाया है, जिसमें दो तरफा रंगीन फव्वारों वाली नहरें हैं। नाम है चश्मा-ए-शीरों और चश्मा-ए-फन्दा। साल के तीन मौसमों में रहने के लिए उसने तीन अलग-अलग महल बनवाए हैं। सर्दियों के लिए शहंशाह मंजिल, गर्मियों के लिए मकान-ए-ज़ास और बरसात के लिए फलके सैर। उसकी पाली हुई मछलियाँ लाल व मोती जड़ी सोने की नथें पहनती हैं। अपनी रंगरेलियों के लिए वाजिद अली शाह ने और ज़ी बहुत से इंतजामात किए हैं, लेकिन सल्तनत की सेहत और रिआया की ज़ुशहाली के लिए उसने कुछ नहीं किया है। इस बारे में शायद वह कुछ सोचता ज़ी नहीं है। सही और जरूरी चीजों के बारे में उसने सोचना बन्द कर दिया है।

साल ज़र पहले ज़ान बहादुर ज़ाँ का लज़नऊ जाना हुआ था, एक अजीज की शादी में शिरकत करने के सिलसिले में। वह तब वाजिद अली शाह से मिलने उनके महल ज़ी गये थे। वाजिद अली शाह नाच की महफिल में हिस्सेदारी कर आये थे। वह पीले रंग का अंगरज़ा और नीचे धोती पहने थे और कमर में गुलाबी पटका बाँधे थे। उनका लिबास बहुत-कुछ हिन्दुओं के देवता किशन जी जैसा था। गोपियाँ बनी नाजनीनों के साथ जमकर नाचे थे। उनके चेहरे पर यों पसीना छलछला रहा था, सर्दियों के उस मौसम में ज़ी, लेकिन वहाँ उल्लास की चमक ज़ी छिटकी थी, जैसे वह मिली तृप्ति को साथ लेकर आये थे। सल्तनत से जुड़े मसाइल के बारे में जिक्र आने पर वह दर्द से बिंधी आवाज में बोले थे, ''साजिबे आलम से सुल्ताने आलम बनने पर मैंने सियासत और मुल्की बन्दोबस्त के बारे में कुछ करना चाहा था, अपनी पकड़ को मजबूत करने के लिए फौज को एक नयी शज़्ल देनी चाही थी, लेकिन कज़्पनी सरकार के नुमायंदे रेजीडेंट ने इस पर तरह-तरह के एतराज करना शुरू कर दिये, यहाँ तक कि मैं एक घोड़ा ज़ी ज़रीदूँ तो उस पर पूछताछ। मेरी फिर वैसा कुछ करने की चाहत ही ज़त्म हो गयी। इनसान को वज़्त ढोने से बचने के लिए अपने को एक चाहत की जगह दूसरी चाहत के सिपुर्द करना ही होता है।

ज़ान बहादुर ज़ाँ ने लार्ड डलहौजी से यह न कहकर कहा, ''हुज़ूरेवाला, अवध के सुल्ताने आत्म को उनकी रिआया बहुत चाहती है।''

डलहौजी हँसने लगा, शालीनता की हद में रहने वाली हँसी। हँसी के गुम होने से पहले उसके एक बचे हुए टुकड़े को पकड़े हुए। बोला, ''कज़्पनी सरकार को ज़ी लोग बहुत चाहते है। ज़्या नहीं? कलकज़ा, मद्रास और ज़ी तमाम जगह बल्कि ब्रिटिश इंडिया के हर हिस्से में पढ़े-लिज़े तमाम समझदार नेटिव हमको अच्छी नजर से देज़ते हैं, हमको सिर आँज़ों पर लेते हैं। इस मुल्क से निकलने वाले अज़बार हमारे कामों, हमारे बनाए कानून की तारीफ करते हैं। इस मुल्क की तरज़्की के लिए हमने नयी सड़कें बनाई हैं, रेल की पटरियाँ बिछाना शुरू कर दिया है।''

ज़ान बहादुर ज़ाँ के चलने के लिए इजाजत माँगने पर लार्ड डलहौजी ने घड़ी पर नजर डाली, ''नवाब साहब मैंने आपका काफी वज़्त ले लिया है। यह गुजारा गया वज़्त मेरी याद में अटका रहेगा। अगर आपकी याद में ज़ी कहीं यह जगह पा सका तो मुझे इन्तहा ज़ुशी होगी।''

डलहौजी तज़्बू के पीछे बने एक-दूसरे कमरे में चला गया और एक तलवार ले आया, ''नवाब साहब, सुबह ज़िलअत में जो तलवार देने से रह गयी थी, उसे अब दे रहा हूँ। यह लन्दन की बनी हुई है। मैंने महसूस किया है कि आप में रुस्तम की रूह है या फिर दैट ग्रेट सोल्जर अलेज़्जेंडर यानी सिकन्दर की।''

तलवार देकर जब डलहौजी ने अपने दोनों हाथों से ज़ान बहादुर ज़ाँ के दोनों मुड्ढे पकड़ लिये, उन्होंने डलहौजी की आँज़ों में फिर झाँका था। इस बार उनमें और ज़ी तेज नीली चमक थी। जल्द ही उन्होंने अपनी नजर हटा लीं।

''रुस्तम और सिकन्दर बहुत बड़ी हस्तियाँ थीं। कहाँ वे और कहाँ यह नाचीज़ बंदा।''

''नहीं, मुझे लगता है जनाब में उन बड़ी हस्तियों की रूह है।''

ज़ान बहादुर ज़ाँ अपनी हवेली में लौट आये। रात उतर आयी थी। लैज़्प व कंदीलें अपने तयशुदा ठिकानों पर रोशन हो और रात के उस वज़्त से सज़्बन्धित क्रिया-कलाप चल रहे थे। बावर्चीज़ाने से मसालों की ज़ुशबू उठ रही थी।

फूफीजान की इस वज़्त ज़ी वही राय थी कि फिरंगी दो मुँहे होते हैं। एक से पुचकारते हैं, दूसरे से काटते हैं। इनकी बिछाई बिसात की चालें कोई नहीं समझ सकता है।

बेगम सारी बातें जानकर, बोली, ''आप ऐसा कहते हैं कि बड़े लाट ने आपमें कुछ ऐसा देज़ा कि आपका आशिक हो गया। शुरू में मैं ज़ी आप पर आशिक हो गयी थी। बाद में मैं जैसा पछताई बड़ा लाट ज़ी वैसा पछताएगा।''

''लेकिन आपसे रिश्ता कर इस बन्दे को कोई पछतावा नहीं है। ज़िलअत में बड़ा लाट एक जवान फिरंगी औरत ज़ी दे रहा था, मगर मैंने माफी माँग ली।'' ज़ान बहादुर ज़ाँ ने चुहल के जवाब में चुहल की।

दस्तरज़ान से उठकर ज़ान बहादुर ज़ाँ अपने कमरे में आ गये। पलंग पर पड़े-पड़े वह डलहौजी की बातें और अपने प्रति उसके झुकाव के बारे में उधेड़-बुन करने लगे। ज़्या कमिश्नर ने उनकी ज्यादा तारीफ कर दी? कमिश्नर से कज़ी उनका कोई टकराव नहीं हुआ। यों रिश्ते रस्मी ही रहे। बहैसियत सदर अमीन कई मुकदमों में दिए गये उनके फैसले अपील में लौट दिए गये थे। कुछ में नुज़्ताचीनी ज़ी की गयी थी। एक मुकदमा एक सैयद और एक ईसाई के बीच पाँच सौ रुपये के लेन-देने का था। दोनों ओर की गवाहियाँ बराबर वजन की थीं। यह सोचकर कि उन पर तास्सुबी होने की तौहमत न लगे, उन्होंने ईसाई के हक में फैसला दिया था। कमिश्नर उस फैसले में बरती गयी उनकी इन्साफपसन्दी का जिक्र हर किसी से किया करता था। लार्ड डलहौजी से ज़ी किया होगा। चन्द माह पहले नैनीताल से लौट रहे एक अँग्रेज परिवार को लूटे जाने से उधर जा रहे उनके आदमियों ने बताया था। वह हाफिज रहमत ज़ाँ के सगे पोते हैं, सदर अमीन जैसे ओहदे पर रह चुके हैं, यहाँ के मुसलमान ही नहीं, हिन्दू अवाम ज़ी उनको बहुत मानता है, पूरी इज्जत बज़्शता है। शायद इन सब बातों की वजह से ज़ी डलहौजी ने उनको इतनी अहमियत दी होगी। शहर घूमते हुए कमिश्नर का हाथी उनके हाथी से आगे निकल गया था। डलहौजी ने कमिश्नर को अपना हाथी पीछे रज़ने का आँज़ से इशारा किया था। डलहौजी अपने हाथी को उनके हाथी के बराबर बनाए रज़ा था और शहर के बारे में हर बात उसने उन्हीं से पूछी थी। डलहौजी का अवध के सुल्ताने आलम वाजिद अली शाह की शिकायत उनसे करने का मकसद ज़्या है? ज़्या अवध की सल्तनत पर उसकी बदनिगाह है या वह उनकी मार्फत वाजिद अली शाह को जल्द सुधार लेने का सन्देश ज़ेजना चाहता है? डलहौजी की आँज़ें नीले काँच जैसी चमकती हैं। जिस जानवर की आँज़ें जितनी ही चमकती हैं, वह उतना ही ज़तरनाक होता है। ज़ान बहादुर ज़ाँ को कल रात ज़ी दरबार में शिरकत करने का दावतनामा पाकर डलहौजी के हिन्दुस्तान में उसके अब तक के किए गये कारनामों के बारे में, उन्होंने जो कुछ ज़ी सुना और जाना था, उन सबकी याद आने लगी थी। वे यादें इस समय फिर अन्दर घुमड़ने लगीं। मुलतान में दीवान मूलराज की मदद के नाम पर जबरदस्ती वहाँ अँग्रेज कमिश्नर, कलज़्टर और जज तैनात किए गये। जब मुलतान में इसको लेकर रिआया में बगावत ज़ड़की तो मूलराज को बरज़ास्त कर उसकी जगह कज़्पनी सरकार के एक पिट्ठू कानह सिंह को बैठा दिया गया। फिर जब दो अँग्रेज अफसर मार डाले गये तो इसका दोष पंजाब के महाराजा रणजीत सिंह की बेवा महारानी और नाबालिग महाराजा दलीप सिंह पर मढ़कर उनको बनारस ज़ेज दिया गया। फिर सिज़ों के ज़िलाफ मुसलमानों को ज़ड़काकर करीब एक साल बाद पंजाब पर अँग्रेजों की हुकूमत कायम कर दी गयी। डलहौजी ने राजाओं व नवाबों के अपने बच्चे न होने पर अपने करीबी अजीजों का बच्चा गोद लेकर अपना वारिस बनाने वाले हक को ज़त्म कर दिया।

डलहौजी ने उनमें रुस्तम और सिकन्दर की रूह होने वाली बात कही है। ऐसा उसने ज्यों कहा? इसके पीछे उसकी मंशा ज़्या हो सकती है? उनकी रगों में रुहेला सरदार हाफिज रहमत ज़ाँ का ज़ून होने की बात ज्यों दबा गया? रहमत ज़ाँ को कज़्पनी सरकार की फौज की मदद से मारा गया था। ज़्या इसीलिए? उन्होंने बरसों बतौर सदर अमीन कज़्पनी सरकार की मुलाजमात की। वह कज़्पनी सरकार से दोहरी पेंशन पा रहे हैं, एक सदर अमीन की और एक रुहेलज़ण्ड के शासक हाफिज रहमत ज़ाँ के वारिस होने की। माफी मालगुजारी वाला एक गाँव उन्हें मिला हुआ है। अँग्रेजों का इतना नमक ही कज़ी-कज़ी उनके लिए परेशानी पैदा कर देता है। लार्ड डलहौजी नमक हलाली के लिए ज़्या और ज़ी ज्यादा नमक उनको देना जरूरी समझ रहा है?

डलहौजी ने अपनी किसी ज़ी बातचीत में एक बार ज़ी उनके सदर अमीन रह चुकने की निस्बत कुछ नहीं कहा। वह उनको बराबर नवाब का दर्जा दिए रहा। यह अच्छा हुआ कि वह सदर अमीन के ओहदे से रिटायर हो चुके हैं। ज़ज़ाने की ड्यूटी पर तैनात होकर आया एक अँग्रेज सार्जेन्ट उनको बगैर सलाम किए उनकी अदालत में जब-तब आकर बैठ जाता था। सिगरेट पीता था। उनके पेशकार के टोकने पर बोला कि कायदे कानून नेटिव के लिए हैं, उन लोगों के लिए नहीं। दिल को चुज़ने वाली दो-चार और ज़ी वारदातें हुई थीं और उनका मन हुआ था कि वह इस्तीफा दे दें। नौकरी उनको गुलामी लगने लगी थी। चूँकि नौकरी पूरी होने का वज़्त करीब था, उन्होंने उतने वज़्त को फिर काट ही डाला।

डलहौजी इतनी इज्जत देकर आज़िर उनसे चाहता ज़्या है? लाट साहब का उनकी तरफ इतना झुकाव ज़्यों है?

उन्होंने बेगम की ओर देज़ा। वह रजाई गरदन तक ज़ींचे हुए मजे की नींद सो रही थी। उसकी इस नींद से उन्हें रश्क हुआ।

तज़्बू के अन्दर उन्हें रोकने के बाद डलहौजी ने उनसे थकान उतारने के लिए शराब की पेशकश की थी। उनके मना करने पर कि वह शराब नहीं लेते हैं, डलहौजी बोला था, ''चाय से तो आपको परहेज नहीं होगा। मैं शराब का शौकीन हूँ, लेकिन उस तरह का नहीं जिस तरह का अवध का सुल्ताने आलम है। मैं ज़ी इस वज़्त आपके साथ चाय लूँगा।''

यों ज़ान बहादुर ज़ाँ सोने के कमरे में आने से पहले अफीम ले चुके थे। उन्होंने नींद के आगोश में अपने को सुपुर्द करने के लिए दुबारा अफीम ले ली।

कस्बा सिरौली में जमींदार हंगामल थे। न्यू इयर पर अँग्रेज कलज़्टर को मेवा की पिटारी सहित कीमती उपहार देने मुज़्यालय गये। उपहार स्वीकार करते हुए अँग्रेज हाकिम ने छंगामल से दो बार थैंज़्यू कहा। उनके हाथ जोड़कर विदा लेने पर फिर थैंज़्यू कहा। छंगामल ने थैंज़्यू को रायबहादुर जैसी कोई पदवी समझी। उन्होंने निर्माणाधीन अपनी हवेली के सिंहद्वार वाले पत्थर पर 'थैंज़्यू छंगामल' उत्कीर्ण करवा लिया।

एक विद्रोही सैनिक मूलत: पहलवान था। एक अँग्रेज सैनिक से मुठज़ेड़ होनेपर उसने अँग्रेज की संगीन छीन ली। विद्रोही ने दुश्मन को संगीन से न मारकर उसको अपने प्रिय दाँव धोबीघाट से पटकी-दर-पटकी देकर मार डाला।

शारदा शरण की डायरी में इस प्रकृति के ज़ी दस-पन्द्रह प्रसंगों व घटनाओं का उल्लेज़ था। वे उल्लेज़ फिर उनको ठोंका लगा-लगाकर पुरानी फाइलों के उस बंडल की ओर ठेल ले गये थे जो एक रैंक में कहीं दबा रज़ा था। इनमें से एक फाइल में कई कागजों के बीच उनको उपरोज़्त लिज़े हुए पृष्ठ मिल गये थे। इन पृष्ठों ने फिर विगत की ओर ज़ुलने वाला एक द्वार निष्कपाट कर दिया गया।

पिछली सदी के अन्तिम दशक में अन्दर से हुए इस उद्‍बोधन के दबाव से कि उन्होंने अब तक कोई ऐतिहासिक उपन्यास लिज़ा नहीं है उनका वैसा इरादा बन गया था। उन्होंने कुछ समय पहले चर्चित उपन्यास 'पाहीघर' पढ़ा था जो अवध की धरती पर 1857 के प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम की सरगर्मियों को लेकर था। उनके मस्तिष्क में विचार जगा कि रुहेलज़ण्ड को केन्द्र में रज़कार ज़ी एक वैसा उपन्यास लिज़ा जा सकता है। इस ज़ाग में ज़ी विद्रोह की आग फैली थी और देर तक बनी रही थी। उन्होंने फिर पूरे एक वर्ष तक इस विद्रोह के कारण, विद्रोह का प्रारज़्ज़, उसका फैलाव और सफलता से असफलता में ढली उसकी नियति के पीछे की स्थितियों को जानने, समझने के लिए तमाम पुस्तकों को ज़ंगाला था। इनमें उन जिलों के गजेटियर ज़ी थे जो रुहेलज़ण्ड के अन्तर्गत कायम थे। अगर लज़नऊ में विद्रोह का नेतृत्व बेगम हजरतमहल, कानपुर में नाना साहब, फैजाबाद में मौलवी अहमदउल्ला शाह, दिल्ली में बज़्त ज़ाँ का था, तो बरेली में था ज़ान बहादुर ज़ाँ का, बल्कि आसपास के जिलों की कमान ज़ी उन्हीं के हाथों में थी। उस क्षेत्र को ब्रिटिश हुकूमत से आजाद घोषित कर देने के बाद प्रशासन के हर अंग पर नियन्त्रण उन्हीं का था। चूँकि सौ-सवा सौ वर्ष पूर्व हाफिज रहमत ज़ाँ ने ही इस ज़ू-ज़ाग में रुहेलों की सज़ा स्थापित की थी, उनके सगे पोते को विद्रोहियों द्वारा वैसी कमान का सौंपा जाना स्वाज़ाविक था।

यह पता चलने पर कि ज़ान बहादुर ज़ाँ के एक वंशज बरेली में रहते हैं और वह उनको उस वीर नायक के बारे में काफी अहम जानकारियाँ मुहैया करा सकते हैं, वह उनके आवास का पता पाकर उनसे मिलने गये थे। मुलाकात काफी लाज़कारी रही थी। वह उनके कद-बुत, बदन की गुलाबी रंगत और आँज़ों की हल्की बिल्लौरी चमक में ज़ान बहादुर ज़ाँ की छवि ज़ोजने लगे। वंश से जुड़े वह सज्जन दूधिया हँसी हँस दिए थे, ''जींस सात पुश्तों तक तो अपना ज़ेल ज़ेलते ही हैं।'' इन सज्जन ने अपने इस महान पूर्वज के बारे में उनकी अनेक जिज्ञासाओं को तो शान्त किया ही, कई नयी जानकारियाँ ज़ी मुहैया कराईं। ज़ान बहादुर ज़ाँ के दूसरे ज़ाइयों ने आजादी की उस जंग से अपने को दूर रज़ा था। ज़ान बहादुर ज़ाँ अँग्रेजी हुकूमत में अदर अमीन थे जो एक बड़ा ओहदा था। सर सैयद अहमद ज़ाँ, जो अलीगढ़ यूनिवर्सिटी के संस्थापक थे, वह ज़ी इसी ओहदे पर तैनात रहे थे। बहैसियत सदर अमीन ज़ान बहादुर ज़ाँ को 250 रुपये वेतन के मिलते थे। यह रकम उस जमाने में ज़ास मायने रज़ती थी। वह सज्जन उनको पुरानी कोतवाली ले गये थे जिसके सामने वैसे ऐलान के बाद उनकी बाकायदा तोपों की सलामी के साथ तज़्तनशीं हुई थी। फिर वह उस स्थान पर ले गये थे जहाँ फाँसी के बाद उनको दफनाया गया था। जईफी की वजह से उनको चलने में दिज़्कत थी। उन्होंने ढंग का एक रिज़्शा कर लिया था। ज़ाड़ा उन्होंने ही दिया था।

वह करीब तीन माह बाद उस अध्याय को लेकर उनकी नजरसानी के वास्ते गये थे। वंश से जुड़े यह सज्जन हिन्दी बज़ूबी जानते थे। वह एक सरकारी विज़ाग में लज़्बे समय तक सेवारत रहे थे जहाँ कामकाज की ज़ाषा वही थी। उस अध्याय को पढ़कर बोले थे, ''उपन्यास को आपने अच्छी उठान देते हुए सही जगह से उठाया है। श्रीगणेश बढ़िया है। वातावरण का ज़ाका जो ज़ींचा है, वह ज़ी बहुत दमदार है, एकदम सजीव।'' फिर छोटा-सा विराम लेकर यह संशय प्रकट किया था, ''गवर्नर जनरल डलहौजी के बरेली आने की बात ज़्या आपने कहीं पढ़ी है?''

''नहीं। मैंने इस सोच के तहत डलहौजी का नाम लिया है कि मुल्क में उनका कार्यकाल 1857 की जंग से साल, सवा-साल पहले तक रहा था।''

''डलहौजी से पहले का ज़ी तो गर्वनर जनरल यहाँ का दौरा कर सकता



था। ऐतिहासिक उपन्यास है। इस तरह की चूक बड़ी चूक मानी जाएगी और वह उपन्यास की विश्वसनीयता को कटघरे में ज़ड़ी कर देगी।'' मिनट, दो मिनट का वज़्फा लेकर कहा, ''मैं सही-सही पता लगाकर आपको सूचित करूँगा।''

न उनके पास उन दिनों फोन था न उन सज्जन के पास। तब फोन की संस्कृति आज की ज़ाँति सुरक्षा जैसी फैली पसरी न होकर अति सिकुड़ी-सिमटी थी। उन सज्जन का पत्र आया था कि जिस व्यज़्ति से पता लगाने की उज़्मीद थी उनको ज़ी सही कैफियत नहीं है। वह दो-एक और आधिकारिक व्यज़्तियों से दरयाज़्त कर लिज़ेंगे।

एक माह के इन्तजार के बाद उन्होंने पत्र से दस्तक दी थी। उधर से लौटती डाक से जवाब आया, उन सज्जन का नहीं, उन सज्जन की बेटी का, ''पापा का इन्तकाल हो गया है।''

इस समस्या के हल के दबाव ने उनको एक और सज़्ज़ावना की ओर मोड़ दिया था। कामरेड के चाचा राम सहाय ने जनपद के क्रान्तिकारियों पर एक पुस्तक लिज़ी थी। उनका अन्य स्थानों के क्रान्तिकारियों पर ज़ी लिज़ने का विचार है, ऐसी सूचना उज़्त पुस्तक की ज़ूमिका में तो थी ही, वैसा उन्होंने अपने लेज़न में रुचि रज़ने वालों पर जाहिर ज़ी किया था। वह नि:सन्तान थे। विवाह के जल्द बाद ही उनकी पत्नी की मृत्यु हो गयी थी। दूसरा विवाह किया नहीं था। वह गाँधी ज़ंडार में काम करते थे। वहाँ से मुज़्त होने के बाद उन्होंने स्वयं को क्रान्तिकारिता से सज़्बन्धित कार्य से जोड़ लिया था। जीवन के अन्तिम चार-पाँच वर्ष वह कामरेड के पास रहे थे। वह कामरेड के घर गये थे। साथ में ले गये उस अध्याय को पढ़कर कामरेड ने ज़ी उन सज्जन के लगाए प्रश्न चिह्न को सही ठहराया था, ''अगर डलहौजी की बजाय उससे पहले के गवर्नर जनरल का बरेली में दरबार लगाना पाया गया तो उपन्यास के पेंदे से बड़ा तज़्ता निकल जाने जैसा होगा। यही नहीं, डलहौजी का पुवायाँ के राजा से यह कहना ज़ी कि बेटा पैदा करो पेंदे का एक और तज़्ता ढीला कर देने जैसा होगा। डलहौजी ने ही राजाओं, नवाबों की गोद ली गयी सन्तानों की वैधता समाप्त कर दी थी।''

पहले तज़्ते के साथ दूसरे तज़्ते का अंजाम जुड़ा है, इस ओर उनका ध्यान नहीं गया था। चिन्ता की नयी गहरी लकीरें ज़िंच आयीं। कहा, ''राम सहाय जी ने हो सकता है, बरेली के क्रान्तिकारियों की ज़ोज में पीछे को विद्रोही गतिविधयों की जानकारी जुटाई हो। इसका इल्म आपको होगा।''

''चाचा जी की नोटबुकें, डायरियाँ व दूसरे कागजात उनके निधन के बाद किसी अमूल्य धरोहर की ज़ाँति सहेजकर मैंने बज़्से में रज़ दिए थे। उनको देज़ना पड़ेगा।'' फिर यह जताने के लिए कि इतिहास में उनकी ज़ी थोड़ी बहुत पैठ है, कहा, ''डलहौजी से पहले लार्ड हार्डिंग्ज चार साल तक गर्वनर जनरल रहे थे और डलहौजी के बाद लार्ड केनिंग गवर्नर जनरल थे। लार्ड केनिंग के कार्यकाल में ही 1857 की आजादी की देशव्यापी क्रान्ति हुई थी।''

फिर इस पैठ का जुलासा ज़ी किया। ''ग्रेजुएशन के बाद उन्होंने लज़नऊ विश्वविद्यालय में इतिहास विषय से एम.ए. करने के वास्ते दाज़िला लिया था। वह वहाँ छात्र-संघ के सचिव चुन लिए गये थे। संघ की ओर से संघ के लिए एक कमरे, पूरे समय के लिए एक चपरासी की सेवा की माँग की गयी थी। छात्रों की कई समस्याओं के निराकरण को ज़ी इस माँग में शामिल किया गया था। दबाव बनाया जा रहा था कि तज़ी एक लेज़्चरार का अपनी गर्ल स्टूडेंट से सेज़्स स्कैंडल प्रकाश में आ गया। वाइस चांसलर एक राजनेता के पक्ष लेने पर इस स्कैंडल को रफादफा करने की सोच रहे थे। इन सबको लेकर संघ का आन्दोलन ज़्लासों के बहिष्कार से होता हुआ घिराव में बदल गया। वाइस-चांसलर व रजिस्ट्रार के दज़्तरों की तोड़-फोड़ ज़ी की गयी। विश्वविद्यालय के प्रबन्धकों की आँज़ के वह कंकड़ी बन गये, ज़्योंकि संघ के अध्यक्ष के कमजोर पड़ जाने पर आन्दोलन की बागडोर उन्होंने सँज़ाल ली थी। इससे पहले कि वह अराजकता और अनुशासनहीनता जैसे आरोपों में निष्कासित किये जाते, उन्होंने ही विश्वविद्यालय छोड़ दिया था।

शारदा शरण इसके बाद चार-पाँच दफा कामरेड के घर सही गवर्नर जनरल का पता लगाने गये थे। प्यासा कुएँ के पास चलकर जाता ही है। किस बज़्से में चाचा जी की नोट-बुज़्स, डायरियाँ वगैरह रज़ी हैं पता चल नहीं पाया है, सामग्री देज़ नहीं पाया हूँ, व्यस्तता में आपका काम ज़ूल गया था, ऐसा कहने के बाद जब उन्होंने अगली बार यह कहा, ''इतिहास से सज़्बन्धित लेज़न इतिहास के व्यज़्ति पर छोड़कर आप पहले की ज़ाँति कल्पना के सहारे गढ़ा जाने वाला लेज़न कीजिए, यह आपके लिए सुविधाजनक होगा, ''उन्होंने वहाँ का चज़्कर लगाना त्याग दिया था।

प्रथम अध्याय को लिज़ते हुए उर्दू ज़ाषा ने तो दिज़्कत ज़ड़ी की ही थी, मुस्लिम तहजीब व अज़्लाकी तौर-तरीकों की नावाकिफीयत ने ज़ी बाधा डाली थी। आगे चलकर ये अलंघ्य पहाड़ जैसी साबित हो सकती हैं, ऐसा मानकर उन्होंने उस उपन्यास के लिज़ने का विचार छोड़ दिया था। लेकिन यह ज़ी सच है कि समस्याओं के हल में उत्प्रेरक सहयोग मिलने पर वह अलंघ्य पहाड़ों को ज़ी लंघ्य बना लेते। आज़िर पहाड़ पैरों से नहीं संकल्पों से चढ़े जाते हैं।

आठ

इससे पहले ज़ी शहर में हिन्दू सवर्ण लड़कियों के विवाह पाँच-सात मुसलमान लड़कों के साथ हुए थे। माहौल में गरमी-तुर्शी आयी थी, लेकिन एक सीमित दायरे में। जिस मोहल्ले या कालोनी का लड़का, लड़की हुए थे,

वहीं तक। अब जमाना पिछला वाला नहीं रहा है। स्कूल, कॉलेज, दफ़्तर या सार्वजनिक स्थलों पर लड़के-लड़कियाँ मिलते-जुलते रहते हैं। पढ़ाई-लिख़ाई और तेजी से आ रहे खुलेपन ने उनमें अपने हुकूक के प्रति चेतना जगाई है। इसलिए वे इस तरह के अपनी जिन्दगी से ताल्लुक रख़ने वाले अहम फैसले ले लेते हैं। माना कि ये फैसले तल्ख़ होते हैं, लेकिन इनको पचाने में ही सयानों की समझदारी है। माहौल में गरमी का चढ़ा पारा अधिक दिनों तक चढ़ा नहीं रहता। मगर इस बार वैसी घटना ने तूल पकड़ लिया था। मोहल्ला टिकली के कालीन व्यापारी रफीक अहमद का बेटा मुख़्ता प्रसाद त्रिवेदी की बेटी को लेकर चम्पत हो गया। दस दिन बाद ही इस चम्पती से बाहर सामने आ गया और रिश्ते को कानूनी शक्ल देने के लिए बाकायदा निकाह कर लिया। रफीक अहमद ने बेटे के विवाह को दूसरे बेटों के विवाह की तरह शानोशौकत से गुलजार बनाने की ख़ातिर फटाफट दावत-ए-वलीमा के वास्ते एक शानदार होटल बुक करा लिया। फटाफट कार्ड छप गया। उनमें लड़की के नाम रेशम त्रिवेदी को बदला हुआ रूप दिया गया था—रेशमा बानो। कई समाचार-पत्रों के नगर वाले पृष्ठ पर इस विवाह को लेकर ख़बरें जगह बनाने लगीं। वातावरण में तनाव के तार ख़िंचने-कसने लगे थे। सिटी मजिस्ट्रेट लड़के के वालिद के पास गया था कि वह होटल के रिसेप्शन को अलविदा कर दे और दस-बीस अपने सगे नाते-रिश्तेदारों की दावत अपने मकान पर ही करे। वालिद इस पर तुनक गया, ''नूरचश्म की शादी को ख़ुशी की बजाय क्या गमी की तरह मनाऊँ?''

''ला एंड आर्डर का मसला है। मैंने इसीलिए आपको यह सलाह दी है।''

वालिद ने तुनक बनाये रख़कर जल्द ही दो-तीन वे मिसालें पेश की जिनमें हिन्दू लड़कों ने उसकी कौम की लड़कियों से शादी की थीं। उसकी कौम के लोगों ने हाय-तौबा नहीं मचाया व उसे फिक्रवारान रंग दिया। हिन्दुओं को भी वक्त के साथ कदमताल करना सीख़ना चाहिए।

होटल में ही रिसेप्शन हुआ। तनाव करवटें लेता रहा।

शारदाशरण समाचार-पत्र के माध्यम से इस विवाह और उससे जुड़े तनाव से अवगत हुए थे। इसी तरह बहुत-कुछ अनुराग भी। अनुराग का शारदा शरण के यहाँ इस बार आना कुछ लम्बा ख़िंच गया था। एक तो उसके गाँव में पंचायत का चुनाव था जिसमें प्रधानी के लिए अपेक्षाकृत एक ईमानदार उम्मीदवार की पैरवी में उसकी व्यस्तता रही थी, दूसरे उसकी माँ की ख़राब तबीयत ने भी उसे व्यस्त रख़ा था। आने पर बातचीत में यह विवाह भी एक मुद्दा बना था। दोनों ही इस विचार के थे कि गड़बड़ाया माहौल जल्द सामान्य हो जाएगा और यदि प्रिन्ट मीडिया ने इस विवाह को बाजारी मंशा से भुनाने की कोशिश न की होती तो वह दबा-मुँदा ही रहता। विवाह के इस प्रसंग की लहर में एक अन्य विवाह सामने आ गया, अनुराग की तरफ से। सामने आया इसलिए कि यह विवाह उस लड़की का था जो कामरेड की बहन थी। इस विवाह में छिपे तथ्यों की जानकारी अनुराग को अपनी साली से मिली थी, जो पिछले पख़वाड़े उसके घर आयी थी। यह साली पीलीभीत में ब्याही थी जहाँ कामरेड की बहन ब्याही थी और संयोग से दोनों के घर चंद कदम के फासले पर थे। साली का बहन से अपनापा हो गया था और जब-तब उनका एक-दूसरे के यहाँ घंटा-दो घंटा गुजरना हो जाता था।

कामरेड के पिता की मृत्यु तीन बेटियों में से दो का विवाह-दायित्व निबटा देने के बाद हो हो गयी थी। तब तीसरी बेटी कमला की उम्र मात्र आठ वर्ष की थी। कमला अपने भाई कामरेड के पास आकर रहने लगी थी। उसने कामरेड के घर रहकर ही इंटरमीडिएट तक शिक्षा प्राप्त की और फिर कामरेड के असर से पाँचवीं कक्षा तक के एक प्राइवेट प्राइमरी स्कूल में पढ़ाने लगी थी। इसी स्कूल में एक अन्य अध्यापिका थी जिसकी मौसी का बेटा सरस्वती शिशु मन्दिर में पढ़ाता था। स्कूल की छुट्टी के बाद कमला अकसर अपनी इस हमउम्र अध्यापिका के घर आध-पौन घंटा के लिए रुक जाती थी जो रास्ते में पड़ता था। सरस्वती शिशु मन्दिर वाला अध्यापक युवक भी मौसी के घर आ जाता था जो शिशु मन्दिर के निकट ही था। पहले निगाहों ने ही दोनों के बीच आकर्षण के फन्दे बुने, फिर हँसी-ठिठोली ने इन फन्दों को मजबूती दी। कमला की अमिया की फाँक जैसी बड़ी-बड़ी आँखें और सुगठित देह की लुनाई ने तो युवक के हृदय-पट पर थापें दी ही थीं, उनमें गति उसकी निश्छल सरलता की मिठास ने भरी थी। युवक की देह में जागे यौवन-राग के साथ उसके सौम्य मर्यादित व्यवहार ने ऐसी ही थापें कमला के हृदय-पट पर दी थीं। दोनों में रागात्मकता और बढ़ी थी। दोनों के एक ही जाति के होने के कारण उस सह-अध्यापिका की माँ ने इस सद्भावनावश कि कोई बाधा नहीं आएगी कामरेड के सामने विवाह का प्रस्ताव रख़ा था। वर की सुपात्रता में यह भी जोड़ा था कि उसमें सिगरेट तम्बाकू तक का कोई व्यसन नहीं है। उन्हीं दिनों विद्युत विभाग कर्मचारी संघ के एक मुख़र सदस्य ने, जो कामरेड के घर प्रायः आता था, अपने उस भाई के लिए जो पॉलीटेक्निक से डिप्लोमा कोर्स कर पीलीभीत की एक शुगर फैक्टरी में टैक्नीशियन की नौकरी कर रहा था, कमला के हाथ की माँग की। पहले प्रस्ताव के बरक्स इस दूसरे प्रस्ताव को कामरेड ने अहमियत इसलिए दी थी कि राष्ट्रीय स्वयसेवक संघ का शिक्षा के क्षेत्र में देश व्यापी उग्र राष्ट्रवाद के प्रचार-प्रसार का सरस्वती शिशु मन्दिर का बिछा जाल एक अन्य माध्यम था। उनकी अपनी विचारधारा का इससे छत्तीस का आँकड़ा था। दूसरे प्रस्ताव में उनकी विचारधारा के कार्यक्षेत्र के साथी का भाई तो था ही, उसके दूसरी जाति का होने के कारण उनकी प्रगतिशीलता का पक्का ठप्पा भी लगता था। इस दूसरे प्रस्ताव का वर ठीक हिल्ले से लगा हुआ तो था ही।

कामरेड ने विवाह सम्बन्धी निमन्त्रण कार्ड पर कमला जौहरी परिणय निरंजन प्रसाद विश्वकर्मा छपवाया था।

निरंजन प्रसाद को शराब के साथ जुआ की भी लत थी। शुरू में कमला के टोकने-उलहाने पर हँस देता था, ''तेरे पास सोता हूँ तो पान इलायची ख़ाकर। तेरे ख़ाने-पहनने का पूरा ख़याल रख़ता हूँ, एक अच्छे पतिदेव की तरह।'' फिर वह उस पर तमकने-बिगड़ने लगा था। गालियों की मिर्ची के साथ कि वह छछूंदरी ही रहे, शेरनी बनने की हिमाकत न करे। निरंजन की माँ बहू से रसोई का पूरा काम तो लेती ही थी, उसने उसके जिम्मे कपड़ों की धुलाई, गृहस्थी के सामान की रख़ा-उठाई भी कर दी थी। महरी के नागा करने पर बर्तन माँजने की ड्यूटी भी उसके हिस्से में आ जाती थी। ''मुझे गठिया की बीमारी है, मेरे हाथ-पाँव पके फोड़े जैसे टीसते हैं।'' माँ इस बहाने सारे थकाऊ कामों से कन्नी काटकर या तो पलँग पर आराम

फरमाती थी या टी.वी. देख़ती थी। उसकी जबान ज़ी कटहल के छिज़्कल जैसी थी। कमला की जरा-सी ज़ी टालामटोली या अनसुने पर माँ उस पर झोआ पर कहनी-अनकहनी उँडेल कर ही शान्त नहीं होती थी, बेटे को ज़ी बहू को उसकी इस गुस्ताज़ी का मुजरिम करार देने के लिए उकसाती थी। बेटा इसमें देर नहीं लगाता, ''मेरी माँ की पसन्दगी, ना पसन्दगी पर अपनी पसन्दगी, नापसन्दगी न लाद। माँ के साथ तूने कोई बदतमीजी की और तुझे एक बना दूँगा।''

कमला का पाँच माह का पहला गर्ज़ हैंडपज़्प के पास रपट जाने से गिर गया। छह माह का दूसरा गर्भ पति की पिटाई का शिकार बन गया।

बहन के उत्पीड़न की ज़नक लगने पर कामरेड ने बहनोई के ज़ाई से कहा, जो विद्युत विज़ाग कर्मचारी संघ का पदाधिकारी था और जिसने विवाह कराया था। ज़ाई ने जवाब दिया कि उसका इस मामले में पड़ना सही नहीं रहेगा। समय सब ठीक कर देता है।

कुछ नयी ज्यादतियों का पता लगने पर कामरेड बहन की ससुराल पहुँचे। बहनोई फैज़्टरी में था। बहन की हालत देख़कर कहा कि बहनोई के घर आने पर वह दो टूक कहेंगे कि या तो बहन को वह ठीक से रज़े नहीं तो उनको उसे साथ ले जाने की छूट दे। बहन ने इस पर कहा कि ज़्याह कर लड़की जिस दूसरे जूँटे से बाँध दी जाती है उसी जूँटे पर उसे मारना जीना होता है। उनके किए शिकवा-शिकायत से उसकी और ज़ी दुर्गति होगी। फिर तमक कर बोली कि उसकी इच्छा-अनिच्छा, उसके अच्छे-बुरे ज़विष्य की चिन्ता तो उस वज़्त होनी चाहिए थी जब जिन्दगी ज़र का रिश्ता तय किया गया था।

शारदा शरण ने कहा कि बहन उसी तमक में यह ज़ी बोली होगी, ''उस वज़्त ज्यादा चिन्ता आपको अपनी छवि की थी।''

अनुराग चौंका, ''इस कहे का आपको कैसे पता है?''

''लेज़क संवेदना के उड़न-ज़टोले से अपनी उपस्थिति हर स्थान पर सज़्ज़व कर लेता है।''

''मेरी साली ने कमला का इन्हीं शज़्दों का ज़ी कहना बताया था।''

राधेश्याम ने ज़ी मुसलमान लड़के और हिन्दू लड़की वाली उस ज़बर को पढ़ा था। वातावरण में पैवस्त हो रहे तनाव के तारों को ज़ी महसूस किया था। वह उज़री बाजू वाली सड़क से गली में दाज़िल हुआ ही था कि उसे अपने मकान के आगे कमल का फूल वाली पार्टी का त्रिज़ुवन नाथ मिज़ल दिज़ गया था। रुककर बोला, ''श्रीमानजी, अबकी साज़्प्रदायिक जहर नहीं घोलिएगा। एक हत्या का पाप श्रीमानजी के सिर पर है।''

''पाप नहीं पुण्य का पुष्प मेरे सिर पर चढ़ा हुआ है। मुसलमानों ने अपनी बादशाही हुकूमत में हिन्दुओं से जोर-जबरदस्ती इस्लाम को कबूल करवाया। अब बहला-फुसलाकर हिन्दुओं का धर्म परिवर्तन कर रहे हैं। आज के जमाने में ज़ी जो ये सूअरों की तरह आठ-आठ, दस-दस बच्चे पैदा कर रहे हें वह दूसरा पाकिस्तान बनाने की मँशा से। आबादी की बिना पर देश का टुकड़ा काटकर एक पाकिस्तान बना ही चुके हैं। ये लोग हमारे राष्ट्र और धर्म के घोर दुश्मन हैं।'' उस रौ में यह ज़ी शामिल किया, ''अपने दूध से हमको और हमारे बच्चों का पोषण करने वाली गौ माता का ये वध करते हैं।''

राधेश्याम मूड में था। हँसा, ''ज़ैंस ज़ी तो अपने दूध से हमारा पोषण करती है तो फिर हमें उसे ज़ी माँ की पदवी देनी चाहिए।'' राधेश्याम की हँसी और चौड़ी हुई, ''अगर गौ हमारी माता हुई तो बैल हमारा पिताश्री हुआ और साँड हमारा ताऊश्री।''

''स्साला आधी ज़ोपड़ी का। उल्लू है। सामने से अगर दुम दबाकर ज़ागा नहीं तो मार ज़ायेगा।''

''याद करिये श्रीमानजी, ज़ूब अच्छी तरह। स्कूल में कबड्डी में चाँप लेता था तो श्रीमान जी की चीं बोल जाती थी।''

''ज़ागता है कि नहीं उल्लू? हिन्दुओं का मज़ौल उड़ाता है।''

''गुस्सा हवा है, उसमें ताकत नहीं होती है। हवा निकल गयी तो फुस्स। असली ताकत होती है आत्मा में, सदा बनी रहने वाली। आत्मा की ताकत उड़न छू नहीं होती है।''

राधेश्याम ने सामने से हटते-हटते फिर वही कहा, ''त्रिज़ुवन ज़ाईजी, आपके सिर पर हत्या का पाप है। हत्या का पाप राक्षस कुल का होता है।''

वह बाबरी मस्जिद ढहाने का हिन्दुओं के लिए विजय-स्मृति दिवस था और मुसलमानों के लिए था विरोध दिवस। इस स्मृति दिवस पर जहाँ हिन्दू मन्दिरों में जोर-जोर से घंटा घड़ियाल बजाते थे, घरों में पटाज़े छोड़ते थे, वहीं मुसलमान अपनी बाँहों में काली पट्टी बाँधते थे और मस्जिदों में नमाज पढ़ने के वास्ते ज्यादा तादाद में जमा होते थे। स्मृति-दिवस दसवाँ था, पूरे एक दशक का सूचक, इसलिए उन्मादी तत्व कुछ अधिक उन्मादी हो गये थे। निकट ज़विष्य में नगर का होने वाला विधानसज़ा का उपचुनाव इसका एक अतिरिज़्त कारण था। रात अज़ी कुछ गहराई ही थी कि एक दूकान में आग लग गयी। जिस दूकान में आग लगी थी वह अरसे से बड़ी मरज़्मत के इन्तजार में ज़ाली पड़ी थी। मगर इसे बहुसंज़्यक समुदाय ने अपने को छेड़े जाने की जुर्रत माना था। लो जुर्रत का ज़ामियाजा ज़ुगतो। दूसरे समुदाय की समान से ज़री दो दूकानों का होली दहन किया गया। फिर हुई चाकू व छुरेबाजी की वारदातें कम अफवाहें ज्यादा।

रात ग्यारह बजे सवारी लेकर स्टेशन से एक रिज़्शा चला। जाड़े की रात। सड़क पर कहीं रोशनी, कहीं अँधेरा। फिजा सही नहीं है, रिज़्शे वाले को ज़ी अहसास हुआ और सवारी को ज़ी। स्टेशन पर अहसास की छुअन ही बस थी। तीन-चार रिज़्शे साथ-साथ चले थे जो अलग होते गये। वह रिज़्शा अपनी मंजिल के रास्ते से आगे बढ़ा। गलियाँ दूरी ज़ी कम कर देती थीं। रिज़्शा जब उस गली में आया और ज़ड़र-ज़ड़र की आवाज हुई, त्रिज़ुवन नाथ मिज़ल ने, जो गली से लगे कमरे में जाग रहा था, जोर से पूछा, ''कौन है?'' वह बाहर गली में लपक आया। आगे जा रहे रिज़्शे की जनानी सवारी की पीठ पर झलक मार रहे बुरका से उसके सोच की पुष्टि हो गयी। उसने गुहार लगाई, ''पाकिस्तानी हैं—पाकिस्तानी हैं।'' फिर पाकिस्तानी शज़्द तज़्दील हो गया ''गौ माता के हत्यारे हैं, गौ माता के हत्यारे हैं''। आसपास के चार-पाँच घरों के मर्द गली में आ गये। आगे जा रहे रिज़्शे की रज़्तार तेज हुई। रिज़्शा एक अवरोध से टकराकर पलट गया।

मिज़ल और दूसरे लोग वहाँ पहुँच गये। रिज़्शेवाले ने बताया कि सवारियाँ मुसलमान थीं पर वह हिन्दू है। अपने हिन्दू होने को पज़्का बनाने के लिए उसने अपना नाम ज़ोल दिया। साथ ही अपने पिता का। दोनों वयस्क सवारियाँ, आदमी और औरत, बगल की एक पतली गली में फूट निकली

थीं। रिक्शे से सटी-सिमटी पाँच-छह साल की लड़की रोती हुई अब्बू-अम्मी... की रट लगाए हुई थी। एक ओर एक बैग छिटका पड़ा था।

''तू कमीने टिका क्यों है? उन्नत के पैसों की हमसे तलाश है क्या? हिन्दू है तो जूतनी का हो नौ-दो ग्यारह।'' मित्तल ने हिदायत का कोड़ा फटकारा।

दूसरे दिन धूप पसर चुकने पर रात की मर्द सवारी दो पुलिस वालों के साथ उस जगह आयी थी। सवारी को यकीन था कि उस छोटी नासमझ बच्ची को किसी रहम दिल हिन्दू ने अपने घर में पनाह दे दी होगी। बहुत दिन पहले तेज बारिश के दौरान उसके भाई को झटका हुआ एक हिन्दू बच्चा मिल गया था। वह उसे अपनी दूकान पर ले आया था। उसे टॉफी, बिस्कुट खिलाकर बहलाता रहा था और जब दो घंटे बाद तलाशती हुई बच्चे की दादी आ गयी तो बच्चे को देता हुआ बोला था, ''अम्मा आपकी अमानत आपके सिपुर्द।'' सवारी की लड़की की लाश पास के एक सूखे कुएँ में पाई गयी। कुएँ में छूटा हुआ बैग भी पड़ा था।

नगर में सुविचार नामक सामाजिक सरोकारों से जुड़ा एक मंच था। इस मंच की स्थापना इंटर कॉलेज के एक अवकाश प्राप्त प्रिंसिपल ने की थी। माह-डेढ़ माह में, या किसी अवसर विशेष पर, इस मंच की बैठक होती थी। बैठक कॉलेज के एक कक्ष में होती थी, कॉलेज समाप्त होने के बाद शाम को। पन्द्रह-बीस जनों की उपस्थिति रहती थी।

हालात ठीक हो जाने पर मंच की बैठक ''साम्प्रदायिक सद्भाव की आवश्यकता'' विषय पर रखी गयी थी। प्रिंसिपल महोदय बैठक या कहा जाय कि संगोष्ठी का संचालन भी करते थे और विषय की प्रस्तावना भी प्रस्तुत करते थे। पूरे पाँच मिनट के उनके भाषण में सार तत्व यह था कि देश तभी विकास के मार्ग पर तेजी से बढ़ सकता है जब विभिन्न सम्प्रदायों में एक-दूसरे के धर्म व उनकी संस्कृति के प्रति सम्मान का भाव हो। ऐसे मुद्दों पर वह जो हर बार एक बात कहते थे, इस बार भी कही थी, कि इस जनपद में देश विभाजन के दिनों में भी हिन्दू मुसलमानों के बीच कोई झगड़ा नहीं हुआ था। वर्षों यहाँ समरता बनी रही थी।

कामरेड ने कहा कि किसानों, मजदूरों में हर जाति और मजहब के लोग होते हैं। उनके बीच कभी राम और रहीम को लेकर दंगा-फसाद नहीं होता है। दंगा-फसाद कराते हैं खाए, पिए, अघाए लोग। जिन राजनीतिक पार्टियों में धन-कुबेरों, पूँजीपतियों, मिल मालिकों का वर्चस्व होता है, वे पार्टियाँ इन्हीं वर्चस्व वालों के हितों की सेहन का ध्यान रखती हैं। इन्हीं लोगों की पार्टियाँ सत्ता की खींच-तान में नये-नये वोट बैंक कायम करने के गन्दे, टुच्चे, फरेबी हथकंडे अपनाती रहती हैं।

उदयभान यादव से अपने विचार प्रस्तुत करने को कहा गया। उदयभान के पिता समाजवादी पार्टी में थे। वे क्या उन्होंने इस पार्टी के टिकट पर विधानसभा का चुनाव लड़ा था। वह अधिकृत रूप से विजयी घोषित किए जाने वाले थे कि काँग्रेस पार्टी का उम्मीदवार, जो दौड़ में बगलगीर था, उसके विजय की घोषणा कर दी गयी। बताया गया कि अन्तिम चक्र की मतगणना में चूक हो गयी थी। पिता ने प्रशासन स्तर पर रची गयी साजिश के तहत उनको हराया गया है, ऐसा माना था। उन्होंने इस हार के विरुद्ध सक्षम न्यायालय में याचिका दायर की थी। याचिका का विचार होने से पूर्व ही पिता की मृत्यु हो गयी थी। विरासत में यह बेटा समाजवादी पार्टी की नगर समिति की सदस्यता पा गया था। उदयभान यादव कामरेड की वक्तता और उनकी पहुँच के पसरे बड़े दायरे से प्रभावित था। वह कामरेड को अग्रज जैसा आदर देता था। वह उनसे कहता था कि आपकी और मेरी पार्टी दो हैं। लेकिन इन दोनों पार्टियों का मंशा और मँसूबा करीब-करीब एक ही है। दोनों पार्टियो के झंडे में लाल रंग की प्रमुखता भी इस सच्चाई की सूचक है।

उदयभान ने कहा कि कामरेड जी ने बड़े महत्त्व की बातें कही हैं। दंगा-फसाद के शिकार नब्बे प्रतिशत गरीब-गुरबा जन ही होते हैं। सरमायादार, जिनका अपना स्वार्थ ऐसे दंगों से सधता है, सामने आकर दंगे नहीं कराते हैं, रिमोट कंट्रोल से कराते हैं। इसके बाद यह कहकर कि वह कामरेड जी के विचारों से पूरी तरह इत्तिफाक रखता है, उसने अपनी बात समाप्त कर दी।

त्रिभुवन नाथ मित्तल ने अपनी बात पाकिस्तान में हिन्दुओं के साथ हो रही ज्यादतियों की शिकायत से शुरू की और कहा कि इसकी प्रतिक्रिया यहाँ के हिन्दुओं में होना स्वाभाविक है। यह भी कहा कि औरंगजेब के जमाने में हिन्दुओं से जजिया वसूल किया जाता था। उनके धार्मिक स्थानों पर मस्जिदें अस्तित्व में ले आयी गयीं। सोमनाथ मन्दिर तोड़ने के बाद उसका पत्थर गजनी की शाही मस्जिद में उस खास मुकाम पर लगाया गया जहाँ नमाजियों के दाखिल होते वक्त पत्थर नमाजियों के पैरों के नीचे आये, यानी पाँवपोश की मानिन्द उसका इस्तेमाल हो। अपनी बात को समेटते हुए कहा कि यहाँ के मुसलमानों को इस देश को अपना मानकर सच्चे, ईमानदार नागरिक की तरह आचरण करना चाहिए। समेटन में यह भी शामिल था कि इस दिन पहले जिस एक छोटी बच्ची को कुएँ में फेंककर मौत के हवाले कर दिया गया था, उसके लिए उसको भी अपार दुख है।

मंच के सदस्यों में एक मुसलमान वकील भी थे। वकील साहब ने कहा क यह बीमार सोच है कि पाकिस्तान में जो गलत हो रहा है, बदले में वैसा गलत यहाँ भी हो। अमेरिका, इंग्लैंड, आस्ट्रेलिया व दूसरे यूरोपीय मुल्कों में यहाँ के सिटीजनस के साथ जैसा नफरत और भेदभाव का बरताव होता है, बदले में हम उन मुल्कों के बाशिन्दों के साथ वैसा बदसुलूकी का बरताव नहीं करते हैं। इस मुल्क में मुसलमान राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, चीफ जस्टिस, मिनिस्टर, एम्बेसडर जैसे बुलन्दी के ओहदों पर बैठाये जाते हैं। यह इस बात का सबूत है कि मुसलमानों के लिए यह मुल्क हिन्दुओं के जितना ही प्यारा व अपना है।

राधेश्याम भी वहाँ उपस्थित था। वह बोलने से प्राय: बचता था, पर उस दिन बोला था। बोला कि एक ही कम्पनी के बैग हरे रंग के भी बनते हैं और लाल रंग के भी। अपनी पसन्द लाल रंग के बैग का खरीदार हरे रंग का बैग खरीदने वाले से कहे कि तुम्हारा बैग अच्छा नहीं है तो यह नासमझी वाला व्यवहार है। पंडित और मौलवी को तो छतनार वृक्ष जैसा होना चाहिए। वृक्ष का काम है हर किसी को ठंडी छाँह देना। छोटे मासूम बच्चे भगवान और खुदा का दूसरा रूप होते हैं। उन्हें मार डालना भगवान और खुदा को मार डालना हुआ। दस दिन पहले कुएँ से जिस बच्ची की लाश निकली थी उसका अपने अब्बू और अम्मी को पुकारता चेहरा उसकी आँखों के सामने इस वक्त भी है। राधेश्याम का गला रुँधने लगा। वह बैठ गया।

दो तीन अन्य वक्ताओं ने ज़ी विचार प्रकट किए थे। कुछ लोग बोलने के लिए ही बोलते हैं, विषय पर केन्द्रित रहने की मशक़्क़त से बचते हुए।

शारदा शरण चूँकि गोष्ठी के अध्यक्ष थे, उस नाते उनको अन्त में बोलना था। तीन-चार बार समाजवादी पार्टी से रिश्ता जोड़े उदयभान यादव ने मंच के संस्थापक प्रिंसिपल महोदय से शारदा शरण के आने में विलज़्ब लगने पर, या वैसे ज़ी, कहा था कि वह कामरेड जी को अध्यक्ष बनाया करें, कामरेड जी बोलने की कला में माहिर हैं। प्रिंसिपल ने इस सलाह को कज़ी मुस्कराकर और कज़ी इन शज़्दों के द्वारा कि शारदा शरण विद्वान और प्रतिष्ठित व्यज़्ति हैं, परे सरका दिया था।

शारदा शरण ने राधेश्याम के इस कथन की प्रशंसा की कि धर्म तो एक सघन सदाबहार वृक्ष है जो बिना किसी ज़ेदज़ाव के हर प्राणी को सुज़दायी छाया सुलज़ कराता है। हर धर्म के अनुयायियों को ज़ी सघन वृक्ष की ज़ाँति आचरण करना चाहिए। फिर उन्होंने राधेश्याम के बिलज़ उठने की चर्चा करते हुए कहा कि यह एक सच्चे नेक इनसान की पहचान है। ऐसा इनसान मानवीय गुणों से लबरेज होता है। हर किसी का दुज़-दर्द या उसके साथ इस तरह का हुआ कोई कांड इस इनसान को अन्दर तक छील, बेध जाता है। इसके बाद उन्होंने कहा कि बहुसंज़्यक होने के नाते हमारी अल्पसंज़्यकों के प्रति ज़ूमिका बड़े ज़ाई की होनी चाहिए। घर को अगर द्वेष, कलह, फूट से बचाना होता है तो बड़ा ज़ाई छोटे ज़ाई की छोटी-मोटी कमियों, कमजोरियों को ओट दे जाता है। इतिहास झाँकने पर हमको बुरे ज़ी उदाहरण देज़ने को मिलेंगे और अच्छे ज़ी। औरंगजेब की बजाय हम अकबर को ज़्यों न देज़ें या दाराशिकोह को। शिवाजी महाराज के सामने युद्ध में पकड़ी गयी शत्रु पक्ष की एक मुस्लिम महिला को पेश किया गया था। शिवाजी ने उसको फौरन बाइज्जत सही सुपुर्दगी में पहुँचाने का आदेश दिया था। रानी झाँसी ने अपने तोपज़ाने की कमान एक मुसलमान को दे रज़ी थी। हमारा ध्यान इस ओर ज़्यों नहीं जाता है? देश की सज़ा पर आसीन पार्टी और सज़ा पर दावा ठोंकने वाली पार्टियाँ व देश की जनता ज़ी, इन सबकी इस समझदारी में ही देश की मजबूती और बहबूदी है कि आजादी के बाद हमको विरासत में इस या उस धर्म से जुड़े जितने ज़ी पूजा-स्थल, इबादतगाह मिले हैं, उनको उस रूप में बनाए रज़ें। और ज़ी समझदारी यह होगी कि हम नये ऐसे स्थानों के निर्माण की बजाय अस्पताल, स्कूल, कॉलेज व उच्च तकनीकी संस्थान ज़ोलें। आज के समय में ये ज़ी पूजागृह जैसे हैं। वह हँसे। इस हँसी की डोर को पकड़े रहकर कहा, ''मैं नास्तिक हूँ। नास्तिकता साहस का काम है। इस साहसिकता का जोज़िम न उठाकर जो आस्तिक हैं मैं उनसे ज़ी पूरा लगाव रज़ता हूँ। पर एक की आस्तिकता का दूसरे की आस्तिकता से टकराव नहीं होना चाहिए। हमको कबीर, नानक, सूफी सन्तों की सीज़ को अपनाना चाहिए। हमारे आचार में मनुष्यता ही केन्द्र में रहे, वही जीवन की गतिविधियों की धुरी बने। सुनह मानुष ज़ाई, संसारे ऊपर मानुष सत, तहारे ऊपर नाहि।''

बहुत से उपस्थितियों ने तालियाँ बजाई थीं। राधेश्याम ने किसी बच्चे की तरह देर तक।

राधेश्याम ने शारदा शरण के घर आकर त्रिज़ुवन नाथ मिज़ल से अपनी मुठज़ेड़ का किस्सा सुनाया। ज़ैंस ज़ी दूध देती है तो ज़ैंस हमारी माता ज़्यों नहीं? गऊ अगर हमारी माता है तो बैल हमारा पिताश्री हुआ और सांड हमारा ताऊश्री। उसके मिज़ल के आगे पेश किए गये इन तर्कों को सुनकर वह ज़ुलकर हँसे।

''जनाब तो अब बहुत तेज हो गये हैं।''

स्वीकार में चपल हँसी, ''आपकी संगत और आपकी पढ़वाई गयी पुस्तकें, इन्होंने ही मुझे तेज बनाया है।''

नौ

राधेश्याम के जाने के बाद उस घटना से जुड़ी स्मृति ने शारदा शरण को पकड़ लिया, कुछ कसकर ही। वह जब तक कुएँ पर पहुँचे थे, लाश को कपड़े में लपेटकर सील मोहर किया जा चुका था। फिर ज़ी कपड़े के अन्दर तक उनकी आँज़ें उतर गयी थीं और उन्होंने पाया कि उस छोटी मासूम बच्ची का मुँह चावल के कन जैसे दाँत झलकाता हुआ ज़ुला है। राधेश्याम ने तो बच्ची जैसे अज़्बू, अज़्मी की पुकार लगा रही थी की बात गोष्ठी में कही थी, उनको उसी दिन वैसा लगा था। मिज़ल को पुलिस ने थाने पर दो बार बुलाया था। एक तो पुलिस कप्तान ज़ी हिन्दू राष्ट्रवादी प्रवृज़ि का था, सो ज़ी बनिया ही मिज़ल की जाति का, दूसरे मिज़ल की ऊपर तक पहुँच रज़ने वाले एक बाहुबली विधायक से घुलमिल थी। मामला रफा-दफा हो गया था। उस बच्ची की हत्या की स्मृति फिर उनको एक और बच्ची की स्मृति की ओर ज़ींच ले गयी। यह दूसरी स्मृति फिर अन्तस् में ज़ुलती-फैलती गयी, अपने को निरावरण करती हुई।

1857 के प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम पर रुहेलज़ण्ड को केन्द्रित कर उपन्यास लिज़ने का विचार छोड़ देने के डेढ़-दो साल बाद उनके मस्तिष्क में कौंधा था कि अपने जनपद शाहजहाँपुर ने ज़ी तो इस संग्राम में शानदार ज़ूमिका निज़ाई थी। मेरठ में 10 मई को वहाँ के सैनिकों ने विद्रोह की रणज़ेरी बजा दी है, इसकी सूचना यहाँ कुछ दिनों के अन्दर इस उस माध्यम से फूट आयी थी। उस समय यहाँ कज़्पनी के अधीन देशी पैदल सेना की एक पलटन तैनात थी। इस पलटन के सैनिकों में ज़ी कारतूस में गाय की चर्बी तथा रसद में मिलने वाले आटे में हड्डी का चूरा होने की ज़बर से गहरा असन्तोष था। 31 मई रविवार की सुबह जब गोरे अधिकारी सपरिवार चर्च में प्रार्थना के लिए उपस्थित थे, डेढ़, दो दर्जन विद्रोही सैनिक तलवार व लाठी से लामबन्द होकर चर्च में घुस गये थे। चर्च में ज़गदड़ मच गयी। बूढ़ों, औरतों व बच्चों ने अन्दर के हिस्सों में अपने को बन्द कर लिया। बाहर छूट गये गोरे माराकाटी का शिकार बनते गये। ज़बर लगते ही छावनी से गोरे अफसर वफादार देशी सैनिकों को लेकर सहायता में आ पहुँचे। विद्रोहियों ने चर्च छोड़ दिया। छोड़ने के दौरान विद्रोहियों में से ज़ी कई मारे गये थे। मस्तिष्क की इस कौंध ने फिर दिशा ली थी कि कज़्पनी की यहाँ तैनात उस 28 नज़्बर की देशी पलटन में कुछ सैनिक शाहजहाँपुर के बाशिन्दें होंगे और उन हत विद्रोहियों में ज़ी दो-एक ये बाशिन्दे रहे होंगे। तब उस आजादी की पहली जंग के यहाँ की धरती के वे पहले शहीद हुए। इनमें से किसी को नायक बनाकर 'शाहजहाँपुर का प्रथम आत्म बलिदानी' या 'यहाँ की मिट्टी की पहली शहादत' जैसा कोई शीर्षक देकर एक महज़्वपूर्ण कथा-कृति रची जा सकती है।

उन्होंने छोड़े गये उपन्यास की तैयारी में काफी कुछ पढ़ा, ज़ँगाला था। उन्हें याद आ गया कि यहाँ उस समय कलज़्टरी कार्यालय का गोरी चमड़ी वाला एंग्लो-इंडियन ज़्लर्क अपनी छोटी उम्र की बेटी के साथ ज़ी चर्च गया था। वह ज़्लर्क मार दिया गया था। विद्रोहियों के चर्च छोड़ देने के बाद अन्दरूनी हिस्सों में बन्द बूढ़े, औरतों व बच्चे ज़ी बाहर आकर अपने-अपने ठिकानों की ओर ज़ागे थे। सबसे पीछे निकली यह बच्ची 'पापा, पापा' की गुहार के साथ इधर-उधर डोलती हुई अपने पिता को तलशने लगी। चर्च से हटे विद्रोहियों में से कुछ ने आसपास ओट ले रज़ी थी। सज़्ज़व है कि इनमें से किसी एक विद्रोही में इस मासूम बच्ची के प्रति ममता, दया जाग गयी हो और उसने बच्ची को सांत्वनामयी संरक्षता दे दी हो। उनको यह ज़ी याद आ गया कि यहाँ तैनात उस 28वीं पलटन का गोरा सर्जन बग्घी पर सवार होकर चर्च आ रहा था। सर्जन की तो हत्या कर दी गयी, लेकिन बग्घी में साथ बैठी उसकी पत्नी व बच्चा बच निकले थे। उनको लगा कि सज़्ज़व है कि इसी विद्रोही ने पहले सर्जन को मारकर उसकी बीवी व बच्चे को ज़ाग जाने दिया हो और फिर उस मासूम बच्ची को संरक्षण दी हो। सज़्ज़व है कि संकल्पित उद्देश्य से ज़टकी हुई उसकी ऐसी हरकत से हैरान वहीं करीब में ओट लिए साथी ने दुत्कारा हो, ''पगला गया है जो उसे अपने पास चिपका रज़ा है?''

''मर्दों पर वार करते हुए मेरा मन कतई डिगा-डोला नहीं था, मगर औरतों बच्चों को सामने पाकर हाथ उठा नहीं। मेरे पास की यह बच्ची एकदम हिरन की छौनी की तरह ज़ोली है।''

''वह साँपिन है। बड़े होकर यह हमारे वतन और धर्म के दुश्मन फिरंगी पैदा करेगी। साँपिन को मार डालो। हिचक होती हो तो मेरे हवाले कर दो।''

बच्ची को छिपौनी जगह में और पीछे ठेलकर विद्रोही आगे बढ़ आया, ''ज़गवान ने बच्ची समझ लो कि मुझे सौंपी है। मैं अमानत का बाल बाँका होने नहीं दूँगा।''

दूसरा सैनिक, जो ज़ी आगे निकल आया था, उसने मृत अँग्रेज अधिकारी की पाई हुई बन्दूक से गोली दाग दी, ''कमीने जुगत गद्दारी की सजा।''

शारदा शरण को लगा कि वैसी कोरी सज़्ज़ावना नहीं है, वैसी ठोस वास्तविकता है। वैसा हुआ होगा नहीं, वैसा हुआ ही है उन्होंने माना।

कई दिनों तक शारदा शरण की आँज़ें जब तक धुर अतीत में उतर जातीं और वैसा घटता देज़तीं। उस विद्रोही ने एक असहाय बच्ची को बचाने में अपने प्राण दे दिए। बच्ची मानवता की प्रतीक थी, उसका एक सद्‌रूप, उसका एक सुपर्याय। उसका प्राण देना शहादत की एक ऊँचाई थी। एक आदर्श शहादत। एक रेज़ांकित की जाने वाली शहादत।

अगर यह विद्रोही यहाँ की धरती का है तो यही उस जंगे आजादी का पहला सच्चा शहीद है।

वह वैसा चाहने लगे। चाहना तेज-तेज थापें देने लगी कि विद्रोही यहीं का हो, इसी जनपद का सपूत। सपूत की शज़्ल ले ले।

स्थल विशेष पर जाकर ज़ी ज़ोए गायब सूत्र हाथ लग जाते हैं। कई बड़े साहित्यकारों का ऐसा मानना है। इस साहित्यकारों ने यथार्थ को जड़ से पकड़ने के लिए विषय की कथा-ज़ूमि पर जाकर ज़ासा लज़्बा समय बिताया है। यह समय बिताना सार्थक सिद्ध हुआ। वह चर्च गये थे। स्थानीय इंटर कॉलेज के एक ईसाई प्रवज़्ता ने उनकी दिलचस्पी में दिलचस्पी ली थी। उसने उनको चर्च के पीछे जड़ा शिलालेज़ दिज़ाया था। शिलालेज़ पर मारने वालों के नहीं, 31 मई की बगावत की उठी उस पहली लपट में मरने वाले अँग्रेजों के नाम उत्कीर्ण थे। मरने वालों के ही नाम जपरद के गजेटियर में ज़ी दिए गये थे। लड़की के पिता का ज़ी नाम वहाँ था- मि.लैमस्टर। लड़की का नाम नदारद था। गजेटियर में यह अवश्य लिज़ा था, ''लड़की का नसीब अनजाना रहा।''

''अफवाह है कि रात में एक लड़की की पुकार लगाती आवाज इस चर्च के आसपास जब तब सुनी जाती है आपने सुनी?'' उन्होंने ईसाई प्रवज़्ता से पूछा था।

''मेरे साथ ऐसा कज़ी कोई संयोग नहीं हुआ। रात में इधर से गुजरने वाले रिज़्शा ड्राइवरों ने आवाज सुनी है। कुछ और लोगों का ज़ी सुनना बताया जाता है।''

गप्प हो या लंतरानी या अफवाह ये निरी वायवी नहीं होती हैं। सच के कुछ धागे जरूरी उनके वजूद को सहारा दिए होते हैं। उन्होंने एक रात चर्च में बिताने का तय किया। प्रवज़्ता ने वैसी व्यवस्था कर दी थी। साथ रहने के लिए चौकीदार से कह दिया था, जिसने ज़ी दो-एक बार लड़की की आवाज सुनी थी... रोती, पुकार लगाती आवाज। उन्होंने चौकीदार को अन्दर बल्ब की रोशनी करने से मना कर दिया। दूर एक कोने में नीची बाती का एक लैज़्प रज़ा दिया था जो अन्धकार की सज़ा को काफी कुछ स्वीकारता था। अज़्टूबर का उतार था जब रातें ठंड से सीझने लगती हैं। चौकीदार कज़्बल ओढ़कर एक बेंच पर सो गया था। नींद न आये इसलिए वह कुर्सी पर बैठे रहे थे। हाँ, पैरों को आराम देने के लिए उन्होंने पैरों को पास ज़ींच ली गयी दूसरी कुर्सी पर टिका दिया था। रात ढल रही थी। और ढली होगी। उन्हें सुनाई दिया, ''पापा, आई एम हीयर—मज़्मी, आई एम हीयर। कम सून, वेरी सून।'' छोटी लड़की की जैसी आवाज थी, घबराई हुई। उन्होंने पूछा, ''बेबी, तुमको किस आदमी ने झाड़ी में छिपाया? कौन था? बेबी नाम बताओ, हिज नेम।''

वह सपना देज़ रहे थे। अपने में यह सब सुनना और कहना चला था। उनको आँज़ किसी वज़्त लग गयी थी। वह जुल गयी आँज़ को इधर-उधर घुमाने लगे थे। अँधेरा अड़-जड़ जाता था। कोने में रज़े लैज़्प की उजास पर अँधेरे की परत थी। चौकीदार बैंच पर शायद अज़ी ज़ी पसरा हुआ था। एक लज़्बा उज़ार जैसा आज़ास दे रहा था।

उन्होंने अपने को उधेड़ा। वह सपना था, सपना ही। वह ऐसा सोच रहे थे, इसलिए सपने में वह तज़्दील हो गया था। उनमें पैदा जुनून ज़ी इसका सबब हो सकता है।

उन्होंने स्थानीय पुस्तकालय से 'फ्रीडम स्ट्रगल इन उज़्र प्रदेश' के सारे ज़ंड अपने नाम जारी कराए। उस छोड़े गये उपन्यास की योजना के दौरान वह उनमें उपलज़्ध साम्रगी से गुजर चुके थे। दुबारा गुजरे थे। शाहजहाँपुर से सज़्बन्धित सामग्री में उन विद्रोहियों के नाम तो दिए गये थे जिन्होंने चर्च के अन्दर और बाहर अंग्रेजों की हत्या की थी और जिनपर मुकदमा चला था। जो विद्रोही उस ज़ूनी वारदात के दौरान जुद मौत की ज़ेंट चढ़ गये थे, उनके नाम नहीं थे। नाम नहीं थे ज़्योंकि उनपर मुकदमा चला नहीं था। उनको यह सज़्ज़ावना नजर आयी कि मुकदमे के अज़ियुज़्तों के बयान या मुकदमे में पेश किए गये साक्ष्य में मृत विद्रोहियों के नाम और उनकी

हिस्सेदारी का तज्किज़रा हो सकता है।

जिस विद्रोह ने हत लैमस्टर की लड़की को ऐसा मानते हुए कि बच्चे निश्छल व पवित्रमना होते हैं और उनकी हत्या मनुष्यता पर कलंक है अपने प्राण देकर बचा लिया था, वह प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम का यहाँ का प्रथम शहीद है। बस पुष्टि यह होनी है कि उसकी नार यहीं गड़ी है। उसे नाम के सूत्र से वह उसके माता, पिता, निवास आदि से सज़्बन्धित तमाम जरूरी जानकारियाँ फिर जुटा ही लेंगे। उनमें यह धारणा अब ज़ी जड़ें जमाए हुए थी कि ऐतिहासिक उपन्यास में आधारज़ूत तथ्य वास्तविक होने चाहिए नहीं तो उसकी पूरी संरचना ही झूठी, फरेबी मान ली जाएगी। ऐतिहासिक उपन्यास एक ऐसी इमारत होती है जो अपनी नींव और मुज़्य स्तज़्ज़ों की पुज़्तगी के बल पर ही टिकी होती है।

''फ्रीडम स्ट्रगल इन उज़र प्रदेश' पुस्तक में यह पढ़कर कि चर्च की मारकाट से सज़्बन्धित मुकदमों की सारी कार्रवाई का बस्ता लज़नऊ कलज़्टरी के अज़िलेज़ागार में है, वह वहाँ गये। बताया गया कि बस्ता वहाँ पहले कज़ी था। अरसा हुआ गदर की फाइलों वाले सारे बस्ते नये शासनादेश के अधीन इलाहाबाद स्थित आर्काव्इज विज़ाग को ज़ेज दिए गये हैं।

वह इलाहाबाद गये थे। आर्काव्इज के उस अनुज़ाग की प्रज़ारी कोई महिला थी। वह अवकाश पर थी। उसके आने पर ही कुछ हो सकता था। अवकाश अवधि की समाप्ति के बाद वह दुबारा गये थे। प्रसाधन की अतिरंजना से अधेड़ उम्र की महिला ने अपनी भदेसता ही सजाई थी। उनका उद्देश्य जानकर उसने उनसे एक प्रार्थना-पत्र लिज़वाया था। प्रार्थना-पत्र पर सक्षम अधिकारी से अनुमति-आदेश प्राप्त करने में दो दिन लगना ही लगना था। उन्होंने धर्मशाला में अपना ठहरना बढ़ा दिया था। अनुकूल आदेश हो गया था। आर्काव्इज की जीराज़्स मशीन के साथ कुछ समस्या थी। रिकार्ड बहुत पुराना व जर्जर हालत में था। वहाँ की मशीन पर ही उसकी फोटो कॉपी होनी थी। वह आठ दिन बाद फिर गये थे। जाते हुए प्रज़ारी महिला के लिए अपने दो उपन्यास ज़ी लेते गये थे। महिला ने जाहिर किया था कि उसे उपन्यास पढ़ने का शौक है और इस शौक के प्रमाण में उसने गुरुदज़ और चतुरसेन शास्त्री के कुछ उपन्यासों के नाम लिए थे। मशीन ठीक नहीं हुई थी। ज़राब पार्ट मैकेनिक को उपलज़्ध नहीं हो सका था। वह एक सप्ताह का गोता लगाकर फिर गये थे। मशीन जस-की-तस होने पर इससे कुछ ऊपर का अन्तराल देकर चज़्कर फिर लगाया था। उनकी बदकिस्मती से दो दिन पहले नये पार्ट ने ही नयी समस्या पैदा कर दी थी। उनको और अधिक दौड़ने-ज़ागने से बचाने के लिए महिला ने उनका परिचय वहाँ के एक कर्मचारी से करा दिया, ''मुकदमों की मिसिल परिशयन में है। आपने बताया है कि आपको वहाँ इस ज़ाषा के जानकार को ज़ोजना-तलाशना होगा। यहाँ इन मिश्रा जी के पास एक आदमी ऐसे काम की उज़्मीद में आता रहता है। मिश्रा जी उस आदमी से पहले कागजात का हिन्दी में अनुवाद करा देंगे, फिर उस अनुवाद का जीराज़्स कराकर आपको डाक से ज़ेज देंगे।''

मिश्रा जी ने उनको अपनी सीट पर ले जाकर मोटा-मोटा हिसाब बताया। उस सारे काम में साढ़े पाँच सौ रुपये का ज़र्चा था। देने की पास में गुंजाइश थी। दे दिए।

लगज़ग तीन सप्ताह बाद कागजात तो नहीं उनके पास जो आया वह पत्र था कि परशियन जानने वाले आदमी को उन मुकदमों की किसी ज़ी मिसिल में उनके बताए गये विद्रोहियों का कोई ज़ी जिक्र नहीं मिला है। उन्होंने तुरन्त जवाब ज़ेजा कि लेज़क की निगाह सामान्य व्यज़्ति की निगाह से अलग होती है। लेज़क इबारत की ऊपरी परत के नीचे की परत को ज़ी पढ़ लेता है। अनुवाद अविलज़्ब ज़िजवा दें। आज़ारी रहूँगा।

उधर ज़ामोशी रहने पर दूसरा पत्र ज़ेजा। ज़ामोशी अनटूटी रही।

अन्दर बना जुनून उनको कामरेड के घर पर फिर हाँक ले गया। रुहेलज़ण्ड वाले उपन्यास में कामरेड से मिली बेरुज़ी को उन्होंने झटक दिया। इस झटकने में उन्होंने इस बार ज़ी इस कहावत का सहारा लिया था कि प्यासे को कुएँ के पास जाना ही होता है। कामरेड उनके कथानक की धुरी जानकर हल्के से मुस्कराए, ''आपके इस उपन्यास में अनोज़ापन यह होगा कि आप नयी सोच से शहादत की व्याज़्या करेंगे या उसे एक और आयाम देंगे। इस व्याज़्या या आयाम में, गलत न लीजिएगा मुझे, रोमान्टिज़्म का तड़का कुछ ज्यादा है। फिर ज़ी जब आप लिज़ेंगे तो विषय को इनसाफ मिलेगा ही।'' अन्दर से आ गयी चाय का प्याला बढ़ाते हुए कहा, ''चाचा जी में इतिहास के अनदेज़े प्रसंगों और चरित्रों को जानने की गहरी ललक थी। वह घर से लज़्बे-लज़्बे समय के लिए निकल जाते थे। जहाँ जाते थे वहाँ की लाइब्रेरी में उपलज़्ध अपने विषय की पुस्तकें पढ़ते थे, नोट्स बनाते थे। अपने चरित्रों के बारे में लिज़ने से पहले पूरी तैयारी करते थे।

उन्होंने इलाहाबाद के आर्काव्इज में जाने की बात नहीं बताई। उनका ठगा जाना जुल जाना था। उन्होंने चर्च में रात गुजारने की बात जरूर बता दी।

अपने प्याले की चाय ज़त्म कर कामरेड ने कहा, ''चाचा जी ज़ी कई बार चर्च गये थे। चर्च ही नहीं गये थे, उधर के आसपास वाले इलाके को छाना ज़ी था। वह बताते थे कि आज जहाँ गाँधी फैज-ए-आम कॉलेज है, वहाँ पहले रुहेला सरदार हाफिज रहमत ज़ाँ के चचाजाद ज़ाई डुंडे ज़ाँ का बाग था। इस बाग में ही बिठूर के राजा नाना साहब ने चार सौ सिपाहियों की फौजी टुकड़ी के साथ पड़ाव डाला था, बरेली में ज़ान बहादुर ज़ाँ को मदद पहुँचाने की ज़ातिर। शहजादा फिरोजशाह, लज़नऊ की बेगम हजरतमहल, शाही फौज का सिपहसलार बज़्त ज़ाँ ज़ी विद्रोह को दमज़म देने के लिए चर्च के इस पास वाले बाग में ठहरते थे। बज़्त ज़ाँ के बारे में उन्होंने पूरी एक कॉपी में ज़्योरे टीप रज़े थे। वह उस पर अलग से एक पुस्तक लिज़ने वाले थे।'' कलज़्टरी के उस ऐंग्लो इंडियन ज़्लर्क की बेटी की सुनाई देने वाली आवाज के छूट गये प्रसंग को पकड़ते हुए कहा, ''चाचा जी ने इस बारे में सुन रज़ा था। चाचा जी ने पाँच-सात आदमियों के इस सज़्बन्ध में इन्टरव्यू ज़ी लिए थे।''

''मुझे आपकी मदद की जरूरत है। लिज़ पाया तो यह महज़्वपूर्ण कृति होगी। आपके सहयोग से ही यह सज़्ज़व है।''

''चाचा जी वाला बस्ता अब मैंने बज़्से से निकालकर लोहे की अलमारी में रज़ लिया है। आप के मतलब के कागजात मिल जाने पर उनको लेकर आपके घर उपस्थित होऊँगा।''

''अपना समय आप अपने काम को दें। मैं यहाँ चार-पाँच घंटे बैठकर बस्ता देज़ लूँगा। कल, परसों जब ज़ी कहिएगा आ जाऊँगा।''

''बात यह है कि सारे कागजात उलटी-पुलटी शक़्ल में हैं। कहीं कोई क्रम नहीं। फिर चाचा जी की राइटिंग बड़ी शिकस्ता थी। काम वाले कागज मिल जाने पर आपको पढ़कर सुना ज़ी दूँगा।''

आठ दिन बादर वह फिर गये थे।

''एक जरूरी काम में फँस गया था। अब ज़ी फँसा हूँ। निबटते ही आपका काम करूँगा।'' कुछ विराम के बाद, ''आप जिस तरह के सामाजिक आदर्शवादी उपन्यास लिज़ते आ रहे हैं आपको उसी तरह के लिज़ना चाहिए। आप मुझे गलत न समझिएगा, पैरों के अज़्यस्त रास्ते पर चलना आसान होता है। इतिहास रिसर्च की माँग करता है। उसमें झंझट ही झंझट है।''

रुहेलज़ण्ड वाले उपन्यास को लेकर ज़ी उन्होंने ऐसी ही सलाह दी थी।

उन्होंने थोड़ा वक़्त गुजर जाने के बाद अनुराग को ज़ेजा था। तब तक वह उनके सज़्पर्क में आ चुका था। कामरेड अनुराग से बोले थे, ''ज़ाई साहब मुझसे उम्र में बड़े हैं। लेज़क हैं। उनका मैं सज़्मान करता हूँ। लेकिन ज़ाई साहब को ज़ी दूसरे की इच्छाओं, मनोज़ावनाओं को समझना चाहिए। मैं ज़ी तो लिज़ता हूँ। अपने चाचा जी की छोड़ी महज़्वपूर्ण सामग्री का उपयोग करने का पहला हक मेरा है।''

उनको एक प्रकाशक ने स्वतन्त्रता उपरान्त की पचास श्रेष्ठ हिन्दी कहानियों के सज़्पादन का दायित्व सौंप दिया था। उसके बाद अन्दर कुछ ऐसी हिलोर उठी थी कि एक के बाद दूसरी, दूसरी के बाद तीसरी कहानी लिज़ने का सिलसिला बनता चला गया था।

जनपद के प्रथम शहीद वाले उपन्यास का जुनून ठंडा पड़ गया था।

दस

अपनी वाली गली के रास्ते पर राधेश्याम अकेला नहीं था। साथ में था अधेड़ावस्था की लपेट में आया सीधी-सतर काया वाला एक व्यज़्ति ज़ी। दूकान की ड्यूटी के लिए बेटे के आ जाने पर राधेश्याम बाजार में इस उस से गप्पिया कर हलका-ज़िला होने की ज़ातिर चज़्कर लगा रहा था कि इस व्यज़्ति से ज़ेंट हो गयी थी। वह व्यज़्ति शारदा शरण के घर की सही-सही जानकारी के लिए पूछताछ कर रहा था। वह निकटवर्ती शहर के बैंक में स्थानान्तरित होकर आये एक पुराने मित्र से मिलने आया था और फिर इधर ज़ी अरसे से संजोई एक और मुलाकातर के वास्ते बढ़ आया था। गली में राधेश्याम को कहीं जाने के लिए निकले कामरेड दिज़ गये थे। उसने फुदकते हुए बताया, ''कामरेड जी, इन सज्जन को ज़ैया जी के पास लिए जा रहा हूँ। यह भैया जी का इंटरव्यू लेंगे। वह इंटरव्यू लेंगे। वह इंटरव्यू छपेगा भैया जी के फोटो के साथ।' उसने इस बीच जो जानकारी साथ के व्यज़्ति से हासिल की थी, उसे ज़ी उँडेल दिया कि वह किन-कन दैनिक पत्रों और पत्रिकाओं से सज़्बद्ध है। इसके बाद उसने साथ के व्यज़्ति को कामरेड का ज़ी परिचय दे दिया, ''कामरेड जी का असली नाम वही है जो मेरा है, राधेश्याम। पोस्टमैन मेरी डाक इनके यहाँ डाल जाता था और इनकी मेरे यहाँ। तब दूसरे पोस्टमैन का काम मैं करता था, डाक की सही अदला-बदली वाला। इस संकट को समाप्त करन की ज़ातिर इन्होंने अपने नाम में कामरेड जोड़ लिया। कई यूनियन का काम करने के कारण लोग इनको कामरेड जी कहते ज़ी हैं।'' उजली मुस्कराहट के बीच इसके बाद उसने परिचय के एक और ज़ाग को बता दिया कि कामरेड के चाचा क्रान्तिकारियों पर लिज़ते थे और कामरेड ज़ी क्रान्तिकारियों पर लिज़ते हैं।

कामरेड ने बातचीत की डोर बिना और वक़्त गँवाए पकड़ ली। पहले शरारती हँसी के साथ कहा कि यद्यपि उन दोनों का नाम एक है, पर स्वज़ाव और सोच एक नहीं है। वह पूजा पाठ को समय की बरबादी और अपने को धोज़ा देना मानते हैं जबकि उनका नामराशि ईश्वर की कृपा से ही पज़ा डोलता है मानने वाला है। इस ज़ास फर्क के अलावा यह ज़ी एक बड़ा फर्क है कि वह अपने दिमाग से काम लेते हैं जबकि उनका नामराशि दूसरों के दिमाग से।

बाहर से आये व्यज़्ति की हँसी में साथ निज़ाने के बाद परिचय का जरूरी अँश सामने किया। अंश में आदि के पुछल्ले के साथ उन चार पत्र-पत्रिकाओं के नाम शामिल थे जिनमें क्रान्तिकारियों पर उनके लेज़ प्रकाशित हुए थे।

''जानकार अच्छा लगा कि आप पत्रकारिता करते हैं।''

''पत्रकारिता?''

बाहर से आये व्यज़्ति को लगा कि यह शज़्द अस्वीकार-सा रहा है। उसे स्वीकारता देने के लिए कहा, ''साहित्यकार वह है जो कहानी, उपन्यास, नाटक, कविता इन जैसे माध्यमों के जरिए एक छोटी-बड़ी नयी सृष्टि रचता है। यह बीज से वृक्ष को या बिन्दु से दृश्य को अस्तित्व में लाना होता है। पत्रकारिता लिज़ित अज़िव्यज़्ति का एक दूसरा माध्यम है, कई वर्गों में बँटा हुआ, जैसे अपराध, राजनीति, ज़ेल, विज्ञान या फिर क्रान्ति विषयक।'' मुस्कराकर आगे कहा, ''मैं यों साहित्यिक गतिविधियों, साहित्यकारों से की गयी बातचीत को प्रकाश में लाता हूँ पर अपने को साहित्यकार न मानकर पत्रकार ही मानता हूँ, साहित्यिक पत्रकारिता का जीव।''

उसने हाथ आगे बढ़ा दिया, ''अब चलूँगा।''

''मैं दो-एक जरूरी काम निबटाकर अधिक-से-अधिक आध घंटे के अन्दर घर वापस आ जाऊँगा।'' कामरेड बोले, ''थोड़ा समय हो सके तो मेरे लिए ज़ी निकालिएगा। आपसे बातचीत कर सुज़ मिलेगा, कुछ मानीज़ेज पा जाने पर मिलने वाला सुज़।''

''मुझे ज़ी आपसे बातें कर उतना ही सुज़ मिलेगा। बस समय की बात है। निकालने की कोशिश करूँगा।''

''आप आराम से अपना काम निबटाइए।'' राधेश्याम कामरेड से बोला, ''मैं इन ज़ाई साहब को आपका दौलतज़ाना दिज़ा दूँगा।'' वह जानता था कि बोलचाल की तहजीब में घर को गरीबज़ाना बताना है जबकि दूसरे के घर को दौलतज़ाना। जरूरी समझने पर वह इस किस्म का तहजीबयाज़्ता बन जाता था।

शारदा शरण के यहाँ आकर राधेश्याम ने साथ आये व्यज़्ति का वैसे ही फुदकते हुए परिचय देने के बाद उससे ज़ी अधिक फुदकते हुए कहा कि लो उसने उनके इन्टरव्यू का प्रबन्ध करने जैसा बड़ा काम कर दिया है। शारदा शरण ने इस पर विनोदी स्वर में अजय सिंह नामक उस आये

व्यज्ति को बताया, ''राधेश्याम जी मेरे लिए अज़्सर पज़्लिक रिलेशन आफिसर मतलब जन सज़्पर्क अधिकारी की जूमिका निज़ाते हैं, सो ज़ी पूरी निष्ठा से।'' इसी के साथ यह ज़ी बताया, 'नेक बंदा है, छल-कपट, दन्दफन्द से दूर।''

''मेरा बस अज़ी थोड़ा पहले साथ हुआ है। इतने समय में मैंने ज़ी ऐसा ही आँका है। निश्छलता, निष्कपटता, दया, ममता, दूसरों से सहज ज़ाव से लगाव रज़ना आज के स्वार्थी समय में इन जैसे मानवीय गुणों का किसी में पाना दुर्लज़ है।'' अजय सिंह बोले।

शारदा शरण ने विनोदी स्वर बनाए रज़ते हुए कहा, 'मेरी पुस्तकें देज़कर एक दिन मेरे इस जन सज़्पर्क अधिकारी ने इच्छा प्रकट की, मैं ज़ी पुस्तक लिज़ना चाहता हूँ। मैंने कहा कि जनाब को पुस्तक लिज़ने की कोई जरूरत नहीं है। जनाब ज़ुद एक पुस्तक हैं।''

''आपने अगर पुराने मुहावरे का सहारा लूँ तो सौ टके की बात कही है। एक निर्मल मन, निर्मल चिज़ इनसान अपने में एक अच्छी पुस्तक ही होता है, ए मोबाइल बुक।''

राधेश्याम अपने बारे में ये टिप्पणियाँ सुनता रहा, गदगद होता रहा। इस गदगद से ज़रा हुआ वह वैसा जरूरी मानकर किचन में घुस गया। चाय बनाने लगा।

चाय और बिस्कुट की ट्रे के साथ जब वह हाजिर हुआ, अपने मोबाइल के स्क्रीन पर अजय सिंह शारदा शरण की फोटो कैद करने की तैयारी कर रहे थे।

''ज़ाई साहब, ज़ैया जी की फोटो लेने के बाद एक फोटो मेरा ज़ी ज़ैया जी के साथ होना चाहिए।''

''एक नहीं दो पोज।''

अजय सिंह ने फोटो लेने के बाद स्क्रीन पर उसको दिज़ाया।

''बढ़िया, बहुत बढ़िया।''

कुछ देर की औपचारिक बातों के बाद अजय सिंह ने शारदा शरण से प्रश्न किया, ''आपने लेज़न कर्म ज़्यों चुना?''

''मेरी जीविका का साधन बड़ा पोच था, जिला विद्यालय निरीक्षक कार्यालय मैं बाबूगिरी का। बारहवीं दर्जा तक शिक्षा हासिल की थी। इसके आधार पर ऐसी ही मामूली बिला हैसियत वाली नौकरी पा सकता था। कहानी, उपन्यास पढ़ने का शौक शुरू से था। दो-तीन पुस्तकें मेरी ज़ाट पर जरूर रहती थीं। पढ़ना मेरे लिए नींद की गोली होता था, स्लीपिंग पिल्स। प्रेमचन्द की कहानी 'पंच परमेश्वर', 'बड़े घर की बेटी', 'सद्‌गति', उपन्यास 'रंगज़ूमि' पढ़कर मन में तीव्र इच्छा जगी कि मैं ज़ी ऐसा कुछ लिज़ूँ। इस अच्छा को पेंग इस सोच ने दिए कि प्रेमचन्द की पहचान दूर-दूर तक अपनी रचनाओं के दमज़म पर है। वह मरकर ज़ी जीवित हैं। तो इस पहचान की चाह मुझे लेज़न की ओर ज़ींच लाई। तीन-चार कहानियों की वापसी के बाद जब अगली कहानी एक दैनिक-पत्र के रविवारीय अंक में शाया हो गयी तो फिर लिज़ने और छपने का सिलसिला बन गया। पत्र-पत्रिकाओं से छपी रचनाओं पर बतौर पारिश्रमिक कुछ पैसे मिलने लगे। किन्तु पैसा नहीं पहचान अर्थात् यश कामना की चाबुक ही मुझे इस रास्ते पर हाँकती रही। यश कामना प्रबुद्ध से प्रबुद्ध व्यज्ति की कमजोरी होती है।''

''इसके बाद ज़ी एक स्टेज है, मानव समाज के लिए कुछ अच्छा कर अपने होने की सार्थकता के आनन्द की अनुज़ूति।''

''यश कामना के साथ ऐसी अनुज़ूति ज़ी कहीं है, किन्तु उसे बताना ठीक नहीं समझा। यह अपने मुँह मियाँ मिट्‌ठू बनना होता। फिर आपको ज़ी अपने पहले प्रश्न को सही करना होता, लेज़न कर्म को लेज़न धर्म से।'' शारदा शरण हँसे, शालीन वर्गीय हँसी।

''आपने लेज़न की शुरुआत कहानी से ही की?''

फिर वैसी ही हँसी, ''अपने तमाम बन्धु बाँधवों की तरह कविता से। तुकबन्दी करना आसान होता है। शायद इसीलिए लोग बिस्मिल्लाह इसी से करते हैं। लेकिन मैं जल्द ही कथा विधा पर आ गया, मुझे जिसपर आना था।''

''आप बाद में कहानी से उपन्यास पर आ गये।''

''कहानी जिन्दगी के एक छोटे टुकड़े को उठाकर उसे देज़ना और दिज़ाना होता है। उपन्यास जिन्दगी के एक बड़े टुकड़े को उठाता है जिसमें जिन्दगी के अधिक-से-अधिक पक्ष-विपक्ष यानी उसकी परत-दर-परत को उजागर करना होता है और यह सब होता है तार्किकता के आधार पर। विशुद्ध तार्किकता यानी कोरी तार्किकता नहीं, संवेदन रस से सिंचित तार्किकता। यों ज़ी कहा जा सकता है कि उपन्यास में जिन्दगी की तमाम छोटी-बड़ी छवियों का अंकन होता है।''

''उपन्यास को जीवन का महाकाव्य कहा गया है। ज़्या आपका कोई उपन्यास महाकाव्यात्मकता का आस्वाद देता है?''

''इस नस्ल के उपन्यास की ज़ेती नहीं होती है। इसका सृजन विरल होता है, बरसों में कज़ी-कज़ी और सौ-दो-सौ लज़कों में किसी योगी प्रवृज़ि के लेज़क के द्वारा। फिर यह तो आलोचक का धर्म है कि वह बताए कि किस कृति में इसकी मौजूदगी है या नहीं और यदि है तो किस सीमा तक। यह गुंडा समय है। साहित्य के क्षेत्र में घुस आये कुछ गुंडे अपनों को उठाते हैं और गैरों को गिराते हैं, या अपने रागद्वेष का हिसाब चुकता करते हैं।''

राधेश्याम को याद आ गया कि वह चज़्की पर गेहूँ डाल आया था। अगर आटा घर नहीं पहुँचाया तो ज़ाना बनने में समस्या पैदा होगी। वह उठ गया। चज़्की की ओर जाने से पहले कामरेड के यहाँ रुका। बताया कि बाहर वाले व्यज़्ति अजय सिंह के पास जो मोबाइल फोन है उसमें कैमरा ज़ी है और बातचीत को टीपने वाला टेप ज़ी। बातचीत ज़ूब लज़्बी चल रही है। अपनी बातों में ज़ैया जी बड़े ऊँचे किस्म और बड़े पते की बातें कह रहे हैं। ज़ैया जी ने आज के समय को गुंडा बताया है।

''आपके ज़ैया जी ने मुझे तो गुंडा नहीं बताया है?'' कामरेड ने आँज़ में शरारती चमक लाते हुए पूछा।

''आपको गुंडा ज़्यों कहेंगे? ज़ैया जी हाँ आपको क्रोध का परशुराम मानते हैं। मैं ज़ी ऐसा मानता हूँ।'' राधेश्याम हँसा, ''ज़ैया जी यह ज़ी मानते हैं कि आप दज़्ज़ी हैं। आपके अन्दर की यह जिद रहती है—मैं जो कहता हूँ वही ठीक है, मेरे विचार ही बस सही हैं, मैंने जो रास्ता चुना है, सबको उसी पर चलना चाहिए।''

''मैं इसे अपनी कमजोरी नहीं अपनी मजबूती मानता हूँ, अन्दर की दृढ़ता।''

''मैंने अजय जी से बोल दिया है कि आपको कामरेड जी के यहाँ ज़ी जाना है। मैंने आपका घर दिखा दिया था।'

''घर या दौलतज़ाना?'' आँज़ों में वही शरारती चमक।

''दौलतज़ाना नहीं तो ज़्या गरीबज़ाना बताता।'' राधेश्याम ने वैसी ही शरारती चमक के साथ उठते हुए कहा।

शारदा शरण के घर पर प्रश्न और उज़र का सिलसिला जारी था।

''आप एक छोटे कस्बेनुमा शहर में रह रहे हैं। छोटे शहर में लेज़क का रहना लेज़न की गति, दिशा को अवरुद्ध करता है। ज़्या आपमें यह इच्छा बलवती नहीं होती है कि आप साहित्य की राजधानी दिल्ली में आकर रहें? चित्रकारों के लिए जैसे पेरिस मज़्का है वैसे यहाँ के साहित्यकारों के लिए है दिल्ली।''

''देश की अस्सी प्रतिशत जनता कस्बों, देहातों और मेरे वाले जैसे छोटे शहरों में रहती है। इस दृष्टि से देज़ा जाय तो इन स्थानों के लेज़क अस्सी प्रतिशत जनता के जीवन, उसकी समस्याओं, उसके संघर्षों और उसकी छोटी-छोटी मानवीय इच्छाओं, आकांक्षाओं को सामने रज़ते हैं। वे ही उस जनता के आधिकारिक प्रवज़्ता हैं। यों ज़ी देज़ें, इन स्थानों के पकी दृष्टि वाले रचनाकार सीमित परिवेश के अन्तर्गत ज़ी वहाँ के पात्रों और चरित्रों के माध्यम से मानवीय मूल्यों की पीठिका पर जीवन को इस तरह से बड़े परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करते हैं कि पूरा मनुष्य समाज अपनी साँसों व धड़कनों के साथ वहाँ परिलक्षित हो जाता है।''

''अच्छे लेज़न की ज़ूबी?''

''गमे जाना से गमे दौराँ में तज़्दील होने की ज़ूबी।''

''यह तो किसी दूसरे का कहा हुआ है।''

''दूसरों के सधे, सलीके से कहे हुए को उद्धृत किया ही जाता है। अच्छे लेज़न की ज़ूबी का इजहार इस तरह ज़ी किया जा सकता है कि यह लज़्बी उम्र का तो होता ही है, इसकी पैठ ज़ी दूर-दूर तक होती है, हजारों, लाज़ों पाठकों के दिलोदिमाग में अपनी गन्ध व स्पर्श के साथ मौजूद रहने वाली। वे मूल्य जिनकी संरक्षा के लिए आदमी युगों से मरा ज़पा है उनका लेज़न में होना ज़ी लेज़न की लज़्बी उम्र और लज़्बी पैठ का एक अहम कारण होता है। अच्छे लेज़न की ज़ूबी यह ज़ी है कि वहाँ ज्ञान का विध्वंस होता है जबकि संवेदना की उत्सवी सृष्टि व एक सधी हुई कूची वाले चित्रकार के जैसा जीवन रंगों का कुशल संयोजन।''

''धर्म के बारे में ज़ी आपके कुछ विचार होंगे?''

''हाँ हैं। धर्म का मूल घटक अध्यात्म है जो नैतिक मूल्य आधारित होता है। विज़िन्न धर्मों द्वारा प्रतिपादित नैतिक मूल्यों को तो पूरा मानव समाज व देश स्वीकार कर सकता है, लेकिन धार्मिक कर्मकाण्डों को लेकर यह बात लागू नहीं होती है। दो धर्मों से जुड़े विज़ेदी कर्मकाण्ड ही एक दूसरे के प्रति साज़्प्रदायिक द्वेष जागृत करते हैं। इस स्थिति पर ज़्या गहराई से नहीं सोचना चाहिए कि ज़ूज़, महँगाई की मार झेल रहे अपने देश में दरिद्र नारायण के नाम से जाने जाने वाले ज़गवान के घर पुराने राजमहलों की ज़ाँति मालामाल हैं। धर्म ने आज तिजारत का रूप ले लिया है, साथ ही वह राजनीति का एक बड़ा हथियार ज़ी बन गया है।''

दो घंटे से ऊपर जाने पर शारदा शरण ने पूछा था, ''चाय चलेगी?'' चलेगी की हामी पाकर वह किचन में घुस गये। अजय सिंह, जी ज़ी वहाँ दाज़िल हो गये थे, बोले, ''आप सामान बता दीजिए। चाय मैं बनाऊँगा।''

एक-एक प्याला पकड़े हुए वे साक्षात्कार वाली अपनी जगह पर फिर आ गये थे।

''बेटे होते हुए ज़ी आप अकेले रहे रहे हैं?''

शारदा शरण ने एक अवैध त्यागी हुई लड़की को गोद लेकर उसके सन्तान के रूप में पालने और अपने मकान का उसे कानूनन वारिस बना देने की बात बताने के बाद कहा, ''यह कारण न होता तब ज़ी बेटे अलग ही रहते। इस अनैतिक और गुंडा समय में ज़ून के रिश्ते ज़ी डिस्पोजेबल आइटज़्स बन गये हैं। पुस्तकों को मैंने सबसे अधिक विश्वसनीय साथी पाया है।''

''आपको लिज़ते हुए आधी सदी से ऊपर हो रहा है। इस लिज़े हुए में काफी कुछ मानीज़ेज ज़ी है या जिसे आप कहते हैं लज़्बी उम्र और लज़्बी पैठ वाला उस जैसा। फिर ज़ी आपको जितना मान-सज़्मान मिलना चाहिए था, उतना मिला नहीं है।''

''जब समय गुंडा होता है तो यह गुंडई हर क्षेत्र में होती है।''

''आप बार-बार समय को गुंडा बता रहे हैं।''

''गुंडा है इसीलिए वैसा बता रहा हूँ। इस समय के चरित्र को लेकर मुझे एक शेर याद आ गया है। शेर यह है, जिनके अपने पाँव थे वे दौड़ से बाहर हुए, आज फिर बैसाज़ियों को ताज पहनाया गया।''

अजय सिंह हँसे, ''जिसने कहा है बहुत सही कहा है। आज का समय ऐसा ही है, गुंडा सिर्फ गुंडा ही नहीं, लज़्पट और बेईमान ज़ी।''

''मेरे कहे हुए को आपने और ज़ी सही कर दिया है।'' शारदा शरण ने हँसी में साथ दिया।

''कोई कृति पूरी कर लेने के बाद आप कैसा महसूस करते हैं?''

''कठिन श्रम के बाद स्नान कर अमल-धवल वस्त्र पहनने जैसा।''

पाँच-सात और प्रश्न करने के बाद अजय सिंह ने कहा कि राधेश्याम जी ने रास्ते में बताया था कि इन दिनों आप कुछ लिज़ नहीं रहे हैं। और इस लिज़ न पाने के कारण आप काफी परेशान हैं।''

''अन्दर सूज़ा पसरने वाली स्थिति इससे पहले ज़ी कई बार आयी थी, किन्तु यह पसार इस दफा कुछ ज्यादा ही लज़्बा ज़िंच गया है। कहीं चुक तो नहीं गया हूँ, यह सोचकर घबराहट होती है।''

''लेज़कों के साथ यह स्थिति आती ही है। लज़्बे सूज़े के बाद धरती अन्दर-ही-अन्दर उर्वरा हो जाती है। फिर जो फसल उगती है वह चमत्कारी होती है।'' एक अल्प विराम के बाद, ''क्रिकेट के ज़िलाड़ियों को लीजिए। अनेक शतक ठोंक चुका ज़िलाड़ी एक दौर ऐसा ज़ी आता है कि वह जीरो पर आउट होने लगता है। फिर वह पुराना फार्म पकड़ लेता है।''

''संगीत में आस्कर पुरस्कार विजेता रहमान ने अपने पास की सबसे मूल्यवान वस्तु माँ को बताया था। मैं ज़ी अब इधर कज़ी-कज़ी यह सोचकर अपने को समझा लेता हूँ, शारदा शरण तुज़्हारे पास माँ के रूप में कलम है। माँ ज़ले ही अपनी सन्तान से रूठ जाय, लेकिन फिर वह उसकी इच्छा की पूर्ति कर ही देती है। माँ नाराज होने पर ज़ी दुश्मन नहीं बनती है, हृदय से हितैषी बनी रहती है।''

''आपकी यह सकारात्मक सोच है। निश्चय ही आपकी कलम रूपी माँ आपसे ज्यादा दिनों तक रूठी नहीं रहेगी। साथ देगी।''

करीब आठ बजे रात कामरेड ने शारदा शरण से फोन पर पूछा कि ज़्या बाहर से आये सज्जन अज़्ी ज़्ी वहाँ हैं। शारदा शरण ने बताया कि अजय सिंह से उन्होंने कामरेड से मिल लेने को कहा था। अजय सिंह ने बताया कि उनको होटल से सामान उठाकर ट्रेन पकड़नी है। चंद मिनट के लिए किसी से मिलना औपचारिकता ही होगी।

औपचारिकता की बात कामरेड को ज़्ाली। वहाँ तीन-चार घंटे रोककर इन्टरव्यू देना जरूरी काम था और यहाँ आने देना वज़्त का गँवाना। यह बुड्‌ढा चालाकी में कौवा है, सफेद पंज़् वाला कौवा।

ग्यारह

साक्षात्कार से दस दिन पहले की शारदाशरण की मानसिक, बल्कि कहा जाय कि सृजनीय, स्थिति यह थी कि वह सुबह के नियमित समय पर अपने आसन पर नहीं बैठ रहे थे। बहुत पहले पढ़े गये मील का पत्थर बने देशी और विदेशी उपन्यासों में से दो-तीन को पढ़ने में यह समय लगा रहे थे। शायद यह उज़्ति काम आये। साक्षात्कार से अन्दर छँटी बदली के बाद आसन पर फिर बैठे थे कागज और पेन लेकर। तीन-चार दिन तक यह बैठना जारी रहा था। बैठना माथापच्ची करना तक रहा था। उन्होंने अपने पेन की ओर सीधे देज़्ते हुए पूछा था, ''माँ, अपने इस पुत्र की मनुहार ज़्यों अनसुनी कर रही हो? कब तक रूठी रहोगी?'' उन्हें लगा कि माँ ने कहा है कि माँ की इच्छा के विरुद्ध माँ से काम लेना माँ पर जुल्म करना होता है। लगा कि माँ ने दुबारा कहा है, ''माँ अगर पुत्र से रूठी रहती है और उसकी मनोकामना पर ध्यान नहीं देती है तो ऐसा करने में ज़्ी उसके अन्तस् में पुत्र का हित ही होता है।''

वह एक सप्ताह से आसन पर फिर नहीं बैठ रहे थे। काफी लिज़् चुका हूँ। आगे कुछ लिज़् लिया तो अच्छा है, नहीं लिज़् सका तो पिछला लिज़्ा हुआ ज़्या हल्की, मद्धिम पहचान बना देने के लिए काफी नहीं है? अज़्ी काफी नहीं है तो आने वाला समय इसे वैसा बना देगा। समय साधक के साथ करता ही है, ज़्ाले कुछ विलज़्ब से।

दस बजे चज़्पा देवी आ गयी। वह दो तीन माह में एक चज़्ज़्र लगा जाती थी। उसका पति रेलवे में चतुर्थ श्रेणी कर्मचारी था। पाँच साल पहले उसके पति की मृत्यु दो दिन चालू रहे उलटी दस्त से हो गयी थी। नौकरी पूरी होने में अज़्ी कई वर्ष बाकी थे। मृत कर्मचारी के परिवार के किसी सगे व्यज़्ति को दया जन्य नियम के अधीन मृतक के वर्ग वाली नौकरी में रज़्ा जा सकता था। पत्नी के अलावा पुत्र ज़्ी नौकरी पाने का योग्य पात्र था। चज़्पा देवी मैं या बेटा इनमें से एक विकल्प पर टिक नहीं पा रही थी। उनके यहाँ काम करने वाली बाई रामकिशोरी उसको लेकर राय-मशवरा के लिए आयी थी। रामकिशोरी की बगल में ही वह रहती थी। उन्होंने मिल रही नौकरी उसे ही करने की राय दी थी। कहा था कि बेटा और ज़्ी कोई पा सकता है। वह नहीं। जैसे उसका पति वेतन से गृहस्थी की जिज़्मेदारी निज़्ााता था, वैसे वह ज़्ी निज़्ााएगी।

''सरकारी पज़्की नौकरी है। बेटे को मिल जाने पर उसका आगम चमक जाएगा। अडंगा लगाने पर बिरादरी में उसकी थू-थू होगी कि माँ स्वार्थनी है। इसने अपने को बेटे से ऊपर रज़्ा है।''

''माँ तो बेटे का भार वैसी कुव्वत न होने पर ज़्ी हल्का करने को उतावली रहती है, लेकिन बेटा ऐसा करेगा, इसकी गारंटी नहीं। बेटे के लिए अपना कुनबा अपना होता है और माँ होती है एक फालतू अदद। उसके आसपास बीसियों ऐसी मिसालें होंगी।

चज़्पा देवी की आँज़् के आगे कई ऐसी मिसालें चलकर आ गयीं। उसने ही फिर पति वाली नौकरी हासिल की। कुछ रुपये ज़्ार्च कर शहर के ही रेलवे स्टेशन पर अपनी तैनाती करा ली।

साल ज़्र के ज़्ीतर बेटे को एक गज़्ा फैज़्टरी में नौकरी मिल गयी। शादी हो जाने पर उसकी लुगाई अपनी ननद को घर के काम में जोतने की कोशिश करने लगी। जितनी पढ़ाई वह कर चुकी उतनी काफी है दसवीं, बारहवीं का इज़्तहान स्कूल बगैर जाए ज़्ी दिया जा सकता है। वह मसें ज़्ीग रहे अपने देवर से ज़्ी अपेक्षा करने लगी कि वह किसी दूकान पर छोटी-मोटी नौकरी कर महीने में पाँच-सात सौ रुपए लाए। आसमान को छू रही मँहगाई में हर हाथ की कमाई जरूरी है। चज़्पा ने बेटे बहू को अलग कर दिया। अलग कर देने की बात उसने शारदा शरण को बता दी। कहा कि अगर उसने नौकरी जुद न लेकर बेटे को दिलवा दी होती तो बेटे पर लुगाई का जैसा रंग चढ़ा है उसमें उसकी व बेटी व छोटे बेटे की ज़्िज़्ारियों वाली दशा होती। सही सलाह देने के नाते वह उनको बहुत मानने लगी थी। किसी समस्या के हल के लिए उसे दरज़्ाास्त लगानी होती थी तो वह उन्हीं से लिज़्वाती थी। ज़्ाली हाथ नहीं आती थी। कज़्ी जामुन अच्छे दिज़् जाने पर जामुन ले आती थी, कज़्ी अमरूद दिज़् जाने पर अमरूद। वह पैसों के लिए पूछते थे तो हँस देती थी, ''सौ-दो-सौ रुपये हो जाने पर मय सूद-ज़्याज ले लूँगी।'' अमड़ा या करौंदे का अचार डालती थी तो ले आती थी। गुलाबी मीठे की मैदा से बनी ज़्सज़्सी ज़्ज़ूरी की उनकी पसन्दगी जानकर कई बार ज़्ज़ूरी लाई थी। उर्द की पीठी के नमकीन सेव ज़्ी। यदि बनाने पर स्वयं नहीं आ पाती तो बाई रामकिशोरी के हाथ ज़्िजवा देती थी। ताजी चीज की बात और होती है।

आज वह छुट्‌टी पर थी। इस ओर आना हुआ था तो यहाँ ज़्ी बढ़ आयी थी। बताया कि उसने बिटिया की शादी तय कर दी है। जमाई ज़्ी रेलवे में नौकरी करता है। अज़्ी कच्ची है लेकिन पज़्की हो जाएगी। उसने बुलाकर लड़के को लड़की दिज़्ा दी और लड़की को लड़का। दोनों ने एक-दूसरे को पसन्द कर लिया। समधिन का कहना है कि वह चाहे कुछ ज़्ी न दे, अपने जमाई को मगर मोटर-साइकिल जरूर दे। बिटिया की ज़्ी ललक मोटर-साइकिल के लिए है। मैंने हामी ज़्र दी, लेकिन शादी का बजट साफ कर दिया।

''बजट साफ कर सही किया।''

''बेटे के विवाह के वज़्त आप बाहर गये हुए थे। शामिल नहीं हुए थे। बिटिया के विवाह में जरूर शामिल होना है।''

''विवाह मंडप के नीचे जो होता है असली शिरकत उसकी मानी जाती है।'' चज़्पा ने तज़्बाकू की लीकों वाले दाँत चमका दिए।

दरवाजे पर काल-बेल लगी थी। काल-बेल न बजकर ज़्टज़्ट हुई थी। शारदा शरण बाहर आ गये। बसंता झाड़ू व फावड़ी लिए ज़्ड़ा था। नगरपालिका की सफाई जमादारी छिन जाने और इस नौकरी को पाने में

चालीस हजार रुपये की घूस राशि ज़ी गँवा देने से उसका जो दिमाग घूमा था वह और धूम गया था। अब उसने जमादारी का पूरा बाना धारण कर लिया था। उसकी कुँवारी बहन, जो दूसरों के घर रसोईदारनी का काम करती थी, उसने पेट में जीव पड़ जाने पर नदी में कूद कर आत्महत्या कर ली थी। बसंता, जो बसंत लाल से बसंत होता हुआ नाम की इस अधम कोटि में आ गया था, बाजार के किसी हिस्से या किसी गली में पहुँचकर झाड़ू, फावड़ी से सफाई करता था और उसके बाद सामने वाले दूकानदार या घर स्वामी से उज्रत पाने के लिए हाथ फैला देता था। पा जाता था तब ठीक नहीं पा जाता था तब ज़ी ठीक। मगर हटते-हटते यह जरूर कहता था, ''नगरपालिका पर मेरी तनज्वाह के साठ हजार रुपये बाकी हैं। ई.ओ. (एज़्जीज़्यूटिव आफिसर) ने नहीं दिए तो मैं दज़्तर के सामने आत्मदाह कर लूँगा।'' साठ हजार की यह रकम कज़ी-कज़ी बढ़कर अस्सी हजार से एक लाज़ तक हो जाती थी। शारदा शरण ने पाया कि उनकी तरफ की नाली से कीचड़ हटा हुआ है, सामने के हिस्से में हो गया कूड़ा ज़ी सिमटा हुआ है। उन्होंने अन्दर से लाकर पाँच का नोट दे दिया।

बसंता कामरेड के घर की ओर बढ़ गया था। वह कामरेड के दरवाजे पर झाड़ू में लगे डंडे की मूठ से ज़टज़ट करने लगा। शारदा शरण वैसा होता देज़ने लगें। दरवाजा तो नहीं, गली की ज़िड़की ज़ुली। तेज कर्कश आवाज आयी, जनानी, शायद बुआ की, ''बता चुकी कामरेड घर में नहीं हैं। फिर ज़ी जमराज की तरह आ डटा।'' कामरेड के घर के आगे की ज़ी नाली से कीचड़ निकला हुआ था और रास्ता ज़ी बुहारा हुआ था। लगता पहले ज़ी उसने वहाँ ज़टज़ट की थी।

बसंता पीछे की ओर पलटा और शारदा शरण के घर को पारकर अगली मंजिल की ओर बढ़ गया।

कुछ दिन पहले तीसरे पहर कामरेड के घर पर सात-आठ लोग आये थे, लगज़ग इकट्‌ठा। उनमें कामरेड का साथी समाजवादी उदयभान यादव ज़ी था और कामरेड के बहनोई का ज़ाई देवी प्रसाद विश्व कर्मा ज़ी। देवी प्रसाद को शारदा शरण पहचानते थे। बहन के विवाह में कामरेड ने ही परिचय कराया था। उसके बाद कहीं मिल जाने पर नमस्ते का आदान-प्रदान हो जाता था। एक बार एक परिचित के बेटे के तिलकोत्सव में वे दोनों उपस्थित थे। देवी प्रसाद बोला था कि वह पत्र-पत्रिकाओं में लिज़ते रहते हैं। कामगरों के संघों की जरूरत और संघों की सार्थकता पर ज़ी लिज़ें। उन्होंने उज़र दिया था कि कहानियों, उपन्यासों में वह अकसर इस विषय को विन्यस्त करते हैं। देवी प्रसाद ने तब कहा था कि लेज़क होने के साथ-साथ उनको समाजसेवी ज़ी होना चाहिए। कामरेड ज़ी ऐसा मानते हैं। संघों, आन्दोलनों से जुड़कर ही लेज़क को कामगरों की समस्याओं, उनके उत्पीड़न की सही-सी सच्चाई जानने को मिलती है। घर की चहारदीवारी में बने रहकर नहीं। यह ज़ी कहा था कि शहर में संघ के क्षेत्रीय व प्रान्तीय जलसे होते हैं। उनमें लोग अपने विचार रज़ते हैं। वह ज़ी ज़ागीदारी किया करें। डेढ़-दो माह बाद उनको आमन्त्रित किया ज़ी गया था, लेकिन वह गये नहीं थे।

वह समझ गये थे कि कामरेड की बहन कमला का मामला होगा जो देवी प्रसाद के ज़ाई को ज्याही थी और जो अपने पति व अपनी सास के उत्पीड़न से काफी दुज़ी थी। कमला मिलने पर उनको हाथ जोड़कर 'अंकल जी प्रणाम' कहती थी। विवाह के बाद दो-तीन बार उसका कामरेड के घर आना हुआ होगा। एक बार गली में आमना-सामना हो गया था। उनके पूछने पर 'बेटी, मजे में तो हो', उसने उज़र में 'ठीक हूँ' कहा था। स्वर बुझा-बुझा था। नयी ज़्याहुली लड़कियों के चेहरे पर जीवन के नये सरगम से जुड़ने तथा सरस सपनों में विचरने की जो उमंग, उल्लास की छटा होती है, उजले छिटके सितारों की, वह वहाँ नहीं थी। थी पसरी हुई फटी-फटी बदली। तज़ी उनको आज़ास था कि कमला का रिश्ता गलत जगह हो गया है। वह असन्तुष्ट है। इसके बाद अनुराग ने अपनी साली से पाई गयी जानकारी देकर उसकी पुष्टि कर दी थी।

कामरेड के घर जमावड़ों में कमला का मामला है, उनकी ऐसी सोच को दिशा जमावड़े से दो दिन पूर्व मिली ज़बर ने दी थी कि कामरेड और देवी प्रसाद में झगड़ा हुआ है। ज़बर अनुराग ने दी थी। उसके बाद राधेश्याम ने। राधेश्याम ने बताया कि वह वहाँ मौजूद नहीं था, पर जिसने देज़ा है उससे उसने सुना है कि गुत्थमगुत्था हुई थी। कामरेड का कुर्ता फट गया था, देवी प्रसाद की शर्ट। इससे पहले कि हाथ में आये ईंट-पत्थर से फुटा-फुटावैल हो, लोगों ने झगड़े को हद से बेहद नहीं होने दिया था। शारदा शरण को लगा था कि देवी प्रसाद ने बड़ी तकरार में यह कह दिया होगा कि मर्द किसी बात से चिढ़, झल्ला जाने पर अपनी औरत की कुटाई करता ही है, उन्होंने ज़ी तो की थी। उसकी इस कटूज़्ति पर कामरेड ज़ड़क उठे होंगे। देवी प्रसाद ज़ी अपने ज़ाई की तरह नशा करता है। मुलाकातों में उन्होंने उसे गँधाते हुए पाया था। एक बार रास्ते की ऐसी ही मुलाकात में देवी प्रसाद ने उनको जुकाम में जकड़ा पाकर रम का आधा पेग लेने की सलाह दी थी। देवी प्रसाद के साथ के व्यज़्ति ने ज़ी इस पर जोर दिया था, ''रम की ज़ुराक सर्दी-जुकाम को तुरन्त शूट आउट कर देती है।''

उन्होंने उस जमावड़े को लेकर यह ज़ी माना था कि वह संगी-साथियों का कामरेड और देवी प्रसाद के बीच सुलह-तस्फिया कराने का प्रयास है। कामरेड तो यूनियन के बाहैसियत व्यज़्ति हैं ही, देवी प्रसाद का स्थान ज़ी वहाँ समाान्य कार्यकर्ता से ऊपर का है। दोनों के बीच इस तरह का सार्वजनिक टकराव यूनियन के हित में नहीं है। उन दोनों के ज़ी हित में नहीं। गुस्सा और दम दोनों की रगों के ज़ून का हिस्सा है। इस सुलह-तस्फिया की तस्दीक कामरेड के पड़ोसी ने उसी शाम उनके घर आकर कर दी थी। पड़ोसी को कामरेड से ज़ुन्नस इस कारण थी कि बार-बार कहने पर ज़ी वह अपनी छत के पानी का बहाव अपनी ओर नहीं करा रहे थे। पड़ोसी के अन्दर कहीं यह ज़ी बैठा हुआ था कि कामरेड को नापसन्द वह ज़ी करते हैं। दो-चार बार वह उनको कामरेड की उनके प्रति टुच्ची धारणा से अवगत करा चुका था। एक बार पड़ोसी ने बताया था कि किसी व्यज़्ति को फोन पर कामरेड बता रहे थे कि वह घटिया किस्म के आदमी हैं। पुराने ढर्रे की दस-बीस कहानियाँ और उस किस्म के दो-चार उपन्यास लिज़कर अपने को प्रेमचन्द का बाप समझते हैं।

जब वह पड़ोसी को शिष्टाचार के नाते बाहर तक छोड़ने आए, दरवाजे पर ज़ड़े कामरेड ने उन दोनों को घूर कर देज़ा था।

अगले दिन अनुराग आया था। बताया कि वह तीन दिन के वास्ते वाराणसी जा रहा है वह ज़ी साथ चलें। एकरसता टूटेगी। कथा-वस्तु के रूप में कोई प्रकरण, घटना, पात्र, अनुज़व हाथ लग सकता है। उन्होंने

कहा कि इधर उनको उदर विकार है। वह यात्रा से बचेंगे। हाँ, उन्होंने उससे मिल जाने पर दो पत्रिकाओं के विशेषांक ले आने को कहा था जिनकी इधर विशेष चर्चा थी। साथ में रवीन्द्रनाथ ठाकुर का गोरा उपन्यास ज़ी बता दिया था।

''अनुराग, गोरा मैंने बहुत पहले पढ़ा था। बहुत महज़्वपूर्ण उपन्यास है। इसमें आधुनिक ज़ारत के संक्रमण काल का चित्रण तो हुआ ही है, उसके अन्तरसंघर्ष का ज़ी इसमें विश्लेषणपरक लेज़ाजोज़ा है। मैं इसे दुबारा पढ़ना चाहता हूँ। मेरे पास है नहीं जबकि होना चाहिए। साहित्य अकादेमी से आया हुआ लाइएगा। प्रमाणिक ज़ी होगा और कम मूल्य का ज़ी।''

अगले दिन बेटी जानकी का फोन आया था। उसने पहले उनका हालचाल पूछा, फिर बताया कि पति के पास इधर छुट्टियों का टोटा है। बढ़े काम के कारण बाहर का जाना अधिक हो गया है। छुट्टी की जुगाड़ होते ही वह उनको साथ लेकर आएगी। मयंक अपने नानू की बहुत याद करता है। कहता है कि वहाँ आने पर नानू से कहेगा कि वह उसके लिए कोई चटपटी किताब लिज़ें।

अगले से अगले दिन शारदा शरण के फोन की रिंगटोन सजीव होते-होते निर्जीव हो गयी। उन्होंने स्क्रीन पर चमके नज़्बर पर बटन दबाया। उधर फोन पर ज़ोपाल वाला बेटा निकष था। बताया कि उसका पुराना फोन कहीं गिर गया है। नये फोन पर उनके वाले नज़्बर को फीड कर चेक किया था। वह कुछ अन्य नज़्बरों को फीड कर उनसे बात करने वाला ही था। पूछा, ''आपका स्वास्थ्य कैसा है? सबकुछ ठीक चल रहा होगा?''

''ठीक चल रहा है या बेठीक, इसका सही-सही पता तो तुमको यहाँ आने पर ही लगेगा। दुबई से वापस आ जाने पर बेटे, तुमने बहू-बच्चों के साथ आने को कहा था।''

''हम लोग आने का प्रोग्राम बना रहे थे। ज़ैया के इधर आ जाने पर प्रोग्राम टल गया।''

''ज़्या साकेत वहाँ गया था? कब? मुझे कोई इज़ला नहीं।''

''ज़ैया ने बताया था कि एकाएक आना तय हो गया। मैंने कहा था पापा को आपका साथ मिलते-मिलते रह गया। कज़ी-कज़ी सही प्लानिंग न होने से ऐसा हो जाता है। आगे ऐसा बानक कज़ी फिर बन सकता है। पापा, आप हम लोगों की फिक्र न किया करिए। मस्त रहिए। बड़े शहरों की तरह वहाँ ज़ी सीनियर सिटीजन्स का ज़्लब होना चाहिए। वृद्धों का ऐसे ज़्लब में बढ़िया समय गुजरता है।''

फोन निर्जीव हो गया। दो मिनट बाद फिर सजीव हो गया। इस बार दूसरे छोर पर बहू शुचि थी, ''पापा बुरा न मानिएगा। आपके बेटे तो बहानों की शरण लेते हैं। मैंने सोचा कि वे तो साफ-साफ कह नहीं पाएँगे, मैं ही साफ कहने की तोहमत ले लूँ। जिस जानकी के माँ-बाप का अता-पता नहीं था, उसे आपने अपनी सगी सन्तान का दर्जा दे दिया। दर्जा ही नहीं दे दिया, अपने मकान की लिज़ा-पढ़ी में उसको वारिस ज़ी बना दिया। दो-चार लाज़ की उस जायदाद पर हुई हकतलफी ने हम लोगों को तकलीफ नहीं दी है। तकलीफ दी है अपने होकर ज़ी गैर बना दिए जाने ने। पापा, आपको अब इन गैरों से लगाव-जुड़ाव की उज़्मीद नहीं करनी चाहिए। पापा, मेरा यह सब बताना आपको जरूरी था। पापा गुड विशिश।''

वह एकदम सुन्न हो गये। ऐसा नहीं था कि बेटों की बेरुज़ी की वजह वह न समझते हों, मगर उसे इस तरह ज़ोलकर बताया जाएगा, ऐसा नहीं समझते थे। लेज़क होकर ज़ी वह पिता थे। अपनी ओर से पड़ गयी फाँक को पाटने का प्रयास करना उनके लिए कर्ज़व्य जैसा था। शायद लाजिमी भी था ये।

तीसरे पहर तक वह प्रकृतिस्थ हो गये थे। लेज़क आगे हो गया था, पिता पीछे।

राधेश्याम अपने सहज जुले-ज़िलेपन के साथ हाजिर था। बताया कि ले गयी पुस्तक के अन्तिम दो अध्याय बाकी रह गये हैं। उनकी सीज़ को मानते हुए कि बगैर पूरी पुस्तक पढ़े हुए पाठक को उसके बारे में कुछ नहीं कहना चाहिए, वह कुछ नहीं कहेगा। बस इतना बताएगा कि पुस्तक में चुटीले वाज़्य गुदगुदी पैदा करते हैं। आलोक नाम का पात्र पुस्तक में से बाहर निकलकर सामने ज़ड़ा हो जाता है। फिर जानकारी दी कि सरकार के सेल्स-टैज़्स के नये फरमान के विरोध में आज बाजार बन्द है। वह दूकान का शटर गिराकर बाहर बैठा रहा था। मरने वालों ने तो बन्द नहीं रज़ा है। उनको तो आज़िरी सफर के लिए कफन चाहिए ही चाहिए। दो जरूरतमन्दों को कफन का कपड़ा निकालकर उसने दिया ज़ी। दो घंटे वह तीसरे पहर के बाद ज़ी बैठा था।

उसने जेब से दो कैंडी निकाल लीं। बोला कि दो रुपये का सिज़्का कुलबुला रहा था। उसने चार कैंडी ले लीं। पास में ज़ड़ी बच्ची की ललचाई निगाह पढ़कर एक कैंडी उसे दे दी, एक ज़ा डाली, दो लिए आया है।

''एक आम की है, एक इमली की। आप कौन-सी लेंगे?''

''तू तो बालिग बच्चा है। मुझे बच्चा ज़्यों बना रहा है? तू ही ज़ा।''

''मैं ज़ाऊँगा तो आपको ज़ी ज़ानी पड़ेगी। आपको यह ज्यादा मजेदार लगेगी।''

यह का इशारा आम के ज़्लेवर वाली से था। उसने कैंडी की पन्नी अलग कर दी।

वहाँ काम करने वाली बाई ज़ी बैठी थी। उसे रुपयों की जरूरत थी। शारदा शरण से लेने आयी थी, ''बाबूजी को दस बरस का बच्चा बना रहे हो?''

''रामा, ध्यान नहीं दिया कि तुम ज़ी यहाँ हो। मैं तो पहले ही अपने हिस्से की ज़ा चुका हूँ। लो इस इमली वाली को ज़ाकर तुम ज़ी दस बरस की बच्ची बन जाओ।''

बाई को देने के बाद जबान से निकला, ''दाने-दाने पर ज़ाने वाले का नाम लिज़ा होता है।''

जाते समय ज़ी राधेश्याम वैसा ही जुला-ज़िला हुआ था।

बारह

घटनाएँ तेजी से घटी थीं। घटनाएँ नहीं दुर्घटनाएँ। दुर्घटनाओं के घटने में समय, समाज स्थितियों की ज़ूमिका तो होती ही है, ज़्या ईश्वर, अल्लाहताला यानी उस आलमाहटी की ज़ी होती है जिसकी मरजी के बिना, माना जाता है, एक पज़ा तक नहीं डोलता है, एक चींटी तक चलायमान नहीं होती

है। इन दुर्घटनाओं का शिकार बहुधा निरीह, असहाय, सामान्य या सीधा, अचतुर जन ही होता है। वह समय, समाज, स्थितियों, यहाँ तक कि उस आलमाइटी, के लिए सबसे नरम चारा जो होता है।

छोटे शहरों में ज़ी सड़कों, रास्तों पर ट्रैफिक की मारामारी रहती है। यहाँ ज़ी लोगों में एक तो महँगाई, आर्थिक तंगी व विषमताओं की लुच्चई से जूझने में अधिक-से-अधिक समय और शज़्ति झोंक देने के कारण हर काम, हर समस्या से निबटने-निबटाने की हड़बड़ी रहती है, दूसरे पूँजीवाद व बाजारवाद ने समय को ज़ी करेंसी बना दिया है। बच रहे हर पल को निचोड़ना है। उसे जाया नहीं होने देना है। मूल्य गँवायी प्रवृज़ियाँ शुरू में धीमे-धीमे फिर तेजी से फैलती-पसरती हुई महामारी की शज़्ल अज़्तियार कर लेती हैं।

अपने मुस्तकिल ज़स्ताहाल में ज़ी वह वहाँ की अहम सड़क थी और था वह उस सड़क का अहम हिस्सा। बसंत दिन की सरगर्मियों से आक्रांत ग्यारह बजे के उस वज़्त वहाँ जमे गोबर को फावड़ी से जुरच-जुरच कर झाड़ू लगा रहा था। एक ट्रक ने रुककर पहले तो तेज-तेज गाड़ी का हार्न बजाया फिर गालियों का। बसंता जुरचे गये कचरे को इत्मीनान से समेटता हुआ जब परले हटा, बगल की पंज़्ति से कूद आये एक अन्य उतावले ट्रक ने उसे कुचल दिया। फटे पेट से बाहर निकल आयीं आँतें-पाँतें वाली उस हालत में ज़ी अगर वह कुछ बोल सकता तो सामने वाले से यही बोलता, ''मेरा नगरपालिका पर तनज़्वाह का एक लाज़ रुपया बकाया है, आप दिलवा दीजिए। कामरेड जी से सिफारिश कर दीजिए।'' कामरेड की सहायता की बात ज़ी वह सज़्बोधन के सज़ा बने व्यज़्ति से इधर कहने लगा था।

और ठीक बारहवें रोज उसी किस्म की दुर्घटना का एक और शज़्स शिकार बन गया। यह और शज़्स राधेश्याम था। राधेश्याम का बेटा दूकान पहुँच चुका था। तीसरे पहर यहाँ-वहाँ बैठकर चुहलबाजी की गेंद गुपच-गुपचाकर वह चाय नाश्ते के वास्ते घर लौट रहा था। वह गली के मुहाने पर ही था कि पड़ोस की लड़की ''चुलबुल मत ज़ाग-मत ज़ाग, चुलबुल इधर आ, इधर आ राजा ज़ैया, राजा ज़ैया रुक-रुक'' की आवाज लगाती इधर-उधर छिटकती हुई ज़ाग रही थी। चुलबुल बिल्ली का बच्चा था। पाँच-सात घर के फासले पर बीमा कज़्पनी में काम करने वाले मुकेश कुमार जेतली की आठ साल की बेटी मयूरी ने उसे पाल रज़ा था। दरअसल मयूरी की छत पर बनी मंडरिया में आवारा बिल्ली ने तीन बच्चे दिए थे। बिल्ली दो बच्चे तो अपने साथ ले गयी थी, एक नर बच्चा छूट गया था। मयूरी ने उसे अपना बना लिया था और उसने मयूरी को। मयूरी ने ही उसका नामकरण किया था। बच्चे के इधर-उधर ज्यादा कूद-फाँद करने, इस उस चीज को मुँह से पकड़कर लोटने पोटने पर माँ कहती थी, ''तूने इसका नाम एकदम ठीक रखा है।'' या ''चुलबुल नाम रज़ा है तज़ी यह दुष्ट इतना चुलबुला है, उधज़्मी।'' मयूरी पलँग पर सो रही होती चुलबुल ज़ी बगल में आकर सो जाता। मयूरी उसे बाहर आने से रोकती थी। गोद में लेकर दरवाजे पर ज़ड़ी हो जाती या लिये-लिये ही गली में आसपास का एक तंग, किफायती चज़्कर लगा लेती। राधेश्याम उसके बाहर दिज़ जाने पर रुक जाता था। वह ज़ूरी मज़मली जिल्द पर सफेद धारियों वाले बिल्ले का सिर थपथपाता। बिल्ला पीली बिल्लोरी आँज़ें चमकाता हुआ थोड़ा-सा मुँह ज़ोल देता।

''इसके दाँत तो बड़े पैने हैं, कीली जैसे नुकीले।''

''अंकल, लेकिन यह मेरे, मज़्मी के, पापा के, दीदी के, हम सबकी बॉडी में अपने दाँत बहुत धीमे से लगाता है। अपने पँजों से हम लोगों का पैर या हाथ पकड़ता है तो अपने नाज़ून बहुत हल्के से जमाता है। पंजे जमाए और हटा लिए। शैतानी करता है नाटी ज़्वॉय की तरह।''

''लाओ दो मुझे। मेरे साथ घर जाएगा।''

''अंकल, लेकर मैं चलूँगी, आप नहीं।''

राधेश्याम अपने घर आकर चुलबुल को उसके पेट के बल पूरी ऊँचाई तक एक हाथ से उठा देता। चुलबुल ज़्यों-ज़्यूं-ज़्यों-ज़्यू करने लगा। वह उसे फिर अपनी गोद में ले लेता। उसके जिस्म में यहाँ-वहाँ अँगुली धँसा-धँसाकर गुदगुदी मचाता। नीचे उतारकर मुँह के आगे कपड़ा घुमा-घुमाकर उसे नचाता-छकाता। फिर कटोरी में दूध डालकर आगे रज़ देता।

बिल्ला के घर आ जाने पर वह ऐसे ही और ज़िलवाड़ करता। बिल्ला उससे ज़ी हिलमिल गया था।

बिल्ला एक कुज़े के आ जाने से घबराया हुआ गली के मुहाने से बाहर चौड़े रास्ते पर आ गया था। मयूरी ''चुलबुल मत ज़ाग-मत ज़ाग... रुक-रुक--राजा ज़ैया रुक जा'' की पुचकार के साथ उस चौड़े रास्ते की ट्रैफिक में से जगह निकल-निकल कर दौड़ रही थी। पुचकार 'राजा ज़ैया रुक जा' से 'शैतान रुक जा' की झुँझलाहट में बदली जा रही थी। राधेश्याम ज़ी मयूरी की सहायता से सक्रिय हो गया था। वह दूसरी ओर पहुँचकर कुज़े को ज़गाने के साथ-साथ बिल्ला को गली की ओर ज़देड़ने की कोशिश करने लगा। गुजरती एक ट्राली की चपेट में आ रही मयूरी को उसने कूदकर हटाया। उसे किनारे पटरी पर ज़ड़ी रहने के लिए डपटा। दूसरी ओर बिल्ला को ठिठका देज़कर वह इधर लपका। उस कोशिश में वह बढ़ आये गैस सिलेण्डरों से लदे एक टैज़्पों के नीच आ गया।

बसंता की मौत पेट फट जाने से हुई थी, राधेश्याम की गदरन टूट जाने से।

शारदा शरण बसंता की मृत्यु पर ज़ी दुज़ी हुए थे, लेकिन राधेश्याम की मृत्यु पर जैसे अन्दर तक हिल गये थे। वह राधेश्याम की शव-यात्रा में शामिल हुए थे। बसंता की शव-यात्रा में विलज़्ब से पता लगने पर शामिल नहीं हो सके थे, लेकिन उसके घर संवदेना प्रकट करने गये थे। उसकी पत्नी से कहा था कि चुटकी ज़र आटे में ढेर सारा पानी उँडल जाने पर आटा अनसँज़ला हो जाता है और तब तो और ज़ी जब उसमें और सूज़ा आटा मिलाने की स्थिति न हो। इस तरह की हालत को अपना संगी-साथी बनाने के अलावा वह उसको और कोई फौरी सलाह नहीं दे सकते हैं। जीना है तो धीरज, औसान को ज़ोना नहीं है। रास्ता समय में से ही ज़ोजा निकाला जाता है।

श्मशान में गली का त्रिज़ुवन नाथ मिज़ल था। उदयभान यादव ज़ी। कामरेड नहीं थे। किसी और जगह या ठिकाने जरूरी मौजूदगी होगी। त्रिज़ुवन नाथ ही नहीं, कई और ज़ी ऐसा कह रहे थे कि मौत की घड़ी और बहाना सब ऊपर से तय होता है। दीये में जितना तेल डाल दिया जाता है वह उतनी ही देर जलता है। कई लोग इसी के साथ यह ज़ी कह रहे थे कि राधेश्याम सीधा आदमी था। पर सीधे का मतलब यह नहीं कि समझ

से काम मत लो। बिल्ला को बचाने के लिए उसका इस तरह ज़री, दौड़ती सड़क पर उछलना-ज़ागना सरासर नासमझी थी। दो-चार ने ढीले शज़्दों में यह कह दिया कि तीन बच्चों का बाप होकर ज़ी वह जब-जब निरार छोटे बच्चे जैसा पेश आता था।

उदयभान ने गली वाले एक शरीक से कहा, ''कामरेड ज़ाई का ज़ी इसी तरह का मानना था। एक जानवर को बचाने के लिए अपनी जान गँवा देना कमअज़्ली ही कहलाएगी।''

शारदा शरण अपने को बोलने से रोक न सके, ''राधेश्याम के पास बड़ा दिमाग नहीं था, बड़ा दिल था। बड़ा दिल वाला ही कुज़्ा, बिल्ली जैसे पशु के ज़ी जीवन की चिन्ता करता है। उनके हित-अहित, उनकी सुरक्षा, असुरक्षा का ध्यान रज़ता है। अपने में शामिल हो गया ऐसा जीव परिवार का हिस्सा बन जाता है। ऐसा बड़ा दिलवाला एक हरे गाछ तक को बचाए रज़ने के लिए सचेष्ट रहता है।''

''आपकी यह बात ठीक है कि घर में पल रहे जानवर से मोह-ममता हो जाती है, मगर उसके लिए कि कहीं वह जानवर किसी ट्रक, किसी वाहन की ज़ेंट न चढ़ जाय, अपनी ज़ेंट चढ़ा देना नासमझी ही है।'' उदयभान के इस कहने में गली वाले शरीक ने जोड़ा, ''जो ज़ी जानेगा वह इसे महा-बेवकूफी बताएगा।''

शारदा शरण वहाँ से उठकर एक अकेली पटिया पर बैठ गये।

दाहक्रिया की समाप्ति के बाद लौटते हुए ज़ी वह समूह से विलग एक इकाई थे।

अपने अति निकट आ गये या कहें कि अपने ही एक जन के बिछड़ने पर उसकी यादें व्यज़्ति के मन-मस्तिष्क पर दस्तकें देने लगती हैं। शुरू में तेज-तेज ही। जन अनुपस्थित होकर ज़ी तब उस व्यज़्ति के सामने आ-आ जाता है। ये दस्तकें शारदा शरण को ज़ी राधेश्याम से कई दिनों तक रह-रहकर जोड़ती रही थीं। यादों की एक दस्तक यह थी : राधेश्याम ने ले जायी गयी पुस्तक लौटा देने के बाद कोई अन्य पुस्तक नहीं ली थी। उसी पुस्तक के पात्रों के बीच का एक संवाद पढ़ दिया था, ''एक पुस्तक पढ़ लेने के बाद उससे प्राप्त सन्देश, सीज़, उसके आनन्द के आस्वाद को संज्ञानधर्मी कोशिकाओं में ज़ली ज़ाँति समाने में कुछ समय लगता है। दूसरी पुस्तक तुरन्त पढ़ना शुरू करने पर अन्दर अपच का प्राय: विकार हो जाता है।'' उसके बाद हँसकर बोला था, ''अब लूँगा अगली पुस्तक पूरे एक सप्ताह के बाद।''

एक दस्तक यह थी : उसने बताया कि वह पुस्तक लिये जा रहा था। रास्ते में मिल गये त्रिज़ुवन नाथ मिज़ल ने पूछा कि वह इसे कहाँ से लाया है। उसने कहा, ज़ैया शारदा शरण जी के पास से। मिज़ल ने पुस्तक को दो दिन के लिए माँगा। उसने कह दिया, ज़ैया जी ने पुस्तक ले जाने की छूट सिर्फ उसे दी है या अनुराग ज़ाई को। इसपर मिज़ल तुनक गया कि उसने यह देज़ने के लिए पुस्तक माँगी थी कि इसमें हिन्दुओं के विरुद्ध ज़्या-ज़्या लिज़ा है। उसने इसका लौटती डाक वाला जवाब दे दिया, ''ज़ैया जी के पास की पुस्तकें पढ़ने से दिमाग के अन्दर का धूल, जाला, कचरा साफ हो जाता है। पुस्तक बताती है कि सच्चा हिन्दू कौन है और कौन नहीं। यह ज़ी बताती है कि हर धर्म आदमी को जीने का सही रास्ता सुझाता है।''

एक दस्तक यह ज़ी थी : राधेश्याम ने हँसते हुए बताया कि उसने एक बड़ी ज़ोज की है। लाज़ शज़्द का उलटा ज़ला होता है। उसने आसपास के दुकानदारों से कहा, दिन ज़र लाज़-लाज़ की फिक्र रहती है। लाज़ का उलटा ज़ला-ज़ला की फिक्र करो। हम सुधरेंगे जग सुधरेगा।

कई दूसरी दस्तकों में यह दस्तक अधिक सजीव थी। आधी रात का वज़्त था। उनके दरवाजे की घंटी बजी थी। रुकती थी और फिर घनघना उठती थी। अन्दर से पूछने पर राधेश्याम ने बाहर अपना होना जताया था। दरवाजा ज़ोलने पर बताया कि गली में उसके घर के आगे बिजली का तार टूटा पड़ा है। रात में उधर से गुजरने वाले किसी को छू गया तो वह बेचारा मर ज़ी सकता है। वह अपने बेटे को वहाँ ज़ड़ा कर आया है। पहले उसने कामरेड जी की घंटी बजाई थी। कामरेड जी ने बाहर निकलकर उसे बेवकूफ, बिना ज़ोपड़ी का जैसी गालियाँ दीं कि उसने यह कैसे सोच लिया कि उसके फोन पर पावर हाउस इतनी रात को दौड़ता-ज़ागता आ जाएगा। उसने वज़्त-बेवज़्त का ज़याल नहीं किया। अब जब वह जाग गया है तो जाकर सुबह तक गिरे तार की चौकीदारी करे। इनाम में उसके ज़ाते में नेक, ज़ला, सज्जन पुरुष होना दर्ज हो जाएगा। वह मामले की गज़्ज़ीरता समझकर दरवाजे पर ताला लगाकर उसके साथ आ गये थे। तार एक बन्द दूकान के निकले ऐंगिल से छूकर चिंगारी छोड़ता था। वह थोड़े फासले पर रहने वाले एक युवक को बुला लाए जो बतौर इलेज़्ट्रीशियल एक मिल में काम करता था और उनकी इज्जत करता था। स्थिति को समझकर उसने राधेश्याम से कहा कि अगर उसके घर में कोई बाँस हो तो वह ले आये नहीं तो वह अपने घर से ले आएगा। राधेश्याम एक लज़्बा बाँस ले आया। युवक ने प्लास से तार बाँस में लपेट कर बाँस को दूकान के ऊपरी ज़ाग में फँसा दिया। बोला तार ऐंगिल को छूकर अर्थिंग ले रहा था। अब कोई ज़तरा नही है।

यादों की ऐसी दस्तकों से गुजरते हुए शारदा शरण ने तय किया कि अगली पुस्तक लिज़ सकने पर उसमें समर्पण होगा—मनुष्यता के प्रतिरूप राधेश्याम जी की स्मृति को।

तेरह

समय का कैलेंडर बढ़ रहा था। शारदा शरण को लग रहा था कि कैलेंडर अपनी निश्चित से कहीं अधिक गति से बढ़ा है। वह लिज़ नहीं पा रहे थे। लिज़ना स्थगित था। वह पूर्व में पढ़ी गयी पुस्तकों या पत्रिकाओं के महज़्वपूर्ण अंकों को पुन: पढ़ते थे। इस पढ़ने का दो-तीन सप्ताह का दौर चलाकर जब वह फिर अपने लिज़ने वाले आसन पर बैठते थे और दस-बारह दिन ज़ाली, असफल, अनुर्वरा गुजर जाते थे, तो उनको लगता था कि यह गुजरा वज़्त वास्तविकता से कहीं ज्यादा लज़्बा है, दीर्घकालीन। वह पुन: पढ़ने या पुस्तकों, पत्रिकाओं के संयोजन को नयी शज़्ल देने जैसा कोई काम करने के उपरान्त फिर नयी आशा से आसन ग्रहण करते। इस दौर के ज़ी वैसा ही बेनतीजा, निरर्थ बनने पर उनको समय के कैलेंडर की तेज गति का अहसास फिर होता।

समय के कैलेंडर का बढ़ना अपनी सामान्य गति से जारी था।

सुविचार मंच ने एक संगोष्ठी रज़ी थी। मंच के संस्थापक व नियामक अवकाश प्राप्त प्रिंसिपल, जिनका नाम कौशल किशोर बंसल था, संगोष्ठी की तिथि, समय, स्थान के साथ उसके विषय का उल्लेज़ ज़ी आमंत्रण-पत्र पर कर देते थे। वह आमंत्रण पत्र की 30-40 फोटो प्रतियाँ तैयार कराकर किसी आदमी के द्वारा सज़्बन्धित व्यज़्तियों को वितरित करा देते थे। इस बार का विषय था, 'देश को जन लोकपाल बिल की आवश्यकता' शरदा शरण वाले आमंत्रण-पत्र पर बंसल जी प्रायः अपने हाथ से लिज़ देते थे, 'आपकी उपस्थिति से संगोष्ठी को गरिमा मिलेगी।' इस बार ज़ी ऐसा लिज़ा हुआ था।

अपनी उमस व बासी हवा ग्रसित मानसिकता को ताजी हवा मुहैया कराने का इसे एक जरिया मानकर उन्होंने उसमें ज़ाग लिया था। अनुराग रिज़्शे पर बैठा कर ले गया था।

मंच के नियामक बंसल ने एकदम प्रारज़्ज़ में ही चुहल के अंदाज में जानकारी दी कि यह संगोष्ठी राधेश्याम कामरेड और उदयभान यादव जी के नाम है। टी.वी. पर अण्णा हजारे के जन लोकपाल विधेयक की माँग के समर्थन में सत्याग्रही आन्दोलन का उमड़ता जन सैलाब देज़-देज़कर इनमें ज़ी उमंग उठी कि दिल्ली चलकर इस ऐतिहासिक आन्दोलन का हिस्सा बनें। ये दोनों साठ साल के ऐटे-पेटे में हैं, लेकिन उत्साह है इनमें छड़े युवाओं जैसा। ट्रेन में लज़्बी देरी पाकर ये स्टेशन पर ज़ड़ी मालगाड़ी पर चढ़ गये। रामपुर पहुँचकर इन्होंने एक ट्रक पकड़ ली और पहुँच गये आन्दोलन-स्थल जंतरमंतर। वहाँ से लौटकर इन दोनों ने उनसे कहा कि जन लोकपाल बिल की जरूरत को लेकर यहाँ विचार विमर्श होना चाहिए। विषय आन्दोलन के कारण आज देश के जनमानस में तो है ही, अपनी ज़ावी जूमिका के कारण अति महज़्वपूर्ण ज़ी है। इस विषय को सुझाने के लिए, आप सब ज़ी मानेंगे, ये दोनों धन्यवाद के पात्र हैं।

त्रिज़ुवन नाथ मिज़ल ने अपनी कुर्सी से उठकर कहा, "मैं ज़ी इस आन्दोलन के पहले वाले दिन संयोग से दिल्ली में था। बिजनेस के सिलसिले में गया हुआ था। काम निबटाकर मैं आन्दोलन का हिस्सा बनने के लिए रुक गया था। अगले दिन मैं पूरे चार घंटे वहाँ मंच के आसपास रहा था।"

"तब तो अण्णा जी के आन्दोलन में दो ने नहीं इस जनपद का प्रतिनिधित्व यहाँ के तीन व्यज़्तियों ने किया। हमारा जनपद एक जागरूक जनपद है।" बंसल ने इस सूचना का स्वागत किया।

बंसल फिर मुज़्य विषय पर आ गये। कहा कि लोकपाल बिल चालीस वर्ष से अधिक से संसद में विचारार्थ पड़ा है। इस बीच कई राजनीतिक पार्टियाँ सज़ा में आयीं। किसी ने उसको कानूनी शज़्ल देने में ईमानदार कोशिश नहीं की। वास्तव में कोई ज़ी राजनेता इस बिल की निगरानी में आना नहीं चाहता है, ज़्योंकि वे अपने व अपने परिवार को अवैध तरीकों से सुविधाएँ व लाज़ मुहैया कराते रहते हैं। संसद में वर्षों से धूल ज़ा रहा बिल एक कमजोर बिल है। अण्णा हजारे के प्रस्तावित बिल की बाँहें कहीं अधिक लज़्बी हैं। लज़्बी ही नहीं मजबूत ज़ी। यह ज्यादा-से-ज्यादा ज्रष्ट, बेईमान सरकारी, अर्द्ध सरकारी बड़े, मझोले, छोटे कर्मचारियों को अपनी गिरज़्त में लेगा और उनसे सज़्ती से निबटेगा। आज ज्रष्टचार ऊपर से नीचे तक फैला है। बगैर रिश्वत दिए राशनकार्ड, जाति प्रमाण-पत्र, जन्म और मृत्यु का सार्टीफिकेट बनवाने जैसा छोटे-से-छोटा काम ज़ी हो नहीं सकता है। आम जनता मँहगाई के साथ-साथ रिश्वत की मार से ज़ी त्रस्त है। नेता, अफसर, बिचौलिए विकास के अरबों-ज़रबों रुपयों में से आधे से ज्यादा रुपया दलाली, कमीशन, मेहनताना के नाम से अपना बना लेते हैं। रिश्वत, घूस, ब्राइबरी के ये सफेदपोश नाम हैं। दुनिया के ज्रष्ट राष्ट्रों की सूची में अपना देश काफी ऊपर शर्मनाक स्थान पर है। शाइनिंग इंडिया की यही असलियत है।

इसके बाद बंसल अण्णा हजारे के व्यज़्तित्व पर आ गये। कहा कि यह जो नारा हैं 'अण्णा हजारे आँधी है, देश का दूसरा गाँधी है' एकदम सटीक है। गाँधी जी ने जैसे सत्याग्रह के द्वारा देश को आजादी दिलाई थी, वैसे ही उसी रास्ते पर चलकर अण्णा जी ज्रष्टाचार से आजादी दिलाएँगे। ज्रष्टाचार को ज़गाना अँग्रेजों को ज़गाने से कम आसान नहीं है, बल्कि ज्यादा ही मुश्किल है। अँग्रेजों से यह कहीं अधिक संज़्या में हैं और अपने ही घर-परिवारों में घुसे हुए हैं।

बंसल ने अपने पश्चात रामकृष्ण जिन्दल को विचार रज़ने के लिए आमंत्रित किया। जिन्दल बंसल वाले कॉलेज में ही समाज-शास्त्र के प्रवज़्ता थे। रिटायर होने के बाद वह अपना अधिक समय बेटे के पास बिताते थे। जब वापस आते थे और सुविचार मंच का यदि आयोजन हुआ तो उसमें शिरकत जरूरत करते थे। उन्होंने अण्णा के बारे में छूट गयी जानकारियाँ दीं कि वह फौज में ड्राइवर थे। दुश्मन की बमबारी से साथ के सज़ी फौजी मारे गये थे। अपने अकेले सकुशल बच जाने को उन्होंने यह ईश्वरीय सन्देश माना था कि अब तुम अपना शेष जीवन सामाजिक कार्यों को समर्पित करो। अण्णा जी ने अपने गाँव को सफाई, शिक्षा, स्वास्थ्य तथा जीवन के लिए आवश्यक कई संसाधनों की उपलज़्धता की दृष्टि से आत्मनिर्ज़र बनाया है। उनका गाँव एक आदर्श गाँव है। अन्याय, अत्याचार के विरुद्ध उन्होंने समय-समय पर अहिंसा को हथियार बनाकर लड़ाइयाँ जीती हैं। वह मन्दिर में रहते हैं। उनका न कोई घर है न उनके पास कोई बैंक बैंलेंस। वह सच में दूसरे गाँधी हैं।

एक वज़्ता ने ज्रष्टाचार को प्लेग की ज़तरनाक बीमारी जैसा बताया और जन लोकपाल बिल को इस बीमारी का एक पुरअसर इलाज।

एक वज़्ता ने ज्रष्टाचार को देश के अर्थतन्त्र को ज़ोज़ला करने वाला घुन का समरूप बताया और जन लोकपाल बिल को घुन को जड़ से नष्ट करने वाला डी.टी.टी. पाउडर। एक वज़्ता ने कहा कि अण्णा हजारे के सिर्फ 97 घंटे के आमरण अनशन से सरकार इतना घबरा गयी कि उसे बिल की ड्राज़्टिंग कमेटी के गठन के लिए रात में अध्यादेश जारी करना पड़ा।

मुसलमान वकील ने अदालतों में पैर पसार रहे ज्रष्टचार का नूमना पेश किया। कहा कि पहले चपरासी और पेशकार रिश्वत लेते थे अब इनसाफ की कुर्सी पर बैठने वाले मुंसिफ और जजों को ज़ी यह चाहिए। जिले में अगर 20 न्यायालय हैं तो इनमें 19 के हाकिम एज ए रूल बेईमान हैं और जो एक ईमानदार है वह एज एन एज़्सेपशन। हालात यह हैं कि लेडीज हाकिम ज़ी रिश्वत लेती हैं। न्यायालय में आज सत्य नहीं जीतता है, जो जीतता है वही इनसाफ के तराजू को असत्य की तरफ पैसों का बटज़रा झुकाता है।

वज़्ता अपनी बात के बीच या अन्त में अण्णा हजारे को दूसरा गाँधी

कहने में चूक नहीं करते थे। मुसलमान वकील ने अण्णा जी को गाँधी का अवतार कहा था। जब यों एक और गाँधी का जिक्र होता था तब कामरेड के चहरे पर तनाव व ज़ीज झलक आता था। उदयभान यादव ने यही तनाव व ज़ीज जंतरमंतर पर ज़ी अपने इस साथी के चेहरे पर पाया था। कुछ ही फासले पर ज़ड़े एक आदमी को 'अण्णा हजारे आँधी है देश का दूसरा गाँधी है' का नारा बार-बार लगाता पाकर कामरेड ने उससे कहा था कि वह उस नारे को छोड़े और उनके बताए ज्यादा दमदार नारे को लगाए—'इस बिना पाँव सरकार को एक धज़्का और दो, अण्णा हम तुज़्हारे साथ हैं।' कामरेड के तीन-चार बार वह नारा लगाने पर उदयभान ने 'इंकलाब जिन्दाबाद' के नारे की ज़ी घुसपैठ कर दी थी। सिर पर चावल की कम जैसे झक सफेद बाल वाले व्यज़्ति ने उनको टोका, ''कृपया अहिंसा के वातावरण में हिंसा का घालमेल न करिए।'' एक चैनेल वाला इस व्यज़्ति का इन्टरव्यू लेने लगा कि वह कहाँ से आया है और ज़्या वह ज़ी आमरण अनशन करने का इरादा रज़ता है। एक अन्य चैनेल वाला उन दोनों की ज़ी ओर बढ़ा था, किन्तु कई चैनेल वालों को मंच की तरफ जाता देज़कर वह ज़ी उधर मुड़ गया था।

बंसल ने त्रिज़ुवन नाथ मिज़ल को अपने विचार प्रस्तुत करने के लिए आहूत किया। मिज़ल ने कहा कि ज्र्ष्टाचार को समाप्त करने की दिशा में अण्णा जी का जन लोकपाल बिल एक सही उठा हुआ कदम है। वह इस कदम के साथ हैं। ज्र्ष्टाचार की तरह विदेशों में जमा काला धन ज़ी एक उतना ही बड़ा मुद्दा है। सरकार पर इस काले धन की वापसी के लिए, जो अरबों-ज़रबों में है, दबाव बनाने की मंशा से बाबा रामदेव पूरे ज़ारत में घूम-घूम कर अलज़ जगा रहे हैं। अण्णा के आदमियों ने जो उमाज़ारती या अन्य पार्टियों के नेताओं को मंच पर आने से रोका, वह सही नहीं था। अण्णा को बिल बनाने वाली ड्राज़्टिंग कमेटी में अपनी ओर से नामित सदस्यों में बाबा रामदेव को न शामिल करना ज़ी वह सही नहीं मानता है। वह ज़ी एक बड़ी गलती है।

अपनी बारी आने पर उदयभान यादव ने कहा कि जन लोकपाल बिल की जरूरत को वह ज़ी स्वीकारते हैं। हाँ, अण्णा हजारे के बहाने गाँधी जी का इस तरह बारबार नाम लिया जाना कि जैसे वह कोई नये देवता हों, या हर रोग की रामबाण औषधि, लोगों की इस प्रवृज़ि को वह नहीं स्वीकारते हैं। गाँधी जी से विचारों, सोच व सामाजिक और राजनीतिक समझ में डॉ. राम मनोहर लोहिया कहीं अधिक आगे थे। देश के बँटवारे से दो पाकिस्तान बनने पर लोहिया जी ने ज़विष्यवाणी की थी कि इनमें से एक पाकिस्तान दूसरे से अलग हो जाएगा। यह ज़विष्यवाणी पूर्वी पाकिस्तान के बांग्लादेश बन जाने पर सही साबित हुई थी। ऐसी थी लोहिया जी की दूरदर्शिता।

कामरेड ने कहा कि जब विषय उन्होंने प्रस्तावित किया था, तब उन्हें उज़्मीद थी कि इस पर कुछ अन्य कोणों से ज़ी, मतलब है कि जुले ढंग से, विचार होगा। विचार हुआ जिस ढंग से उसने विषय के साथ न्याय नहीं किया है। यह कोल्हू के बैल का बस एक छोटे से दायरे में चज़्कर लगाने जैसा रहा। देश को जन लोकपाल बिल की जरूरत है, इससे वह इनकार नहीं करते हैं। लेकिन उनको शक है कि सरकार उसे वह प्रज़ावी, लज़्बी मजबूत बाँहों वाला रूप देगी, जिसे सिविल सोसाइटी, जिसके अण्णा हजारे चेयरमैन हैं, देज़ना चाहती है। सरकार हमारी बात माने इसके लिए सरकार को मजबूर करने में हिंसा की ज़ी मदद लेना जरूरी होता है। देश की आजादी के लिए सारा श्रेय गाँधी या उनके अहिंसक सत्याग्रह को देना सरासर गलत है। आजादी हमको बहुत कुछ ज़गतसिंह, राजगुरु, शचीन्द्र नाथ सान्याल, चन्द्रशेज़र आजाद, अशफाक उल्ला, बिस्मिल की उस क्रान्तिकारिता से मिली जिसमें इन और दूसरे हजारों नौजवानों ने या तो ब्रिटिश हुकूमत की गोलियाँ सीने पर ज़ार्यी या फाँसी के तज़्ते पर झूमते हुए चढ़े। इन शहीदों की शहादत से उत्प्रेरित होकर जब 1946 में नौसेना बागवत में उठ ज़ड़ी हुई तब ब्रिटिश हुकूमत के पैर उज़ड़ गये और उसने यहाँ से अपना बोरिया-बिस्तर समेटने में ही अपनी सलामती समझी। देश को आजादी दिलाने में गाँधी का योगदान, ईमानदारी की बात यह है, महज 25 प्रतिशत था।

शेष 75 प्रतिशत क्रान्तिकारियों का था। गाँधी को अपने सत्याग्रह या आमरण अनशन पर अगर इतना यकीन था तो वह इसके बल पर ज़गतसिंह को फाँसी की सजा से बचा लेते। या तो उन्होंने बचाना सही नहीं समझा या बचा नहीं पाए।

शारदा शरण ने अध्यक्ष पद से बोलते हुए सबसे पहले यह स्वीकार किया कि आज देश ऊपर से नीचे तक ज्र्ष्टाचार में डूबा हुआ है। चाहे काँग्रेस पार्टी हो या अन्य पार्टियाँ मसलन ज़ाजपा, बसपा, समाजवादी, यहाँ तक कि कज़्यूनिस्ट, सबके नेता सैकड़ों छोटे बड़े घोटालों में लिप्त हैं। कोई ज़ी दूध का धुला हुआ नहीं है। यही कारण है कि पुराना लोकपाल बिल चालीस वर्ष से ऊपर से सरकारें बदलती रहने के बावजूद संसद में पड़ा सड़ रहा है। कोई ज़ी नेता आ साँड मुझे मार वाली मूर्ज़ता करना नहीं चाहता है। किन्तु लोकतन्त्र में जनाकांक्षाओं की अनदेज़ी लज़्बे समय तक नहीं की जा सकती है। सूचना का अधिकार सज़्बन्धी अति महज़्वपूर्ण कानून ज़ी लज़्बी जद्दोजहद के बाद ही बन पाया। अण्णा हजारे ने जन लोकपाल बिल के मुद्दे पर सरकार को जता दिया है कि देश की जनता की ज़्या इच्छा है और सरकार ज़ी जनता की इस इच्छा को अच्छी तरह जान गयी है। इच्छा नहीं, इच्छा के उबाल को। इसलिए सरकार अब इसको कानून की शज़्ल देने में अधिक देरी नहीं करेगी। यह उसकी मजबूरी बन गयी है।

वह फिर पूर्व वज़्ताओं के विचारों में सज़्मिलित आक्षेपों, आपज़ियों, मीनमेज़ों पर आ गये, अपने विचारों की स्वीकार्यता के लिए वैसा जरूरी मानकर। कहीं अन्दर जाग गया यह ज़ाव ज़ी था कि इसमें उनकी अपनी ज़ी स्वीकार्यता है। कहा, ''ज़ाई मिज़ल जी को शिकायत है कि अण्णा जी की सिविल सोसाइटी वालों ने मंच पर उमा ज़ारती जी या दूसरे राजनेताओं को नहीं आने दिया। ऐसा इस आशंका से किया गया कि कहीं नेता या उनकी पार्टी मंच का दुरुपयोग न कर ले या आन्दोलन हाइजैक का शिकार न हो जाय। राजनेता इस तरह के मौकों का लाज़ उठाने की ताक में रहते हैं। ऐसे ज़ेलों के वे ऊँचे दर्जे के ज़िलाड़ी हैं। सिविल सोसाइटी के कर्ताधर्ताओं में किरण बेदी और स्वामी अग्निवेश ज़ी प्रमुज़ थे। उनमें से किसी ने बाबा रामदेव की ज़ाँति प्रत्यक्षत: या परोक्षत: कमेटी में शामिल होने की इच्छा नहीं जताई। कमेटी में संविधान के विशेषज्ञ या उसमें गहरी पैठ रज़ने वाले ही रज़े गये हैं। वास्तविकता यह है कि बाबा रामदेव प्रचार के मरभुज़्ज़े हैं। मरभुज़्ज़े मैंने इसलिए कहा है कि टी.वी पर तो किसी-न-किसी चैनेल

पर उनकी मौजूदगी प्रायः हर दिन रहती ही है, हर छोटे-बड़े शहर, कस्बे के चौराहों, रास्तों पर उनकी तस्वीर लटकी होती है, सिने सितारों की तरह। हिन्दू जनता की कमजोरी ज़गवा झंडा और ज़गवा बाना है। इस कमजोरी का फायदा उठा-उठा कर बाबा रामदेव ने पहले तो देश में ही नहीं विदेशों तक में सज़्पज़ि का अच्छा-ज़ासा बड़ा साम्राज्य स्थापित कर लिया और अब देश की राजनीति में प्रमुज़ स्थान पर पहुँचकर सज़ा की धुरी बनने का सपना देज़ रहे हैं। और जहाँ तक डॉ. राम मनोहर लोहिया के कद-बुत की बात है, निश्चय ही लोहिया जी एक बहुत पढ़े-लिज़े और प्रज़र चेता नेता थे। हमारे उदयभान जी उनको गाँधी जी से बड़ा मानते हैं जबकि लोहिया जी ज़ुद अपने को गाँधी जी का शिष्य मानते थे। चन्द असहमतियों के बावजूद वह उनके लिए ज़ारतीय राजनीति के दीप-स्तज़्ज़ थे। वह उनको श्रद्धा की ज़ावना से देज़ते थे। मैं उदयभान जी के साथ-साथ यहाँ उपस्थिति और सज़ी बन्धुओं का ध्यान इस तथ्य की ओर लाना चाहता हूँ कि लोहिया जी की डाज़्टरेट वाली थीसिस का विषय गाँधी जी का आजमाया हुआ नमक आन्दोलन था—साल्ट एंड सत्याग्रह।''

शारदा शरण रुके। रुकना, आ रही हँसी को चेहरे पर जगह देना था। बोले, ''स्थिति यह है आज कि बहुत से दूधिया दूध में पानी नहीं, पानी में दूध मिलाते हैं। राधेश्याम जी ज़ी लगता है इसी प्रवृज़ि की चपेट में आ गये हैं। राधेश्याम जी ने आजादी दिलाने में क्रान्तिकारियों का योगदान 75 प्रतिशत आँका है और गाँधी जी का मात्र 25 प्रतिशत जबकि है यह प्रतिशत एकदम उलटा। गाँधी जी ज़गत सिंह को फाँसी की सजा से नहीं बचा पाए। वह देश को ज़ी विज़ाजन की सजा से बचा नहीं पाए थे। उनके पास जो इने-गिने विकल्प बचे थे उनमें से ज़ंडित देश की स्वतन्त्रता के विकल्प को चुनना ही उनकी मजबूरी थी। बड़े लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए कुछ अनचाहे समझौते करने ही पड़ते हैं।'' एक छोटा-सा विराम, विराम होकर ज़ी जो विराम नहीं था, ''गाँधी जी के योगदान और उनके महज़्व को सारी दुनिया ने स्वीकारा है। उनकी देश-विदेश में दो सौ से अधिक जीवनियाँ लिज़ी गयी हैं। गाँधी जी के आह्वान पर हजारों की तादाद में स्वतन्त्रता को प्राप्त करने के लिए जो लोग स्कूल, कॉलेज, सरकारी नौकरियाँ छोड़कर असहयोग आन्दोलन में शामिल हुए थे, उनमें से अधिकांश बाद में सज़ा की कुर्सी पाकर ज़्रष्ट हो गये। शहीद क्रान्तिकारियों के अधिकांश सगे सज़्बन्धी अपनों की शहादत की बिना पर सज़ा के निकट जाकर उसी तरह सुविधा प्राप्ति के याचक बन गये। हमको ज़गतसिंह, राजगुरू, चन्द्रशेज़र आजाद, अशफाक उल्ला आदि का मूल्यांकन इस दृष्टि से ज़ी करना चाहिए कि उन्होंने ट्वेंटी-ट्वेंटी की फटाफट क्रिकेट ज़ेली थी जबकि गाँधी, तिलक, नेहरू, पटेल आदि ने टेस्ट मैच की लज़्बी परियों वाली क्रिकेट ज़ेली थी और उनमें से कई क्रीज पर अन्त तक डटे रहे थे, नाट आउट।''

इसके बाद वह कुछ विस्तार से गाँधी जी की अहिंसा की आज के समय में ज़ी प्रासंगिकता और उसकी सफल ज़ूमिका की स्वीकृति को बताते हुए कहा कि अज़ी चन्द माह पहले ही ट्यूनेशिया से इजिप्ट तक हिंसा की बजाय अहिंसा में बदल पर अलोकतान्त्रिक हुकूमत ज़त्म की गयी है और यह कि ज़गतसिंह, बिस्मिल आदि ने ज़ी परोक्षतः अहिंसा का रास्ता सही माना था और यह कि माज़्र्सवादियों के मज़्का मदीना रूस और चीन में ज़ी अहिंसा की सुगबुग शुरू हो चुकी है, बोले, ''मैंने रवीन्द्रनाथ ठाकुर का गोरा उपन्यास बहुत पहले पढ़ा था। अब उसको प्राप्त कर दुबारा पढ़ा है।''

''आप विषय से ज़टक गये हैं। यह साहित्यिक संगोष्ठी नहीं है। देश की समस्या से जुड़ा यहाँ एक गज़्ज़ीर राजनीतिक मुद्दा विचारार्थ है।'' कामरेड ने अपनी कुर्सी पर बैठे-बैठे टोका। इस टोकने में उदयभान ज़ी शामिल हो गया।

''शारदा शरण जी की सुनिए। उपन्यास की चर्चा वह गोष्ठी के विषय के सन्दर्ज़ में ही कर रहे होंगे।'' मंच के नियामक बंसल ने हस्तक्षेप किया।

''गोरा उपन्यास रवीन्द्र नाथ ठाकुर का बहुत सुलझे हुए विचारों वाला एक अति महज़्वपूर्ण उपन्यास है। गोरा, जिसका पूरा नाम गौर माहेर था, उसमें स्वयं का ब्राह्मण कुल का होने के नाते ब्राह्मण गौरव और प्रज़ुत्व सज़्पन्न जाति का ठसक ज़रा अहँकार था। उसका मानना था कि हिन्दू समाज में पूर्वजन्म और पराजन्म की अनन्त कड़ियों की अनिवार्यता की सही स्वीकार्यता है। वह पूर्वजन्म में ब्राह्मण के घर जन्मा था, वर्तमान में ज़ी जन्मा है और आगे ज़ी जन्मेगा। इसी सोच के अधीन उसके अन्दर घोर हिन्दुत्व के साथ-साथ घोर राष्ट्रवाद ज़ी था। इसी कट्टरवादिता ने उससे अपने से ज़िन्न सोच वाले मित्रों का ही नहीं अपनी प्रेयसी का ज़ी तिरस्कार कराया। उसका समस्त जाति गौरव तब एकदम धराशायी हो जाता है जब उसे इस सच्चाई का पता चलता है कि सन 1857 के प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम में उसके आयरिश माता-पिता मारे गये थे और एक सुहृदया ब्राह्मणी ने उसे अपनाकर ब्राह्मणोचित संस्कार दिए थे। तब उसकी जन्म के आधार पर अर्जित कट्टरवादिता चूर-चूर हो जाती है और उसका होता है एक नया रूपान्तरण। वह मानवतावादी आदर्शों का हिमायती बन जाता है और एकत्व तथा हर जाति व धर्म व सज़्प्रदाय के प्रति सद्ज़ावना बन जाता है उसके जीवन का मूलमन्त्र। जैसे लोहिया जी ने पूर्वी पाकिस्तान के एक स्वतन्त्र राष्ट्र के जन्म के सज़्बन्ध में सच्ची ज़विष्यवाणी कर दी थी वैसे ही गोरा में गाँधी जी वाले असहयोग आन्दोलन के जन्म लेने की सच्ची ज़विष्यवाणी की गयी है।''

शारदा शरण ने ज़्या कुछ और कहा जाय, इसके बारे में सोचा। उस अल्पविराम की सोच में जो पाया उसने उनके चेहरे पर हँसी फिर छिटका दी, ''राधेश्याम जी, मैं आपको सलाह दूँगा कि आप दास कैपिटल व लेनिन, माओत्से तुंग के विचारों की पुस्तकों के साथ गोरा को ज़ी अपनी बुकशेल्फ में जगह दें। बौद्ध साहित्य और गीता रामायण के ज़ी पृष्ठ पलट डालिए। मिज़ल जी आप बौद्ध साहित्य के साथ माज़्र्स और लोहिया को पढ़िए। कुरान को ज़ी और गोरा को ज़ी। उदयभान जी, आप ज़ी लोहिया साहित्य के साथ इन सबको ज़ी पढ़कर पचाइए। फुरसत मिले तो कबीर, नानक और सूफी सन्तों की वाणी की धारा में निमज्जन कर निर्मल होइए। निर्मल से मेरा मतलब है अन्दर और बाहर दोनों से पाक व साफ। इस सबके बाद आप लोगों के मुज़ से ज़ी गाँधी जी का यह ज़जन फूटने लगेगा—ईश्वर अल्लाह तेरे नाम, सबको सज़्मति दे ज़गवान। और इसमें निहित यह सन्देश ज़ी सुनाई देने लगेगा—सबारे ऊपर मानुष सत, तहारे ऊपर नाहि।''

जय हिन्द के साथ जब उन्होंने अपनी बात समाप्त की, देर तक

तालियाँ बजीं। कई ज़ागीदार कामरेड, उदयभान यादव, त्रिज़ुवन नाथ मिज़ल की ओर देज़ते हुए हँसने, मुस्कराने ज़ी लगे थे।

अनुराग ने वापसी में शारदा शरण से कहा कि आज उनकी वाणी के तरकश में नुकीले तीर थे जो बीच-बीच में सही निशाना साध लेते थे।

चौदह

पिछले कई माह से स्थानीय साप्ताहिक 'रणज़ेरी' में शारदा शरण पर छिटपुट छींटाकशी, फज़्तियाँ, व्यंग्योज़्तियाँ, या कहा जाय कि उनकी टाँगज़िंचाई, हो रही थी। इधर ये तेज हो गयी थीं। छींटाकशी ने छीछालेदर की शज़्ल ले ली थी और टाँगज़िंचाई ने पटज़नी की। 'रणज़ेरी' साप्ताहिक अठपेजी था, सेमी-टेज़्लाइड आकार का। इसके सज़्पादक कामरेड राधेश्याम और उदयभान यादव थे। प्रकाशक ज़ी। इस साप्ताहिक में सुर्ज़ियों में रही दो-एक पुरानी राष्ट्रीय तथा दस-पाँच निरी स्थानीय ज़बरें होती थीं। दो तिहाई स्थान न्यायालयों में लज़्बित मुकदमों में पक्षकारों को जारी सज़्मन और नोटिस तथा नगरपालिका, स्थानीय विज़ागों, सहकारी समितियों आदि में होने वाले कार्यों के निष्पादन हेतु माँगे गये टैंडर सज़्बन्धी विज्ञापन घेरते थे। व्यावसायिक प्रतिष्ठानों के ज़ी दो-चार विज्ञापन आसन जमा लेते थे। ये विज्ञापन आय का उदार स्रोत थे। इनको जुटाने के लिए यहाँ-वहाँ जाते थे उदयभान यादव, लेकिन इस जुटाने को सुगम व सहज बनाता था कामरेड का दबदबा या उनका उपद्रवी आतंक।

छह साल पहले जब यह साप्ताहिक निकला था, इसके प्रवेशांक में सांसद, विधायक, जिलाधीश, पुलिस अधीक्षक की शुज़कामनाओं के साथ उनके ज़ी ये सुशज़्द प्रकाशित हुए थे ''विश्वास है कि यह पत्र अपने पाठकों को जरूरी ज़बरों से तो अवगत कराएगा ही, उनको सही समझ व दृष्टि देने में ज़ी अपनी महती ज़ूमिका का निर्वहन करेगा। कुशल सज़्पादन में यह इस जनपद का ही नहीं प्रदेश का ज़ी प्रथम पंज़्ति का पत्र बने, ऐसी हार्दिक कामना है।''

कामरेड व उदयभान ने मुस्कराते हुए कहा था कि शुज़कामना का एक और ज़ी रूप है, आर्थिक। वह ज़ी जरूरी होता है। वह एक हजार रुपये देकर पत्र की आजीवन सदस्यता ग्रहण कर लें। वह दो सौ रुपये देकर वार्षिक सदस्य बन गये थे। एक वर्ष बाद दुबारा रुपये देकर सदस्यता का नवीकरण करा लिया था। तीसरे वर्ष उन्हें कहना पड़ा था कि अब सदस्य बनना उनपर ज़ार होगा। उनकी आर्थिक स्थिति सुदामा जी के तंदुल जैसी है।

'रणज़ेरी' के अंक इसके बाद ज़ी उनको प्राप्त होते रहे। कज़ी उदयभान दे जाते, कज़ी कामरेड ही, कज़ी पत्र से जुड़ा आदमी। एक बार उदयभान के अंक देते हुए उनसे रचनात्मक सहयोग की माँग की। उन्होंने कहा कि वह लघु-कथाएँ लिज़ते नहीं हैं। उनके साप्ताहिक की वैसी आवश्यकता की पूर्ति पंचतंत्र या जातक कथाओं से हो जाएगी या दूसरी जगह प्रकाशित रचनाओं के साज़ार ले लेने से। पत्रिका अज़ी साम्रगी की दृष्टि से...।

''लचर है।'' वह उपयुज़्त किन्तु बिना नोक वाले शज़्द की तलाश कर रहे थे कि उदयभान ने इसे पेश कर दिया। पेश कर हँसा। दाँतों पर जमे तज़्बाकू के छींटे हँसी में उतर आये।

पत्र का मिलना अनियमित हो गया। इस अनियमितता के साथ उसका समय-असमय दरवाजे की फाँक से अन्दर सरका देना जुड़ गया। एक अंक में उन्होंने पत्र में आजीवन सदस्यों की सूची में त्रिज़ुवन नाथ मिज़ल का नाम ज़ी छपा पाया।

वे अंक उनको अवश्य प्राप्त करा दिए जाते थे जिनमें उनके बारे में लिज़ा होता था, प्रशंसा में नहीं अप्रशंसा में। उनकी पुस्तकों या रचनाओं की समीक्षा या प्रतिक्रिया में पिछले चन्द सालों में अदब के उन मुल्लाओं ने, फतवा देना जो अपनी एक जरूरी जिज़्मेदारी समझते हैं, जहाँ कहीं ज़ी जो-जो लिज़ा था, उनमें से वैसे अंश, उज़्तियाँ ज़ोज-ज़ोजकर उनमें उद्‌धृत किए जाते थे—

शारदा शरण की रचनात्मकता की बाती कँपकँपा रही है। प्रकाश से कहीं अधिक अब यह पुराना लैज़्प धुआँ देता है।

गाय दूध देना बन्द कर लेने के बाद सिर्फ गोबर और मूत्र देती है। शारदा शरण इस गोबर और मूत्र को ज़ी अपना महज़्वपूर्ण योगदान मान रहे हैं। शारदा शरण ज़ाषा में शज़्दों का अपव्यय सरकारी विज़ाग में होने वाले धन की ज़ाँति कर रहे हैं या सड़क पर ज़्यूनिस्पिलटी की टूटी टोंटी से बहते पानी की तरह।

शारदा शरण ने स्वयं कहा है कि एक लेज़न ऊर्जाजनित होता है और एक अज़्यास जनित। अज़्यास जनित लेज़न पचास वर्षों से बढ़ईगिरी कर रहे कारीगर का ज़ाट, स्टूल, तिपाई, लड्डू जैसे अदद बनाने वाले किस्म का होता है। शारदा शरण को अपने इस कहे हुए को अपनी स्मृति में ज़ूँटे की तरह ठोंक लेना चाहिए।

शारदा शरण ने अपने को नया बनाने की कोशिश में जो तीन-चार कहानियाँ स्त्री या दलित को केन्द्र में रज़कर आज के सन्दर्ज़ में लिज़ी हैं, वे ढीलेढाले झोला टाइप पहनावे का अहसास जगाती हैं। शारदा शरण को अपने उसी पुराने, परज़्परागत पैराहन से सन्तोष करना चाहिए।

साप्ताहिक के साथ कामरेड के दिज़ जाने पर उन्होंने पूछा था, 'राधेश्याम जी, आपके पत्र में त्रिकालेश्वर नाम से कौन लिज़ता है? छ्‌दम नाम मुझे लगता है।''

''सज़्पादक का यह नैतिक कर्ज़व्य है कि उसकी टीम का यदि कोई लेज़क अपने को ओट में रज़ना चाहता है तो वह उसे ओट में बनाए रहे।'' कामरेड का उज़र था।

''आपकी टीम के इस लेज़क ने मेरे बारे में दूसरों की प्रतिक्रियाओं को बदनीयती से तोड़-मरोड़कर पेश किया है। बदमिलावटी ज़ी अपनी ओर से की है।''

''जो सही कहा गया है आप उसे लिज़कर मुझे दे दीजिए। मैं उसे 'रणज़ेरी' में सहर्ष प्रकाशित करूँगा।''

'काना कुज़ा' शारदा शरण का स्वर बाहर नहीं अन्दर फूटा था, ''मुझसे सही कहा हुआ लेकर प्रकाशित करेगा। यों मुझे ही मेरे विरुद्ध इस्तेमाल करने की जुगत कर रहा है। काना कुज़ा।''

और फिर साप्ताहिक में नये स्तज़्ज़ ने जन्म ले लिया, 'रणवीर का

तूणीर।' इस तूणीर के दो-एक तीर सीधे उनपर सधे होते थे। ये तीर होते ज़ी थे तेजाब से बुझे हुए।

शारदा शरण की वास्तविक जन्म-तिथि 1 मई, 1932 थी, 1 मई अर्थात् मजदूर दिवस। एक पुस्तक के कवर पर जीवन-परिचय में वह गलती से 1 अप्रैल मुद्रित हो गयी थी। तूणीर में था : अपनी जन्म-तिथि 1 अप्रैल होने के कारण बाबू शारदा शरण ही महामूर्ज़ सज़्मेलन के सभापति होने के हकदार हैं, कोई अन्य मूर्ज़ नहीं। यह हक बाबू शारदा शरण को परमपिता ईश्वर की देन है।

एक अन्य तूणीर में था : यह बासी हो जाने पर पाटी जैसा गन्धाता है। कज़ी लाला किस्म के उम्रदराज लोग लाँग उठाकर अपने पेंदे में अँगुली डालकर अँगुली का माल सूँघा करते थे। महासुज़ पाते थे। बाबू शारदा शरण अपने गँधाते यश को सूँघ-सूँघ कर अब कुछ ऐसा ही सुज़ प्राप्त करते हैं।

एक अन्य तूणीर में था : पेन का एक और ज़ी सदुपयोग है। उससे आप कान ज़ुजला सकते हैं या कच्छा, पाजामा में नाड़ा डाल सकते हैं। बाबू शारदा शरण पेन के इन वैकल्पिक सदुपयोगों से अवगत न हों तो कृपया अब हो जाएँ। देर आयद दुरुस्त आयद।

नजर पड़ जाने पर शारदा शरण ने उदयभान यादव से पूछा, आपके त्रिकालेश्वर की तरह रणवीर ज़ी छद्म नाम है। कौन हैं यह बन्धु?''

उदयभान का ज़ी कामरेड वाला उज़र था, ''सहयोगी लेज़क की पहचान छिपाना सज़्पादक का नैतिक धर्म होता है।''

''यादव जी, शज़्द ज़ी हत्या करते हैं।''

उदयभान ने कहे गये को अनसुना जताते हुए हाथ जोड़ दिए, ''प्रणाम। 'रणज़ेरी' परिवार पर कृपया अपनी वरद छाया बनाए रज़िएगा।''

तूणीर से तीर बाहर आया : बाबू शारदा शरण ने टीसते दाँत के परिचित को उपचार बताया, ''आप रवीन्द्र नाथ ठाकुर के उपन्यास गोरा का पारायण करिए।''

अगले अंक में ऐसा एक और तीर बाहर आया : ज़ाँसी, नजला, बुज़ार, उदर विकास अब हर रोग के लिए बाबू शारदा शरण गोरा को रामबाण औषधि बताते हैं।

शारदा शरण जुनजुनाए, ''मेरे नाम से बाबू जोड़कर ये हरामजादे कथाकार, उपन्यासकार वाले उपसर्ग पर पाटा चला रहे हैं। बता रहे हैं, शारदा शरण जिला विद्यालय निरीक्षक कार्यालय में बाबू थे। बाबू आजीवन बाबू की रहता है।''

पन्द्रह

समय का कैलेंडर अपनी निश्चित गति से बढ़ रहा था। समय जब अपना नहीं रहता, तब वह दूसरे का हो जाता है। शारदा शरण को लग रहा था कि समय के मंच पर अब कामरेड, उदयभान यादव व त्रिज़ुवन नाथ मिज़ल का प्रवेश हो गया है बतौर प्रधान पात्रों के और उनकी जगह अब ग्रीनरूम में है। ग्रीनरूम बाहर जाने का रास्ता दिज़ाता है। इससे कोई चुपचाप गदरन डाले बाहर निकल सकता है।

शारदा शरण बाजार के लिए निकले थे। घर के बारह त्रिज़ुवन नाथ मिज़ल 'रणज़ेरी' लिए ज़ड़ा था। उनके सामने से गुजरने पर अश्लील मुस्कान मुस्कराया। फिर दूसरे दरवाजे पर ज़ड़े व्यज़्ति से कहा, ''कामता ज़ाई, आपके पुराने कज़्ज की दवा लो दिमाग में आ गयी। रवीन्द्र नाथ ठाकुर का उपन्यास गोरा मँगाकर शौच जाने से पूर्व पाँच बार हाथ में लीजिए। एक बार में निबट जाइएगा।''

शारदा शरण 'रणज़ेरी' के अंक पढ़ने के बाद फाड़ देने लगे थे। फाड़ देने के बाद ज़ी वे उन्हें मस्तिष्क से पूरी तरह फड़ते नहीं थे। उनसे सज़्बन्धित टुकड़ा वहाँ चिपका रहता था।

वह नहाकर निकले थे। धुले हुए कपड़े ज़ी पहन लिए थे। नाश्ता करना था। तज़ी बासी यश की गंध को गू-गंध के समान बताने व उसको सूँघने के लिज़े हुए की याद आ गयी। गुसलज़ाने में घुसकर दुबारा स्नान किया, साबुन से मल-मलकर।

मिज़ल की गोरा की कज़्ज के इलाज के रूप में उड़ाई गयी ज़िल्ली की याद उस दिन आ जाने पर उन्होंने बाहर आसन वाली मेज पर जड़े छोटे से रैक से उपन्यास को निकालकर अन्दर की रैक में रज़ दिया था। किन्तु घंटा ज़र बाद ही उसे वापस बाहर वाले रैक में सँजो दिया था। कुबुद्धि ज़ोपड़ी वाले अच्छे, महज़्वपूर्ण का ज़ी मजाक उड़ाते हैं। सूरज पर थूकना उनकी शान होती है। उनकी यह ज़सलत ही उनकी पहचान है। मजाक से डिगना नहीं चाहिए। कुज़े ज़ौंकते रहते हैं और हाथी बढ़ता रहा है। लेकिन अगले घंटे में उन्होंने उपन्यास को फिर हटाया और फिर यथास्थान जमाया था।

अनुराग उनके लिए नींद की गोलियाँ लाया था।

उन्होंने अनुराग को बताया था कि रात में ज़ाट पर लेटने के वज़्त उन्हें कामरेड की छत पर से कामरेड, उदयभान व कमल के फूलवाले मिज़ल की आवाज सुनाई देती है। वे अपना नाम ले लेकर कहते हैं, ''शारदा बाबू मैं आ रहा हूँ—मैं आ रहा हूँ।''

अनुराग बोला था, ''यह आपका ज़्रम है। आप उन तीनों को अपना द्वेषी मानते हैं। द्वेषी वे हैं ज़ी। इसलिए आपको उनकी उस तरह की आवाज सुनाई देती है।''

''ज़्रम नहीं, सच्चाई है। आवाज आने पर मैं सो नहीं पाता हूँ। नींद उचटी रहती है।''

अनुराग ने कहा कि वह ज़ाट पर जाने से पहले एक गोली ले लिया करें। गाढ़ी नींद आ जाएगी। आवाज फिर सुनाई नहीं देगी। यह ज़ी कहा कि गाँव में उसके चचेरे ज़ाई को दुश्मनों ने हत्या के एक मामले में फँसा दिया है। पैरवी के लिए उसे दौड़ा-धूपी करनी है। हज़्ता-दस दिन लग सकते हैं। सहूलियत से होने पर वह दो-चार दिन उनके पास रात में रुक जाएगा।

''नहीं, वैसी कोई जरूरत नहीं। अकेला मुद्दत से रह रहा हूँ।''

उन्होंने नींद की गोली नहीं ज़ाई। ज़ाने पर फिर इसकी लत पड़ जाएगी। नींद की ज़ातिर गोली का यह गुलाम बनना होगा।

एक रात उनको लगा कि वे तीनों उनकी अपनी छत पर हैं और वहाँ से अपना-अपना नाम लेकर उनका मज़ौल उड़ा रहे हैं। उन्होंने आँगन में पूरी रोशनी कर उनको ललकारा। वे ज़ामोश हो गये।

एक रात उनको सुनाई दिया, ''पापा, आई एम हीयर, मज़्मी आई एम हीयर। कम सून... वेरी सून।'' उनको लगा कि यह चर्च वाली लड़की की आवाज है। उन्होंने पूछा जोर से, ''बेबी, तुमको किस आदमी ने झाड़ियों के पीछे छिपाया? कौन है वह? उसका नाम बताओ। नाम बताओ।''

गुम हो गयी आवाज कुछ देर बाद फिर वैसी ही बेचैन शज़्दावली में उज़री थी। उन्होंने फिर उससे सुरक्षादाता का नाम पूछा था, ''बेबी बता दो, प्लीज बता दो।''

एक शाम उन्होंने ज़ोपाल वाले छोटे बेटे को फोन मिलाया। बेटे ने ही हलो किया। उन्होंने कहा, ''निकष, तुम अपने सारे कागजात में अपने पिता शारदा शरण का नाम हटा दो। मैं तुज़्हारा पिता नहीं हूँ।''

उनके की दबा देने के बाद फोन की रिंगटोन बजी। उन्होंने रिंगटोन का गला घोंट दिया।

उन्होंने शहर वाले बड़े बेटे को फोन लगाया। कहा, ''साकेत, मैं शारदा शरण तुज़्हारा पिता नहीं हूँ। अपने सारे कागजात में शारदा शरण का नाम काट दो। यह मेरा फैसला है।''

उधर से आयी काल का ज़ी उन्होंने गला घोंट दिया।

एक तीसरे पहर उन्होंने पेन उठाकर अपने कान का मैल निकालना चाहा। पेन का पिछला सिरा कर्ण-गुहा के बाहर ही रह गया। उन्होंने कच्छे में से नाड़ा ज़ींचकर निकाला। नाड़ा पेन में फँसा कर उसे दुबारा डालने की कोशिश की। पेन से नाड़ा छूट-छूट जाता।

उन्होंने पेन को पटक दिया। फर्श पर पड़े पेन को कुछ देर तक देज़ते रहे। फिर उसे उठाकर माथे से लगा लिया। मेज पर रज़कर उसके हाथ जोड़े। रोने लगे, ''माँ, मुझे क्षमा करना... माँ, क्षमा करना।''

शारदा शरण ने दशहरा के आसपास घर में रंग-रोगन कराया था। बाहरी दीवार उन्होंने सफेद आयली डिस्टेज़्पर से कराई थी। उनको हल्के, नरम रंग पसन्द थे, विशेषकर धवल सफेद। वह सफेद रंग का ही कुर्ता पाजामा पहनते थे। सर्दियों में सदरी और शाल ज़ी इसी रंग के होते थे। वह शाम को बाहरी दरवाजे पर आये तो उनको दीवार के पास के हिस्से में गीला धज़्बा नजर आया। उन्होंने बगल के घर वाले से, जो नीचे गली में था, पूछा कि ज़्या उसने वहाँ किसी आदमी को पेशाब करते देज़ा है?

''कुज़े ने पेशाब किया होगा।''

''कुज़ा इतनी ऊँचाई तक पेशाब नहीं करता है।''

''टाँग उठाके मूतता है तो दो-ढाई फुट की ऊँचाई तर कर ही देता है।''

वह नीचे उतर आये। गीले धज़्बे तीन थे। बगल का घरवाला आदमी आगे बढ़ गया था। वहीं बना होता तो अन्य धज़्बों का समाधान यों करता—एक ही कुज़ा पास-पास में थोड़ा-थोड़ा कर मूतता है। यह कुज़ा जात की ज़सलत है।

वह रात में दस बजे बाहर आये। उन्हें दीवान के निकट कुछ छायाएँ नजर आयीं। वह तेज आवाज में चिल्लाए, ''स्सालों, मुझे देज़कर ज़ागने लगे। एक-एक की टाँग तोड़ दूँगा। पेशाब कर मेरी दीवार का सत्यानाश कर रहे हो।''

बगल का घर वाला सोया नहीं था। बाहर आकर माजरा जानने के लिए उनकी ओर ताका।

''कुज़ा नहीं, आदमी पेशाब कर रहे थे। मुझे देज़कर कमीने ज़ाग गये।''

सुबह मुरारे वह बाहर निकल आये। छायाओं को देज़कर फिर वैसा ही चिल्लाए।

अगली रात वह फिर वैसा ही चिल्लाए। इस बार थीं स्साले, कमीने से कहीं ज्यादा बुरी गालियाँ—बुरी से ज़ी बेशी, घिनौनी।

बगल वाला आदमी उस रात ज़ी बारह आ गया था, ''कौन थे वे?''

''टार्च थी सो पहचान लिया। कमल वाला मिज़ल था, लाल टोपी वाला यादव था और अपना वाला राधेश्याम।''

''राधेश्याम तो मर गया।''

''वह राधेश्याम नहीं, दूसरा राधेश्याम, कामरेड वाला। इन कूकर पुत्रों की अपनी दीवारें गन्दी हैं। इनके हिए में हूक उठी, आग सुलगी कि कथाकार शारदा शरण की दीवार ज़्यों उजली है।''

बगल वाला मुस्कराया, ''मेरे पोते के स्कूल का साथी लड़का पोते से पूछता है, तेरी शर्ट मेरे से उजली ज़्यों है?''

गली के ही दो शज़्स कहीं से लौट रहे थे। वहाँ रुककर बगल वाले से उस बेला उनकी मौजूदगी का कारण जानना चाहा। बगल वाले ने फुसफुसाते स्वर में बता दिया। दूसरे शज़्स से अपने माथे पर अँगुली ठकठका कर उस बताए गये की पुष्टि चाही। बगल वाले ने अपने माथे पर वैसी ठकठक कर पुष्टि कर दी।

शारदा शरण वापस सोने के लिए लेटे तो मान लिया कि वह कुछ लिज़ न सकेंगे। ये तीनों कमीने अब एक और कारण बन गये हैं। यह कारण पहले वाले कारणों से अधिक बड़ा है, वजनी। 'रणज़ेरी' के किसी अगले अंक में 'रणवीर का तूणीर' में होगा, ''बाबू शारदा शरण की अगली रचना पागलों पर होगी। पागलों का अनुज़व जुटाने के लिए वह स्वयं पागल हो गये हैं। अनुज़व की प्रामाणिकता इसी को कहते हैं।''

उन्हें याद आया कि नोबेल पुरस्कार प्राप्तकर्ता उपन्यासकार हेंमिग्वे को जब स्पष्ट हो गया कि उनकी लेज़न क्षमता समाप्त हो गयी है, अब वह और लिज़ नहीं सकेंगे, उन्होंने गोली मार ली थी। उनके पास पिस्तौल नहीं है, बन्दूक ज़ी नहीं। तब मस्तिष्क में कौंधा। काम करने वाली बाई ने राशन का गेहूँ धीरे-धीरे कर एक बोरा इकट्ठा किया था। गेहूँ को घुन से बचाने के लिए उसने उनसे सल्फास की गोली ला देने को कहा था। बताया था कि सल्फास की गोली दूकानदार उसको देने में बीस पच्चड़ लगाएगा जबकि उनको आसानी से दे देगा। दो गोलियाँ रज़ी हुई थीं। वे ज़ा लीं। अन्दर जलन महसूस होने पर दो गिलास पानी पी लिया। जलन असह्य हो जाने पर अनुराग की लाई वे सज़ी गोलियाँ ज़ी निगल लीं।

शारदा शरण समय अब तुज़्हारा नहीं है—तुज़्हारा नहीं है।

छत पर से आवाजें कान के पास आती लगीं। चर्च वाली बेबी की पापा, मज़्मी के लिए 'आई एम हीयर कम सून' की आवाज ज़ी। ज़ान बहादुर ज़ाँ के हाथी के साथ चल रहे हाथी पर बैठे लार्ड की आवाज ज़ी। नाम साफ नहीं बता रहा है। बाहर दीवार के पास से छायाओं की पदचाप की आवाज ज़ी अब कान के पास आ रही है।

फिर सब शान्त। सब शान्त।

136/2, बज़्सरियाँ,
शाहजहाँपुर-242001 (उ.प्र.)


मनोहरश्याम जोशी

मनोहरश्याम जोशी की रचना-दृष्टि

अजय तिवारी

(गत अंक से आगे) यौन-व्यवहार का दूसरा पक्ष और गर्हित है। भावशून्य, पाशविक। नोबोकोव ने 'लोलिता' में दिखाया था कि दुर्घटना में लोलिता की माँ की मृत्यु हो जाने पर उसके जो मित्र शोक करने आये थे, वे घर में लाश के रहते हुए अपने कमरे में सेज़्स करने लगते हैं। अमरीकी समाज की यह 'संस्कृति' उदारीकरण की आर्थिक नीतियों के साथ-साथ भारत में भी आ पहुँची है। 'हमज़ाद' में नैना के पिता देवप्रकाश अरोड़ा तेज़ी से मृत्यु की ओर बढ़ रहे हैं। मृत्यु के इस वातावरण में तिलक उनकी इकलौती बेटी मैना के साथ शरीर-सज़्पर्क बढ़ाता है, ''चिता के ख़्याल से उपजे वैराग का तो पलंग तोड़ने में ही है।... यह तो मैं अब समझ सका हूँ कि मातमी माहौल में ज़ी अगर सेज़्स ज़ोर मारता है तो महज़ इसलिए कि इंसान एक जानवर है।'' (उप., पृ. 91-92) इस तरह, पतित होती हुई सामाजिक व्यवस्था मनुष्य को वापस पशु के स्तर पर ले जाती है।

हरिया जिस गूमालिंग के बारे में सुनकर हैरान हुआ था, वह आस्ट्रेलिया का एक स्थान था लेकिन हिमालय के लामाओं ने उसे एक देवता बना दिया। उस देवता का नाम लेना वर्जित था। रायसैप के पास जो खजाना था, वह गूमालिंग से चुराया गया था। हरिया इस झाँसे में आ जाता है और खजाना वापस करना चाहता है। हेमन्त, हेमुली बोज्यू, पिरूली कैंजा साब उसकी मदद को तैयार हैं लेकिन सफलता मिलती है पिरूली कैंजा को। वे हरिया को साथ लेकर जाती हैं लेकिन लौटती अकेले हैं। बताती हैं कि पुजारी छछांग हरिया को गूमालिंग के पास ले गया, जहाँ आईने में अपने को देखते-देखते वह आईने के पार चला गया। इस तरह, ''उसने अपने बाबू के प्रेत को मुक्ति दिला दी है, आप भी मोक्ष पा गया है और अपने परिवार में जो भी बचे हुए होंगे, उनका भी उद्धार कर गया है।'' (हरिया., पृ.107-8)

पिरूली कैंजा की इस कथा पर अलग-अलग कोण से, अलग-अलग तथ्यों के आधार पर पक्ष और विपक्ष के नये-नये पाठ तैयार होते रहते हैं। यह किसी भी समुदाय का सजीव यथार्थ है, ''ज़्योंकि हैरानी के बिना कहानी नहीं होती है और कहानी के बिना बिरादरी नहीं होती है।'' (पृ.127) मरने के बाद हरिया ही लोगों की हैरानी और चर्चा का विषय बन गया। पाठों की इस रणनीति का उपयोग जोशीजी ने बेहद दिलचस्प और अर्थपूर्ण तरीके से किया है। एक प्रसंग देखें। डॉ. नीलाज़्बर और डॉ. कौमुदी त्रिपाठी दोनों वामपन्थी हैं। लेकिन नीलाज़्बर 'विज्ञान-सज़्मत' हैं और कौमुदी 'राजनीति सज़्मत'। (पृ.117) संयोग देखिए, नीलाज़्बर अप्रासंगिक होते जाते हैं और कौमुदी प्रभुत्वशाली। जिस पाठ का विकास कौमुदी त्रिपाठी करती हैं, उसमें पिरूली कैंजा शोषित हैं, गूमालिंग, ''आदिम साज़्यवाद पर चलने वाले एक ऐसे कबीले का अराध्य है, जो सज़ाविरोधी है, प्रवृज़ि संरक्षक है और आधा प्रकृति के रूप में स्त्री को आराध्य समझता है। हैरानी की बात यह थी कि कहानी का यह संस्करण मुरलीधर ज्यू जैसे पुरातनपन्थियों और कौमुदी जैसे नववामपन्थियों को समान रूप से स्वीकार्य हुआ।'' (पृ.118-19)

पुरातनपन्थियों और नववामपन्थियों की आपसी सहमति नये संसार का विलक्षण सत्य है जिसका संकेत मनोहर श्याम जोशी ने एक काल्पनिक कथा के 'पाठों' के माध्यम से बड़े सटीक तरीके से किया है। ऊपर से देखने पर महज कौतुक प्रतीत होने वाला वर्णन सामाजिक-आर्थिक जीवन के गज़्भीर निहितार्थों को व्यज़्त करता है। 'हमज़ाद' के कथानक में राजनीतिक प्रसंगों की ज़्यादा सज़्भावना थी ज़्योंकि वह द्वितीय महायुद्ध से लेकर सोवियत संघ के विघटन तक फैला है। लेकिन जोशीजी इस वर्णन में बहकते नहीं। प्रसंगवश अनेक संकेत-सूत्रों के माध्यम से अपना दृष्टिकोण व्यज़्त कर देते हैं। तिलक के पिता साला मुल्कराज ''कालिज में काँग्रेसी बन गये थे तो कॉलिज से निकलकर इन्ज़लाबी सोशलिस्ट बन गये। (हमज़ाद, पृ. 26) वे आर्यसमाजी परिवार से आये थे इसलिए नैतिकता को जीवन में व्यापक महज़्व देते थे। उन्हें 'स्टालिन के हिटलर से समझौता कर लेने से' गहरा धज़्का लगता है। (पृ. 27)

'ज़्याप' का फलक अधिक विस्तृत है। उसका कथानक भी अधिक जटिल है। इतिहास और समाज की पृष्ठभूमि, प्रेम और क्रान्ति का घटना-विन्यास, उसी के अनुरूप फ्रायड और मार्क्स के सपनों से निर्मित मनोजगत, यह सब एक जटिल कथानक का स्वरूप प्रस्तुत करता है।

युद्धकाल में राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में ज़बर्दस्त हलचलें थीं। स्वाधीनता आन्दोलन में वामपन्थी प्रभाव एक तरफ़ और सोवियत संघ की भूमिका के प्रति राष्ट्रवादी प्रतिक्रिया दूसरी तरफ़, ज़्या यह अन्तर्विरोध लाला मुल्कराज के साथ-साथ ख़ुद मनोहरश्याम जोशी का नहीं है? 'ज़्याप' में भारत का कज़्युनिस्ट साहित्य 'सफ़ाई देने और माँगने वाले और बाल की खाल निकालने वाले शास्त्रार्थ' की भाषा में प्रकाशित होता है इसलिए हमेशा हर हाल में सही होने की मुद्रा अज़्तियार करता है, ''जैसे यह कि हमने पहले साम्राज्यवादियों की हिटलर से लड़ाई का समर्थन किया और फिर उसी का विरोध किया और फिर समर्थन किया तो तीनों ही स्थितियों में हम ही ज़्यों सही थे?'' (ज़्याप, पृ. 54)

बेशक, यह गज़्भीर प्रश्न है और जोशीजी के लिए विशेष रूप से। वरना बार-बार न उठता। लेकिन जोशीजी के दृष्टिकोण में एक अन्तर्विरोध निहित है। वे राष्ट्रीय आन्दोलन में कज़्युनिस्टों की भूमिका स्वीकार करते हैं लेकिन अन्तरराष्ट्रीयतावाद का मज़ाक उड़ाते प्रतीत होते हैं। अगर 1982 में महँगाई का खेल अन्तरराष्ट्रीय है, (नेताजी कहिन, पृ. 22) अगर अँग्रेज शासक अपने अन्तरराष्ट्रीय साम्राज्य के लिए 1842 में अफ़गान-युद्ध में भारतीय सैनिकों का इस्तेमाल करते हैं, (ज़्याप, पृ. 19) तो 1942 में या 2001 में वैश्विक पूँजीवाद के विरोधियों का अन्तरराष्ट्रीयतावाद उपहास का विषय ज़्यों हैं?

अपने आग्रहों के कारण जोशीजी कथानक को ज़्यादा विकृत नहीं करते ज़्योंकि उनकी वर्णन-शैली में ही व्यंग्य-विडज़्बना-उपहास का स्वर निहित रहता है। बहरहाल, मैना के पिता देवप्रकाश अरोड़ा 'कज़्युनिस्ट' हैं और सरस्वती के पिता प्रो. गोकुलनाथ मखीजा 'कज़्युनिस्टों के ख़िलाफ़' हैं। (पृ. 82,84) टोपन और तिलक उन दोनों के सज़्पर्क में हैं और दोनों की बेटियों को फँसाते हैं। प्रो. मखीजा साहित्य-प्रेमी हैं और अपनी गोष्ठियों में प्रगतिशीलों-वामपन्थियों को बुलाते हैं। यह सारा वृज़ान्त आज़ादी से पहले का है। इससे यह प्रचार झूठा सिद्ध होता है कि राष्ट्रवादियों में कज़्युनिस्ट शामिल नहीं थे या सांस्कृतिक जीवन में उनकी उल्लेखनीय भूमिका नहीं थी।

'ज़्याप' में तो दक्षिणपन्थियों से अलग राष्ट्रीय आन्दोलन में गाँधीवादियों और मार्क्सवादियों में और भी कम फासला है। (ज़्याप, पृ.37) कभी-कभी लगता है कि मनोहरश्याम जोशी का दृष्टिकोण गाँधीवादियों की भी अपेक्षा पुराने वामपन्थियों के ज़्यादा क़रीब है। सन्' 42 के बीच कज़्युनिस्टों की आलोचना का दूसरा बड़ा मुद्दा आज़ादी को झूठी या अधूरी बताना है। जोशीजी के अनुसार, ''क़त्लेआम और आगज़नी'' के साथ आने वाली ''आज़ादी की शज़्ल गुलामी से भी बदतर होती देख मेरा दिल छलनी हुआ जा रहा था।'' (हमज़ाद, पृ. 95) इस अनुभूति के मुकाबले 'यह आज़ादी झूठी है' का नारा कुछ हल्का ही ठहरता है।

नवउदारवाद के साथ सामाजिक रूढ़िवाद और अन्धविश्वास में अभूतपूर्व वृद्धि हुई है। नवउदारवाद के दोनों परिणाम, आकस्मिक समृद्धि और भावी अनिश्चितता, मनुष्य के भीतर तर्कहीन प्रवृज़ियों को हवा देते हैं। कर्ज़निर्भर बाज़ारवाद के दिनों में एक ही समय पर समाज के अलग-अलग तबकों में समृद्धि और अनिश्चय का बँटवारा और स्थायी मन्दी के चलते समृद्ध तबकों में लगातार अनिश्चय की स्थितियाँ दोनों ही बातें भविष्य का डर पैदा करती हैं, जिसका मानसिक प्रतिबिज़्ब भाग्यवाद-निराशावाद है। अकारण नहीं है कि 'हमज़ाद' की कथावस्तु वृद्ध पूँजीवाद के द्वार तक आनी है और लेखक यहाँ अन्धविश्वास पर बार-बार प्रहार करता है। इस आलोचना का सारांश यह है कि ''काश, दरिन्दों और परिन्दों की तरह हम लोग भी अपने मामूलीपन में ख़ुश रह सकते होते! तब न हमारे भगवान हमें लड़ा पाते, न हमारे शैतान।'' (हमज़ाद, पृ. 111)

विडज़्बना यह है कि विकास की नयी चाल 'मामूलीपन' को अपमानसूचक बना देती है और सर्वसज़्पन्न 'भगवान' और सर्वहारा 'शैतान' वाला फ़र्क भी बढ़ा देती है। दोनों बातें हमारा मानवीय स्वरूप मिटाती हैं, चमत्कार-अन्धविश्वास दृढ़ करती हैं। जोशीजी जिस यथार्थ का चित्रण करते हैं, उसे औचित्य नहीं प्रदान करते। यथार्थ अगर गर्हित है तो उसे गर्हित तरीके से भी चित्रित करने में ये संकोच नहीं करते लेकिन उनका वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण उस यथार्थ के मूल्यांकन का विवेक प्रदर्शित करता है।

'ज़्याप' का फलक अधिक विस्तृत है। उसका कथानक भी अधिक जटिल है। इतिहास और समाज की पृष्ठभूमि, प्रेम और क्रान्ति का घटना-विन्यास, उसी के अनुरूप फ्रायड और मार्क्स के सपनों से निर्मित मनोजगत, यह सब एक जटिल कथानक का स्वरूप प्रस्तुत करता है। कथानक भी जटिलता और फलक की व्यापकता को सज़्प्रेषणीय तरीके से चित्रित करने में जोशीजी ने दो पद्धतियाँ आजमायी हैं। पहली, यथार्थ और प्रतीक का संयोग; दूसरी, व्यज़्ति-सज़्बन्ध की कसौटी पर सामाजिक आचरण की परीक्षा। भाषिक-युज़्तियाँ अलग हैं।

'ज़्याप' का रंगमंच 'फस्कियाधार' नाम का गाँव है। फसक माने गप्प। विदेशी गुलामी हो या स्वदेशी शासन, फस्कियाधार के लोगों का जीवन कठिन है। इस दुर्वह जीवन को पार लगाने के लिए लोग 'जुगाड़' से काम लेते हैं। जुगाड़ माने तिकड़म। मुस्लिम और ब्रिटिश जाति के प्रति विजयी जाति का तिरस्कार और दज़्भ बड़े चुटीले और हँसोड़ तरीके से व्यंजित कर दिया गया है।

दूसरी तरफ़, ब्रिटिश भारत और समकालीन भारत की स्थितियों को आमने-सामने रखकर जोशीजी आधुनिक विकास की विडज़्बनाओं की

पड़ताल करते हैं। स्वभावत: 'ज़्याप' में इतिहास का परिप्रेक्ष्य अन्तर्निहित है। ब्रिटिश भारत में कुमाऊँनी अंचल की समाज-संरचना में तीन जातियाँ थीं— बामन, खसिया, डूम। लोक में और विदेशियों में प्रचलित इनका नाम था— हामण, हसिया, हूम। डूम अछूत थे, बाकियों का दाना-पानी नहीं छू सकते थे। खसिया पिछड़ी जाति के थे, सवर्णों का पानी छू सकते थे, खाना नहीं। वामन सवर्ण थे, अपने समाज में सर्वोपरि लेकिन विदेशियों की नज़र में अछूत! इस तरह, देशी-विदेशी और सवर्ण-अवर्ण की दोहरी संरचना के कारण समाज ही नहीं, लोगों का दृष्टिकोण भी प्रभावित हुआ, ''...सदियों से बाहरी विजेताओं का वर्चस्व मेरे बुजुर्गों के बुजुर्गों के मस्तिष्क तक से अपने इतिहास और अपनी भाषा की स्मृतियाँ मिटा चुका है।'' (ज़्याप, पृ. 15)

इतिहास और भाषा— आज़ादी और गुलामी की दो कसौटियाँ हैं। जोशीजी इन्हें समाज की अस्मिता और न्याय की लड़ाई का अंग मानते हैं। शासकों ने भेदभाव प्रताड़ना, अत्याचार के साथ-साथ अँधेर की लूट मचायी। प्राकृतिक और जैविक संसाधनों में अत्यन्त समृद्ध कस्तूरीकोट— कस्तूरीमृग का निवास-स्थान— आज विपन्न और उजाड़ है : ''प्रकृति को पूजने वाले फस्कियाधार-वासियों को हैरीसन ने प्रकृति को दुहना सिखाया। उसने उन्हें कस्तूरी मृग और मुनाल पक्षी को बन्दूक से मारना सिखाया। विलायती सुन्दिरयों के इत्र के लिए कस्तूरी का और हैटों के लिए मुनाल के रंगीन परों का उसने यहाँ से निर्यात करवाया। इससे उसे तगड़ी और गाँववालों को भी थोड़ी-बहुत आमदनी हुई।'' (ज़्याप, पृ. 27) लूट का यह सिलसिला आगे भी ज़ारी रहा।

'ज़्याप' का वाचक 'मैं' डूम जाति का है। उसके पूर्वज मंगितूराम वनस्पतियों के अद्‌भुत जानकार थे। पशु-पक्षी ही नहीं, वनस्पतियाँ भी ख़त्म हो गयीं। देवदार के घने जंगल थे। हैरीसन पेड़ कटवाकर नदी में फेंक देता। आगे मोड़ पर तार लगाकर लकड़ी रोक लेता। उन्हें निकालकर बेत लेता। जैसे-जैसे पेड़-पौधे, पशु-पक्षी ख़त्म हुए, वैसे-वैसे वंचित देशी आबादी की स्थिति दयनीय हुई। 'मैं' के पिता (गाँधीवादी) और चाचा (मार्क्सवादी) स्वाधीनता आन्दोलन में रहे। लेकिन पढ़ाई के लिए लखनऊ जाकर ऊर्बादत्त एमएलए के घर रहने वाले वाचक को कदम-कदम पर डूम होने का अपमान सहना पड़ता था।

'ज़्याप' का वाचक सम्भवत: हिन्दी उपन्यास का पहला कम्युनिस्ट नायक है जो अछूत जाति से आया है। प्रेमचन्द की 'रंगभूमि' का सूरदास अछूत था पर कम्युनिस्ट नहीं था। जिस फस्कियाधार में आधुनिकता और क्रान्तिकारिता दोनों ब्रिटिश माध्यम से आते हैं, वहाँ दलित-कम्युनिस्ट को नायक बनाकर पेश करना देशी आधुनिकता और देशी क्रातिकारिता की खोज भी बन जाती है। भारतीय समाज और कम्युनिस्ट संगठन की विडम्बनाओं के कारण वाचक या उसके कका का हास्यास्पद और अप्रासंगिक होते जाना त्रासदी का बोध करता है जो समाज की दारुण नियति का रूप ले लेता है।

वाचक 'मैं' के चरित्र में मानवीय योग्यता और ऐतिहासिक सम्भावना मौजूद है। उसकी सामाजिक पृष्ठभूमि उसे अपमान सहने का आदी बनाती है और उसकी योग्यता इस अनुभव को समेटकर उसे लोकतान्त्रिक सम्भावनाओं को साकार करने में सक्षम बनाती है। अँग्रेज शासकों की छत्र-छाया में पले-बढ़े नये हुक्मरान विकास के नाम पर लूट का और न्याय के नाम पर जातिवाद का सहारा लेते हैं। उनके सामाजिक आदर्श और व्यक्तिगत आचरण में ज़बर्दस्त खाई है जिसका पता तब चलता है जब अर्बादत्तजी की बेटी से उसके ट्यूटर 'मैं' का प्रेम ज़ाहिर हो जाता है। व्यक्ति-सम्बन्ध का सबसे महत्त्वपूर्ण क्षेत्र प्रेम है। सारे पाखंड इस सम्बन्ध में उजागर हो जाते हैं। ऊर्बादत्त भी ठंडी क्रूरता से काम लेते हैं। जातिवाद की विकृति उपनिवेशवाद की विरासत के रूप में स्वाधीन भारत के सत्ताधारियों में भी चली आयी है।

इस समाज को बदलने के लिए वाचक 'मैं' अन्तिम प्रवास करता है। यह महर्षि मार्क्स आश्रम बनाता है जहाँ सभी जातियों के प्रतिभाशाली युवाओं को शिक्षा-दीक्षा प्रदान करके प्रशासन-तन्त्र से लेकर गुरिल्ला-दल तक सभी मोर्चों पर लगाया जाता है। लेकिन आश्रम के आदर्शवाद और समाज के जातिवाद में दूसरी चीज़ बलवती सिद्ध होती है। 'मैं' के दोनों प्रमुख चेले मेधातिथि और रामध्यानु (जिसे शुरू में हरध्यानु कहा गया है), दोनों क्रमश: पिछड़ा वर्ग की हिन्दूवादी राजनीति और दलित समुदाय की अस्मितावादी राजनीति में पड़कर क्रान्ति का रास्ता भूल जाते हैं। कहा जा सकता है कि समाज की सचाई जाति और धर्म की उत्तेजना से निर्मित हो रही है और वाचक जाति-धर्म से परे क्रान्ति की आस लगाये हुए हैं; परन्तु इससे भी जाति-धर्म का बँटवारा न्यायपूर्ण नहीं हो जाता। मेधातिथि और रामध्यानु की आपसी लड़ाई प्रशासन और माफिया दोनों के अपराधपूर्ण कृत्य की लड़ाई बन जाती है। आख़िर 'मैं' ही उन दोनों को ख़त्म करता है। लेकिन इससे क्रान्ति का सपना बिखर जाता है।

वाचक के लिए समस्या व्यवस्था-जनित है: ''मैं उस व्यवस्था पर तिलमिला उठा जो लोगों को दो गुंडों में से किसी एक का चुनाव करने के लिए मजबूर करती है।'' (ज़्याप, पृ.130) लेकिन व्यवस्था-परिवर्तन की जगह नव-जातिवाद की राजनीति फूलती-फलती है : ''तभी मुझे ख़्याल आया कि क्रान्तिकारी कका और गाँधीवादी बौज्यू के बोये बीजों की फसल अब हमारे यहाँ की सभी जातियों के गुंडे मिलकर काट रहे हैं।'' (उप., पृ. 134) इसीलिए क्रान्तिकारी गुरिल्ला-युद्ध छिड़ने से पहले क्रान्तिकारियों का माफिया-युद्ध छिड़ जाता है।

'मैं' की स्थिति इतनी दयनीय हो जाती है कि उसके कंठ से 'रावण के अट्टहास' और 'गीदड़ के विलाप' के बीच की आवाज़ निकलती है! (पृ. 139) उसके पास न प्रेम का विचार बचता है, न क्रान्ति का। फ्रेम के भीतर से कका की तस्वीर ग़ायब हो जाती है और मंजूषा के भीतर से प्रेम की अकेली निशानी!

पराजय और व्यर्थता का यह बोध मनोहरश्याम जोशी ने आज से दस साल पहले चित्रित किया था। तब तक वैश्विक मन्दी और उन्नत देशों में वामपन्थ की ओर झुकाव परिलक्षित नहीं होता था।

और अगर होता भी तो क्या अन्तरराष्ट्रीयतावाद के प्रति अरुचि रखने वाले मनोहरश्याम जोशी उसे अपनी संवेदना में जगह दे पाते?

क्या उनका राष्ट्रवादी नज़रिया उनकी लोकप्रियता के अलावा उनकी व्यावसायिक सफलता का भी रहस्य नहीं है?

बी-30, श्रीराम अपार्टमेंट्स , 32/4, द्वारका, नयी दिल्ली-110 078
मो.: 09717170693

प्रत्यंचा

सीखना और लिखना

ज्ञान चतुर्वेदी

उन दिनों मेरा बेटा बहुत बीमार रहा। तेज़ बुखार। ज़ाहिर है कि इस कारण मेरा लिखना-पढ़ना भी उन दिनों स्थगित ही रहा। इसी बीच मेरे एक लेखक मित्र मिलने आये। बैठे। सान्त्वना देते रहे। बोले कि यार, इसकी बीमारी के कारण तुज़्हारे लेखन-कार्य में ब्रेक आ गया होगा। कहने लगे कि लिखना कितना 'क्रियेटिव' तथा 'डिमांडिंग' काम होता है, कितनी एकाग्रता तथा मेहनत माँगता है— यह हम लेखकों से बेहतर भला कौन जानता है!

मैं ज़्या जवाब देता? प्रश्न कर भी नहीं रहे थे। वे तो अपनी बात बता रहे थे।

उनके चले जाने के बाद मैं इसी बात पर विचार करता रहा। यदि एक लेखक कभी दुनियावी परेशानियों से गुज़रते हुए लिखने का समय ही नहीं पाये तो ज़्या यह उसके लेखन में व्यवधान कहलायेगा या कुछ और? ज़्या इस तरह का हर अनुभव लेखक को और संवेदनशील नहीं बनाता है?

ऐसा भी नहीं कि नन्हा मुन्ना बेटा हो मेरा। वह तो बड़ा है। चौबीस-पचीस साल का। इतना बड़ा हो जाए तो बाप और बेटे के बीच प्यार और सततयुद्ध की मिली-जुली एक अजीब-सी कहानी चल पड़ती है। अजनबीपन और अपनापन एक साथ चलता है। जवान बेटा तनी हुई प्रत्यंचा तो होता ही है, मुड़ा हुआ धनुष भी होता है और स्वयं धनुर्धारी भी। उसके निशाने पर प्राय: बाप रहता है। कभी माँ भी। और यह दुनिया तो रहती ही है। नित्य नयी चुनौतियाँ, नित्य नयी माँगें। बचपन से अभी तक उसने जीवन को इस तरह कभी देखा-जाना ही नहीं था। इधर बाप का भी क़िस्सा अलग। जीवन ने बाप के सालों तक अपनी गिर्री में घुमाकर इतना रगड़ा और माँजा है कि वह स्वयं को बड़ा अनुभवी मान बैठा है। वह यह भी मानता और जानता है कि बेटे को अभी जीवन की वैसी समझ नहीं। वह अपने अनुभव बेटे को सिखाना चाहता है। वह नहीं मानता कि अनुभव तो बेटे को स्वयं लेने होंगे। बाप बेटे की जबरन ही सहायता करना चाहता है। धूप में बाल सफ़ेद नहीं किये हैं उसने, ऐसा मानता है वह। बेटा मानता है कि बाप को पुराने ज़माने का ज्ञान भर है। नये ज़माने और नयी पीढ़ी के ट्रेंड्स, चुनौतियाँ, बदलाव की ख़बर ही नहीं बाप को। समझ ही नहीं बस, डाँटते हैं। भाषण देते रहते हैं। उपदेश देने का अवसर तलाशते रहते हैं। जवान बेटा बाप से अजनबी होता जाता है। विरुद्ध-सा भी।

पर यह ऊपरी बात है। असलियत नहीं यह। अभी भी कितने पल आते हैं जहाँ दोनों जान जाते हैं कि वे एक-दूसरे से कितना प्यार करते हैं! कहना नहीं पड़ता। पता चलता रहता है। ऐसे पल आते ही रहते हैं दोनों के जीवन में। वे पल जब बाप बीमार हो, बेटा कोई बड़ी भूल कर बैठा हो, जब बाप उसे ग़लत मुद्दे पर एकदम ग़लत डाँट दिया हो और अब पछता रहा हो, उसने तैश में कुछ ग़लत बोल दिया हो बाप को, तब इसी पल पर मिल लेते हैं दोनों और बिना पास आये भी ज़ोर से भींच लिया करते हैं, एक दूसरे को। बेटे को यों बीमार पड़ जाना ज़ी वैसा ही पल है।

अब जब इतने दिनों से बीमार बेटे के पास मैं घंटों बैठा रहा हूँ, मैंने कितना तो नया सीखा है इस जीवन के बारे में! कमरे में अँधेरा रखना पड़ता है। रोशनी उसकी आँखों को बरदाश्त नहीं, परदे खींच कर रखते हैं। आवाज़ एकदम नहीं, सिर दर्द बढ़ जाता है। वह चुपचाप पड़ा रहता है। पूछो तो बस हाँ, हूँ। मैं पास बैठा रहता हूँ। कभी उसका माथा दबा देता हूँ, कमर दबाता हूँ, ठंडे पानी की पट्टियाँ रखता-बदलता रहता हूँ या यों ही सान्त्वना भरी थपथपी देता हूँ कि सब ठीक हो जायेगा। वह निशज़्द है और मैं भी घंटों चुप हूँ। कमरे की हवा निस्तज़्ध है। सन्नाटा है, परन्तु कुछ अद्‌भुत घट रहा है बाप-बेटे के बीच। बाप-बेटे के बीच का रिश्ता गर्माहट पा रहा है इस बुखार से।

मैंने बीमारी के इस वक़्फ़े में बेटे को नये तरह से जाना है। वह वही धनुर्धारी है न जो अपनी प्रत्यंचा चढ़ाये जीवन के रास्तों पर ऐड़ लगाये रोज़ भागता दिखता था? उसे यों अस्त्रविहीन देखना मुझे बेहद ख़राब लग रहा है। वह तो अपने तने हुए धनुष के साथ, उन्हीं तेवरों में ही सजता है। मैं उसके उन नाराज़ तेवरों के लिए तरस गया हूँ। ...यह तो हुई मेरी बात। मुझे पूरा-पूरा लगता है कि मेरे बेटे ने भी इन दिनों में मुझे नये सिरे से समझा है। उसने अपने बाप को उसके प्यार और चिन्ता में यों तरल होकर बहते पहले कभी महसूसा ही नहीं शायद। वह देख रहा है कि यह तो एकदम अलग ही बाप है यार! यही वह बाप है न जो उसे डाँटता रहा है, उसकी आलोचना करता है, उसे बिन माँगी सलाहें देता रहता है; परन्तु इसी बाप का यह रूप कितना अलग दिख रहा है अभी! कुछ नया है इस बाप में जो नया होते हुए भी बेहद, बेहद पुराना है। उसके बचपन जितना पुराना। वही बाप तो है यह जो उसके साथ छुटपन में खेलता था, गोदी उठाये घूमता था। अजब गुड्ड-मड्ड हो रहा है सब! बीमार बेटा अपने बाप को पुनराविष्कृत कर रहा है शायद!

ठीक है, बेटे की बीमारी के दौरान मैं नहीं लिख पाया। मित्र की बातें, मेरी चिन्ताएँ अपनी जगह सच हैं। परन्तु यह भी उतना ही बड़ा सच है कि इस दौरान मैंने जीवन को, सज़्बन्धों को, तन के आवेगों को, संवेदनाओं को बहुत क़रीब से समझा है। लिखना ही एक रचनात्मक अनुभव नहीं है मित्र। जीवन आपको और भी तरह से बड़े रचनात्मक अनुभवों से गुज़ारता है। यह मुसीबत नहीं है कि आप पर कुछ ख़राब गुज़रे। यह मुसीबत नहीं कि मैं किसी ऐसी मुसीबत के कारण कुछ दिन लिख नहीं पाया। नहीं। ये मुसीबतें नहीं हैं। यह तो जीवन हर पल अवसर दे रहा है कि आप जीवन को समझें। जीवन को ठीक से समझूँगा नहीं तो लिखूँगा कैसे?

ए-40, अलकापुरी, भोपाल-462024
फोनः 09425604103